वेद का राष्ट्रिय गीत

वेद का राष्ट्रिय गीत

(वैदिक संस्कृति और राजनीति का एक मनोरम चित्र)

लेखक

वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति

पूर्व आचार्य, कुलपति एवं परिद्रष्टा

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रकाशक

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र

वेद का राष्ट्रिय गीत

संस्करण : १९९४

मूल्य : २००.०० रुपये

आवरण : प्रशान्त

प्रकाशक
श्रीस्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कनखल, हरिद्वार

लेज़र टाइपसेटिंग
भूमिका प्रकाशन के लिए
कला लेज़र प्रिंट, दिल्ली-११००३२

मुद्रक
तायल ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली-११००५३

दो शब्द

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के सुयोग्य शिष्य तथा वेदों के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य, कुलपति तथा परिद्रष्टा पदों पर रहकर उन्होंने दीर्घकाल तक गुरुकुल तथा आर्य समाज की सेवा की है। वेदों का अध्यापन करते हुए आचार्य जी वैदिक ऋषियों तथा महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों के उस मर्म तक पहुँच जाते थे जो साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों को अभिप्रेत था। उनकी लेखन और व्याख्यान शैली इतनी प्रभावक, सुबोध, स्पष्ट तथा तर्कसंगत रही है कि पाठक या श्रोता के हृदय तक सहज ही सम्प्रेषित हो जाती है। जिन्होंने उनके व्याख्यान सुने हैं या उनकी कृतियों का अध्ययन किया है वे मेरे कथन से पूर्ण सहमत होंगे।

वेद का राष्ट्रिय गीत, वरुण की नौका, वेदोद्यान के चुने हुए फूल, वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, समाज का कायाकल्प तथा वेद और उसकी वैज्ञानिकता उनकी बहुचर्चित कृतियाँ हैं। देश के सुप्रसिद्ध विद्वानों—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, डॉ॰ सम्पूर्णानन्द, डॉ॰ मंगलदेव शास्त्री, आचार्य क्षितिमोहन सेन, डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल तथा चतुर्वेद भाष्यकार श्री जयदेव विद्यालंकार ने उनकी इन कृतियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

'वेद का राष्ट्रिय गीत' अनेक दृष्टियों से उपयोगी पुस्तक है। इसके प्रारम्भ में आचार्य जी ने एक विस्तृत अनुशीलनात्मक भूमिका देकर वेद की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है और फिर भूमिसूक्त की व्याख्या देकर वैदिक राजनीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में वैदिक संस्कृति की हृदयहारिणी झाँकी प्रस्तुत की है। मानव संस्कृति का ऐसा उदात्त चित्रण विश्व के साहित्य में अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

मुझे प्रसन्नता है कि 'वेद के राष्ट्रिय गीत' का पुनर्मुद्रण हो रहा है। इस कृति की माँग बराबर बनी हुई थी और अप्राप्त होने के कारण एक खालीपन का अनुभव आर्य जगत् के वेद-प्रेमी महानुभाव कर रहे थे। मेरी इच्छा थी कि इस कृति का पुनः प्रकाशन हो और आज के अराष्ट्रिय तथा अलगाववादी परिवेश में वेदप्रतिपादित राष्ट्रिय तथा सांस्कृतिक आदर्शों का अनुशीलन तथा उन उदात्त मूल्यों का अनुगमन कर देश की पीढ़ी अपने जीवन को समुन्नत बनाए और राष्ट्र के रचनात्मक उत्थान-अभियान में प्रवृत्त हो।

आशा करता हूँ कि इस कृति का वेदानुशीलन करनेवालों द्वारा यथेष्ट स्वागत होगा तथा राष्ट्रसाधना में रत नवयुवकों तथा युवतियों को कुछ करने की प्रेरणा मिलेगी। मैं तो इस सुन्दर सूक्त को मानव-मात्र का राष्ट्रिय गीत या दूसरे शब्दों में कहूँ तो विश्वगीत मानता हूँ।

इन शब्दों के साथ प्रस्तुत कृति सहृदय पाठकों के हाथों में सौंपता हूँ।

—डॉ॰ धर्मपाल आर्य
कुलपति

विषय-सूची

वेदों के राजनीतिक सिद्धान्तों के व्याख्याता आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति : परिचय

भारतीय पुराविद्याओं तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की मूल परम्पराओं की खोज के लिए यदि अनुसन्धाता मूल उत्स ढूँढ़ने निकलेगा तो उसे वेद अपना मूल पुरुष दिखाई देगा। वेद को जब अखिल विद्याओं का मूल कहा जाता है तब यही धारणा कार्य करती है कि वेद विश्व का प्राचीनतम लिखित ज्ञानकोश है तथा भारतीय चिन्तन परम्परा से विच्छिन्न किसी विदेशी ज्ञान का पिछलग्गू नहीं। आधुनिकतम विचारों के सूत्र भी वेद में विद्यमान हैं तथा विश्वतोमुख भगवान वेद आज भी उतने ही सार्थक तथा अनिवार्य हैं जितने वह प्रारम्भ में रहे होंगे। इनमें विविध देवताओं के गुण-कार्यों तथा उनकी स्तुतियों के ब्याज से विभिन्न जीवनोपयोगी विषयों पर प्रकाश पड़ता दिखाई देता है। यह ठीक है कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का सूत्रबद्ध तथा सांगोपांग प्रतिपादन किसी एक स्थल पर नहीं मिलता किन्तु विभिन्न प्रकरणों में बिखरे हुए विशेषणों तथा वर्णनों को यदि किसी क्षेत्र विशेष या ज्ञान विशेष के परिप्रेक्ष्य में एकत्र कर उसका क्रमबद्ध निबन्धन कर लिया जाये तो शास्त्र विशेष की मूल रूप-रेखा प्राप्त हो सकती है, इसमें सन्देह नहीं। आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति की मान्यता है कि इन्द्र, अग्नि, वरुण, सविता, सोम और पूषा आदि अन्य देवताओं के वेद के विभिन्न स्थलों में पाये जाने वाले विशेषणों और वर्णनों के आधार पर इन देवताओं-वाची पदों के भी अनेक अर्थ हो जाते हैं और उनसे वेद में वर्णित अनेक ज्ञान-विज्ञानों पर प्रकाश पड़ता है। वेद के मध्यकालीन भाष्यकारों ने प्रायः वेद के यज्ञपरक अर्थ ही किये हैं किन्तु अध्यात्मपरक अर्थ के बिना उनका भी काम नहीं चला। यजुर्वेद तो प्रायः यज्ञवेद माना ही जाता है किन्तु उसके भी ३२ तथा ४०वें अध्यायों के अर्थ केवल अध्यात्मपरक ही हो सकते हैं। उव्वट और महीधर जैसे याज्ञिकों ने भी 'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः' जैसे मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक ही किये हैं तथा ब्रह्मयज्ञ में जप तथा अध्ययनार्थ इसका प्रयोग विहित माना है। ४०वें अध्याय के प्रारम्भ में ही उव्वट तथा महीधर ने स्पष्ट कर दिया कि यहाँ कर्मकाण्ड समाप्त हो गया है और ज्ञानकाण्ड प्रस्तावित है। इनका कर्म में विनियोग नहीं हो सकता।

समाप्तं कर्मकाण्डमिदानीं ज्ञानकाण्डं प्रस्तूयते—उव्वट

ईशावास्यमित्यादि मन्त्राणां कर्मसु विनियोगो नास्ति—महीधर

तब केवल याज्ञिक विनियोग की शर्त वेद में कैसे स्वीकार की जा सकती है ? निरुक्त के टीकाकार स्कंद माहेश्वर ने स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि वेद-मन्त्रों की

अध्यात्म, अधिदैवत, याज्ञिक तथा अन्य दार्शनिक व्याख्यायें हो सकती हैं। 'सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः' कथन की यही पृष्ठभूमि है। 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' मन्त्र की उन्होंने त्रिविध व्याख्या की है—(१) ऐतिहासिक, (२) नैरुक्त तथा (३) अध्यात्म पक्षीय।

अदितिरित्यनवगतम्। अनेकार्थत्वं च दर्शनभेदेन। कथम् ? ऐतिहासिकानां देवानां माता उच्यते। नैरुक्तानामदीनादिगुणा। अध्यात्मपक्षे प्रकृतिः।

यही नहीं, सायण, उव्वट तथा महीधर भी एक मन्त्र की व्याख्या में एकमत नहीं। किसी मन्त्र का कोई अधिदैवत अर्थ करता है तो कोई अध्यात्मप्रधान अर्थ करता है। उदाहरण के लिए 'इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वगात् पद्वतीभ्यः' का अर्थ सायण ने उषापरक किया है तो उव्वट ने वाक्परक किया है और महीधर उषापरक तथा वाक्परक दोनों ही अर्थ करते हैं। फिर इन भाष्यकारों की यह प्रतिज्ञा कहाँ रही कि इन मन्त्रों का यज्ञ में ही विनियोग हो सकता है। सायण ने भी किसी-किसी मन्त्र के एकाधिक प्रक्रियागत अर्थ किये हैं। देवतापरक, यज्ञपरक तथा अध्यात्मपरक अर्थों के अतिरिक्त अधिभूत अथवा अधिराष्ट्रपरक अर्थ करते हुए उन्होंने परम्परित लीक से हटने का सामर्थ्य दिखाया है। अथर्व के एक मन्त्र 'वज्रं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि' का अर्थ जहाँ वह इन्द्रियपरक तथा ऋत्विक्परक करते हैं वहाँ योद्ध्धृपरक अर्थ करके वह अधिभूतपरक अर्थ करने में सहमति व्यक्त करते हैं फिर यदि महर्षि दयानन्द मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान-विज्ञान के सूत्र वेद-मन्त्रों में खोजते हैं तब उन्हें परम्परावादी टेढ़ी दृष्टि से क्यों देखते हैं ? सायण यदि मन्त्र का अधिराष्ट्रपरक अर्थ करते हैं तब तो ठीक पर यदि स्वामी दयानन्द मन्त्र का अधिराष्ट्रपरक अर्थ करते हैं तब परम्परावादी उन्हें उचित नहीं ठहराते। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के मन्त्र 'त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परिविश्वानि भूषितः' आदि की व्याख्या में स्वामी जी ने राजा और प्रजा के धर्म पर विचार किया था किन्तु परम्परानिष्ठ अर्थ के उद्धारक स्वामी करपात्री जी ने वेदार्थपारिजात (१४३८ पृष्ठ) में आश्वलायन श्रौतसूत्र के 'उदु ब्रह्माणमितष्टे वे तीतरावहरहः शस्ये', का हवाला देते हुए अर्थ किया कि हे इन्द्र और वरुण राजाओ, हमारे इस यज्ञ में यजनीय सोम आदि सामग्रियों से परिपूर्ण तीन सवनों को आप लोग अलंकृत करें। हे इन्द्र क्या तुम यज्ञ में जाने वाले हो। मैंने उस यज्ञ में पवन के समान चंचल गति वाले, सोम के रक्षक स्वानभ्राज प्रभृति गन्धर्वों को जाते देखा है। स्वानभ्राज प्रभृति गन्धर्वों का उल्लेख तैत्तिरिय संहिता में मिलता है। इस तरह से इस मन्त्र में राजधर्म के वर्णन के सपने देखना ठीक नहीं।' परम्परावादी एक ओर मनु की दुहाई देकर वेद को समस्त विद्याओं का मूल मानते हैं पर भाष्य करते हुए व्यवहार में वह इस प्रतिज्ञा का पालन नहीं करते। सायण उनकी दृष्टि में इसलिए प्रमाण है क्योंकि उसने ऋषि प्रणीत अनुक्रमणी के आधार पर व्याख्या की है।[१] स्वामी जी के अर्थ जहाँ निरुक्तकार ऋषि से पुष्ट हैं

१. वेदार्थ पारिजात—पृष्ठ १६७४

वहाँ तर्क ऋषि की कसौटी पर भी खरे उतरे हैं। पाश्चात्य भाष्यकार जब वेद को केवल उपासनाकाण्ड और इतिहास से जोड़कर जनजीवन के लिए निरर्थक सिद्ध कर रहे थे तब स्वामी जी ने जीवनोपयोगी विश्वजनीन दृष्टि से वेदभाष्य कर वेदों की अपरिहार्यता सिद्ध की। आज तो समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, विज्ञान, गणित आदि आधुनिक पद्धति के विचारक भी वेद में अपने अनुरूप सामग्री प्राप्त कर आश्चर्यचकित होने लगे हैं। इस दृष्टि से वेद और व्यावहारिक जीवनोपयोगी ज्ञान-विज्ञान को जोड़ने वाले दयानन्द पहले आचार्य हैं। राष्ट्रयज्ञ के जो सूत्र उन्होंने अपने भाष्य में दिए वे वेंकटमाधव, स्कंद, उव्वट, महीधर तथा सायणाचार्य में नहीं मिलते।

आचार्य प्रियव्रत दयानन्द के बाद पहले भाष्यकार हैं जो एक आधुनिक शास्त्र की वैदिक परिकल्पना के लिए मन्त्रों का राष्ट्रयज्ञपरक अर्थ करते हैं। महर्षि दयानन्द समयाभाव के कारण किसी भी आधुनिक शास्त्र की सम्यक् परिकल्पना और संयोजन वेद के साथ नहीं कर सके थे पर उन्होंने अपने भाष्य में सूत्र अवश्य दे दिये थे। आचार्य प्रियव्रत जी ने सर्वप्रथम सामाजिक तथा राजनीतिक विज्ञान पर वैदिक दृष्टि से ग्रन्थ के निर्माण का संकल्प लिया। १६२५ से लेकर १६८३ तक वेद का निरन्तर अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन-मनन करते हुए उन्होंने जो कुछ अर्जित किया उसके परिणामस्वरूप 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ तीन खण्डों में मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ से १६८३ में मुद्रित हुआ है। महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दीवर्ष में देश के वैदिक विद्वानों के जो कार्य प्रकाशित होकर सामने आये हैं, उनमें यह ग्रन्थ मील का पत्थर सिद्ध होगा। मनु महाराज ने जो घोषणा की थी[1] कि वेद शास्त्र को जानने वाला व्यक्ति सेनापत्य अर्थात् सेनाओं का संघटन और संचालन कर सकता है, दण्डनेतृत्व अर्थात् न्याय व्यवस्था का संचालन कर सकता है और सर्वलोकाधिपत्य अर्थात् सारे भूमण्डल के चक्रवर्ती राज्य का संचालन कर सकता है—को सायण आदि चरितार्थ न कर सके थे, उनके तथा उनके अनुयाइयों के वेदभाष्यों तथा ग्रन्थकारों में इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान की कोई झलक नहीं मिलती। इधर श्री स्वामी गंगेश्वरानन्द जी उदासीन की एक पुस्तक 'विश्वतोमुखभगवान् वेद' प्रकाशित हुई है। इसमें एक निबन्ध 'वेद में विश्व का संविधान' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। लेखक का कहना है कि विश्व एक महान् राज्य है जिसमें भिन्न-भिन्न विभागों के अधिकारी मन्त्रिगण अपने-अपने विभागों को कुशलता से चलाते हैं, जैसे आज के प्रजातन्त्र के शासन में राष्ट्रपति, लोकसभा के अध्यक्ष, प्रधानमन्त्री, अन्य मन्त्रिगण अपने-अपने शिक्षा, रक्षा, स्वास्थ्य, खाद्य, उद्योग आदि विभाग चलाते हैं, विश्वराज्य में वही व्यवस्था चालू है।[2] फिर उन्होंने विश्वराज्य के शासनाधिकारियों की सूची दी है। ऋग्वेद के

---

१ सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।। मनु. १२/१००

२. विश्वतो मुख भगवान् वेद—पृष्ठ २४३

दशम मण्डल के अन्तिम सूक्त के 'संगच्छध्वं', 'समानो मन्त्रः' तथा 'समानी व आकूतिः' शीर्षक तीन मन्त्रों की व्याख्या करते हुए उन्होंने काल्पनिक संविधान की चर्चा की है पर विश्वराज्य की अवधारणा, उसकी व्यावहारिक कल्पना तथा मन्त्री और उनके मन्त्रालयों के समर्थन में उन्होंने एक भी मन्त्र नहीं दिया। अग्नि को शिक्षामन्त्री, बृह्मणस्पति को उप-शिक्षामन्त्री तथा बृहस्पति को शिक्षा सचिव कहना, सविता आदि सोलह आदित्यों को खाद्यमन्त्रालय का सहायक सचिव कहना, वेन को बालक संरक्षण मन्त्री, भग को अर्थमन्त्री, प्रजापति को गुप्तचर मन्त्री कहना तथा अश्व को वाहन संचार मन्त्री कहना कोरी कल्पना ही कहा जायेगा। लेखक ने इस धारणा की पुष्टि में कोई मन्त्र नहीं दिये। फिर आधुनिक राजनीतिशास्त्र तथा संविधान के रूप से भी स्वामी जी परिचित नहीं जान पड़ते। जीवन मन्त्रालय तथा प्रकाश मन्त्रालय का स्वतन्त्र अस्तित्व महत्त्वपूर्ण नहीं फिर वायु को जीवन मन्त्री तथा विद्युत् को प्रकाश मन्त्री कहने का भी कोई संगत आधार नहीं। अतः यह प्रयत्न ठोस आधार के बिना निरर्थक ही जान पड़ता है। विश्व संविधान में अर्थात् ब्रह्म के शासन की व्यवस्था में ही स्वामी जी ने रुचि प्रदर्शित की है। इन देवताओं को ब्रह्मरूपी राष्ट्रपति के आधीन कर्मचारी स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थिति में रुद्र देवता विशेष ही ब्रह्म का सेनापति सिद्ध होता है। किसी भी आदर्श सेनापति में उसके गुण और विशेषताएँ गतार्थ नहीं होतीं। बृह्मणस्पति और बृहस्पति को भिन्न-भिन्न देवता मानने का भी कोई आधार होना चाहिए। वृहत् का रक्षक और पालक होने से बृहस्पति की सार्थकता निरुक्तकार ने मानी है। बृह्मणस्पति भी बृहस्पति का ही वाचक शब्द है। सायण ने **'अन्नस्य परिवृद्धस्य कर्मणो पते वा पालयितः'** कहकर एक ओर अन्न अथवा परिवर्धित कर्म का स्वामी बताया है तो दूसरी ओर **'ब्रह्मणां मन्त्रणा स्वामिनं'** कहकर उसे मन्त्रों का कर्त्ता बृहस्पति कहा है। शतपथ में तो **'अयं वै बृहस्पतिर्योऽयं वायुः पवते'** तथा **'एष (प्राणः) उ एव बृहस्पतिः'** कहकर वायु तथा प्राण को बृहस्पति कहा गया है तब वायु को जीवन मन्त्री और बृहस्पति को शिक्षा सचिव कहना कहाँ तक शास्त्रसम्मत है ? ऋग्वेद के 'स उत्तरस्मादधरं समुद्रमापो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि' (१०/६८/५,६) में बृह्मणस्पति का वृष्टि से भी सम्बन्ध बताया गया है। ऋग्वेद (२/२४/८) में ही आता है कि बृहस्पति अपने धनुष से शत्रु पर बाण छोड़ता है इसके बाण कर्णयोनि हैं। तात्पर्य यह कि ये बाण मन्त्र या वाक्-रूप हैं तथा कान में प्रविष्ट होकर आन्तरिक दोषों का हनन करते हैं। बृहस्पति के धनुष की प्रत्यञ्चा ऋत् है तथा मन्त्रशक्ति उसके बाण हैं। गणपति तथा बृह्मणस्पति को एक मानकर ऐतरेय ब्राह्मण में भी 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे इति ब्राह्मणस्पत्यम् कहकर गणपति, बृह्मणस्पति तथा बृहस्पति को अभिन्न बताया गया है। मैत्रायणी संहिता (२/२/३) में भी आता है कि बृहस्पति गणी है, अर्थात् गण-स्वामी है। 'बृहस्पतिर्गणी सजातैरेनं गणिनं करोति।' पण्डित भगवद्दत्त वेदालंकार ने ऋग्वेद के (४/५१/१२) 'बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये' साक्ष्य पर बृहस्पति का सर्वगणधिपत्य स्वीकार किया है।[1]

---

१. बृहस्पति देवता—पृष्ठ ६१

मैत्रायणी संहिता में '**ब्राह्मणस्पत्यं चरुं निर्वपेत् संग्रामे**' उल्लेख है। यहाँ संग्राम पद से युद्ध-शिक्षा का ग्रहण अभिप्रेत होना चाहिए। फिर संग्राम का अर्थ ग्रामों का समूह भी हो सकता है तब उसका सम्बन्ध राजस्व से होना चाहिए। गंगेश्वरानन्द जी के संवैधानिक ढाँचे में असन्तुलन भी है। शिक्षा- मन्त्रालय के तो मन्त्री, उपमन्त्री तथा सचिव पद दिये गए हैं और सुरक्षा-मन्त्रालय में केवल मन्त्री, उपमन्त्री तथा सेनाध्यक्ष का ही उल्लेख है। सोम को एक ओर ओषधियों का राजा तो दूसरी ओर व्यवस्थापक बताया गया है। अन्न और गो को स्वास्थ्य-मन्त्रालय में रखा गया है जबकि गुण-कार्य से उन्हें खाद्य-मन्त्रालय में स्थान मिलना चाहिए था। कुल मिलाकर यह सारा प्रकरण सुचिन्तित और सुव्यवस्थित नहीं कहा जा सकता।

विदेशी विद्वानों की प्रायः यह धारणा रही है कि राजनीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र का आगमन भारत में बाहर से हुआ। सर्वप्रथम डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने हिन्दू राजतन्त्र लिखकर यह संभावना उजागर की, कि भारतीय राजशास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास लिखा जा सकता है। मनुस्मृति, महाभारत, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दकनीति, शुक्रनीति, नीतिवाक्यामृत (सोमदेवसूरिकृत) तथा राजधर्म निबन्धकारों के राजनीतिकामधेनु, राजधर्मकाण्ड, राजनीतिकाण्ड, राजनीतिरत्नाकार, राजनीतिप्रकाश, नीतिमयूख और राजनीति कौस्तुभ जैसे ग्रन्थों से भारतीय राजनीतिविषयक सिद्धान्तों का पता चलता है। डा० जायसवाल के अतिरिक्त डा० ए० एस० अल्तेकरकृत प्राचीन भारतीय शासनपद्धति, शामशास्त्रीकृत 'सल्यूशन आफ द इण्डियन पालिटी' तथा दीक्षितार रचित 'हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टीट्यूशन्स' भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं के योगदान पर प्रकाश डालने वाले अच्छे ग्रन्थ हैं पर इन सभी लेखकों ने मनु, कौटिल्य तथा परवर्ती राजधर्म निबन्धकारों की मध्यकालीन कृतियों को दृष्टि में रखकर ही राज्य की उत्पत्ति, राजा का स्वरूप, मन्त्रि-परिषद्, राष्ट्र का स्वरूप, कोश, दुर्ग, युद्ध, सैन्य-संगठन, न्याय, सेनापति, जनपद, मण्डल, राजपद के लिए योग्यता, चयन-प्रक्रिया तथा राजधर्म पर विचार किया है। वैदिकयुगीन राजशास्त्र की विशेष परिकल्पना इन निबन्धकारों के मस्तिष्क में थी ही नहीं। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं—(१) एक तो वेदों की ऋचाओं में क्रमबद्धरूप में विषयवार राजतन्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन नहीं मिलता तथा (२) जिन ऋचाओं का परम्परावादी यज्ञ, उपासना तथा दर्शन में विनियोग करते रहे हैं, उनसे राजनीतिशास्त्र के पक्षों का प्रतिपादन करना बड़े से बड़े विचारक के बूते का काम नहीं फिर विषयानुसार ऋचाओं को पृथक् कर राजशास्त्रसम्बन्धी सामग्री का संचय करना और फिर उसके विश्लेषण में प्रवृत्त होकर स्वतन्त्रशास्त्र की प्रतिष्ठा करना साधारण कार्य नहीं है। इसलिए आज तक वैदिक राजनीतिशास्त्र पर किसी विद्वान् द्वारा कोई सांगोपांग ग्रन्थ नहीं लिखा जा सका। प्राचीन भारतीय इतिहास के लेखकों ने भी योरोपीय विद्वानों के आधार पर आर्यों के राजनीतिक संगठन पर विचार किया है। ग्रिफिथ ने सभा और समिति शब्दों का ब्यौरा देते हुए समिति को राष्ट्र की सारी जनता की राजनीतिक संस्था माना है और डा० जायसवाल

ने राजा का चुनाव समिति द्वारा ही माना है। समिति को विश मानना भी उनकी भूल है। वेद में सभा का उल्लेख ३४ स्थानों पर समिति का उल्लेख २१ स्थानों पर हुआ है। सभा और समिति के कार्यों का उल्लेख अथर्ववेद के सातवें काण्ड के बारहवें सूक्त के **'सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने'** शीर्षक चार मन्त्रों में हुआ है। सभा और समिति राज्यकार्य में सहायता देने वाली राजनैतिक सँस्थाएँ हैं, इनका सम्बन्ध चुनाव से नहीं है। सभा का अर्थ ग्रिफिथ ने ग्रामों के लोगों का संगठन या जमाव दिया है। कीथ ने सभा को अधिवेशन का स्थल माना है तथा समिति को 'जन' का कार्य सम्पादित करने वाली संस्था स्वीकार किया है। डा॰ रमाशंकर त्रिपाठी ने सभा को जनवृद्धों की संस्था तथा समिति को समग्र जनता की संस्था कहा है।[1] उत्तरवैदिककाल में डा॰ त्रिपाठी सभा और समिति को मृतप्राय मानते हैं। उनकी संभावना है कि राज्यों के क्रमिक विस्तार से उनकी क्षति हुई होगी तथा उनके अधिवेशन नगण्य हो गये होंगे। डा॰ जायसवाल के समान ही वह सभा को न्यायस्थल तथा समिति को राजा का निर्वाचन करने वाली संस्था मानते हैं तथा अपने पक्ष में अथर्व की **'ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह'** श्रुति उद्धृत करते हैं।[2] तात्पर्य यह है कि इतिहास और राजनीति के आधुनिक विद्वान् वेद के पाश्चात्य चिन्तन को ही अपना आधार बनाकर चले हैं। आचार्य प्रियव्रत ने सर्वप्रथम इस गड्डलिका प्रवाह को नया मोड़ दिया। उन्होंने कहा, समिति एक राजनीतिक सभा है जिसमें राज्य के नियमों और नीति आदि सभी आवश्यक विषयों पर विचार होता है और जिसका राजा पर नियन्त्रण रहता है। राजा के चुनाव से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। राजा का चुनाव तो सारी प्रजा सीधे रूप में करती है। सभा और समिति एक ही नियामक सभा की छोटी-बड़ी दो सभाएँ हैं। ये एक ही नियामक सभा की दो सभाएँ हैं। इसकी इससे भी पुष्टि होती है कि अथर्व ७/१२/३ में सभा और समिति दोनों को सामान्य सभावाची 'संसदः' इस षष्ठी विभक्ति के एकवचनान्त शब्द से भी अभिहित किया है। इसी भाँति **'सुवज्ज्यनपच्युतं सदसो न भूम'** (ऋक् ४/१७/४) व्याख्यात मन्त्र में सम्राट् की सभा के लिए सामान्य सभा वाची 'सदसः' इस षष्ठी विभक्ति के एकवचनान्त शब्द का प्रयोग हुआ है। सभा छोटी सभा (Lower House) और समिति बड़ी सभा (Upper House) समझनी चाहिए।[3] सभा और समिति में सारी प्रजा नहीं, प्रजा के निर्वाचित सदस्य बैठते थे। प्रजा का कोई भी वयस्क व्यक्ति सभा और समिति का सदस्य बन सकता था। अतः डा॰ त्रिपाठी का यह अनुमान कि सभा में वृद्ध जन ही होते थे, संगत नहीं जान पड़ता। सभा और समिति के अतिरिक्त तीसरी सभा का संकेत भी वेद में मिलता है। **'त्रीणि राजाना विदथे सदांसि'** मन्त्र में राष्ट्र यज्ञ को चलाने के निमित्त तीन सभाओं को बनाने का उपदेश है। डा॰ जायसवाल प्रभृति इतिहासकार इसकी चर्चा ही नहीं करते किन्तु आचार्य

१. प्राचीन भारत का इतिहास—पृष्ठ २५
२. वही पृष्ठ ३४
३. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—पृष्ठ २३१

प्रियव्रत इस तीसरी सभा को मन्त्रि-परिषद् या राज्य की कार्यकारिणी सभा मानते हैं। इस मन्त्रि-परिषद् की स्थिति आजकल की कैबिनेट जैसी होगी।[1] डा॰ जायसवाल तथा उनके अनुयाइयों ने **'ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह'** तथा **'नास्मै समितिः कल्पते'** वाक्यों का जो अर्थ राजा के चुनाव सम्बन्ध में दिया है, वह भी ठीक नहीं। प्रियव्रत जी ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि यहाँ सम्राट् के राज्यारोहण का वर्णन है। प्रजाओं ने मिलकर राजा को चुना है, उसके लिए पहाड, पृथिवी और द्यौ की तरह स्थिर (ध्रुव) होकर राज्य करने की आशंसा की गई है। अन्तिम मन्त्र में राजा को सम्बोधित करके कहा है—'ध्रुवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रून् छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व। सर्वादिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह' (अथर्व ६/८८/३) अर्थात् स्थिर (ध्रुव) और न गिरने वाला होकर शत्रुओं का नाश कर, शत्रुता करने वालों को नीचे पहुँचा दे। सब दिशाएँ (दिशाओं मे रहने वाली प्रजाएँ) एक मन वाली और तेरे साथ मिलकर चलने वाली (सध्रीचीः) हों, तुझ स्थिर के लिए (ध्रुवाय) समिति कार्य करने में समर्थ होवे।' 'कल्पताम्' 'क्लृश' सामर्थ्ये धातु के लोट् लकार के प्रथम पुरुष का एकवचन है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि समिति सामर्थ्यवती बने—अपने कार्यो को करने में समर्थ हो सके, और इस प्रकार की समर्थ समिति से तुझे (राजा को) प्रत्येक प्रकार की सहायता मिलती रहे। हमें यह समझ में नहीं आता है कि इस वाक्य का यह अर्थ कैसे निकल सकता है कि समिति राजा को चुने। हाँ, यदि वाक्य इस प्रकार होता है कि 'समितिः त्वां ध्रुवं कल्पयतु' तब तो कदाचित् ऐसी ध्वनि निकल सकती थी कि समिति राजा के चुनाव में ही भाग लेती है पर फिर भी वह ध्वनि ही होती। परन्तु 'ध्रुवाय ते समितिः कल्पयताम्' वाक्य से जायसवाल महोदय का अर्थ कभी नहीं निकल सकता। इसी प्रकार दूसरे वाक्य 'नास्मै समितिः कल्पते' पर विचार करते हुए भी कहा जा सकता है कि इस वाक्य का तो केवल इतना अभिप्राय है कि जो राजा ब्राह्मण की गौ (वाणी की स्वतन्त्रता) को मार देता है उसकी समिति कार्य करने में समर्थ नहीं रहती। इससे समिति का राजा के चुनाव से कोई सम्बन्ध नहीं प्रकट होता। जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसमें राज्यारोहण या राजा के चुनाव का कोई प्रसंग नहीं है, वहाँ तो वाणी की स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले राजा पर आने वाली विपत्तियों को गिनाया गया है। इसलिए जायसवाल महोदय ने यूरोपीय लेखकों के आधार पर समिति और विशः को पर्यायवाची मानने की भूल की है। उनका यह विचार भी भूल है कि समिति का राजा के चुनाव में किसी प्रकार का हाथ है। हाँ, उनका यह कथन सही है कि समिति में राज्य सम्बन्धी बातों पर विचार होता है। समिति एकत्र हुई सारी प्रजा का नाम नहीं है, समिति प्रजा के प्रतिनिधियों की सभा है जिसमें राज्य की बातों पर विचार होता है और जो नीतियों को नियन्त्रित रखती है।[2]

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—पृष्ठ २४५
२. वही खण्ड १—पृष्ठ २३८

तात्पर्य यह है कि आचार्य प्रियव्रत से पूर्व के वैदिक विद्वानों तथा प्राचीन भारतीय इतिहास और राजनीति शास्त्रकारों ने वेद की कतिपय ऋचाओं के आधार पर जो राजनीति की रूपरेखा प्रस्तुत की वह नितान्त अशास्त्रीय और मनगढ़न्त थी। सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० श्यामलाल पाण्डेय ने वैदिक राजशास्त्र की असंभाव्यता पर विचार व्यक्त करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि ऋग्वेद में किसी भी विषय का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसमें प्राप्त राजशास्त्र सम्बन्धी सामग्री पर भी यही नियम लागू होता है। राजशास्त्र विषयक ऋचाएँ, सम्पूर्ण ग्रन्थ में यत्र-तत्र मुक्तक छन्दों के रूप में बिखरी हुई हैं। इन ऋचाओं में भी राजशास्त्र विषय का स्पष्ट वर्णन कहीं भी प्राप्त नहीं है। इन ऋचाओं की राजशास्त्र सम्बन्धी सामग्री में कतिपय सिद्धान्तों की ओर संकेत मात्र किये गए हैं। इन संकेतों के आधार पर प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के स्पष्ट स्वरूप की स्थापना नहीं की जा सकती। अन्य तीन संहिताओं के विषय में भी यही कहना उचित होगा। इन तीन संहिताओं में भी राजशास्त्र विषय का क्रमबद्ध वर्णन न होने के कारण संहिताकालीन प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के स्वरूप की स्थापना करना असम्भव है। भाव यह कि राजशास्त्र विषय का शास्त्रीय अध्ययन एवं उसका चिन्तन वैदिक-युग के समाप्त होने के बहुत पश्चात् हुआ है।[1] यही कारण है कि राजशास्त्र और प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्वान् डॉ० श्यामलाल पाण्डेय भी प्राचीन भारतीय राजशास्त्र की प्रमुख विचारधाराओं—धर्मप्रधान, अर्थप्रधान तथा दण्डप्रधान—का विचार करते हुए एक भी मन्त्र उद्धृत नहीं कर सके। त्रयी वार्ता, दण्ड नीति पर अवलम्बित उक्त विचारधाराओं का कौटिल्य के साक्ष्य पर विवेचन करते हुए उन्होंने प्राक् मौर्यकाल के राजशास्त्र प्रणेताओं के अस्तित्व की सम्भावना तो व्यक्त की पर वैदिक-युग और सूत्रकालीन राजशास्त्र की किसी क्रमबद्ध ठोस सामग्री के अभाव में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकने में असमर्थता भी व्यक्त की। उन्होंने कहा कि यह साधारण कार्य नहीं है। इस कार्य के सम्पादन हेतु अतुल धन, असीमिति समय, अदम्य साहस, महान् धैर्य, अगाध ज्ञान एवं इस प्रकार के अन्य विपुल साधनों की आवश्यकता होगी। इतना महान् कार्य एक व्यक्ति की सामर्थ्य से परे है। इसके लिए इन समस्त साधनों से सुसम्पन्न एक संस्था के निर्माण की परम आवश्यकता है जो इस महान् कार्य के सम्पादन का भार ग्रहण कर सके। जब तक यह महान् कार्य पूरा नहीं हो जाता, तब तक वैदिक-युग के राजशास्त्र-प्रणेताओं का निश्चय करना एवं राजशास्त्र के इतिहास में उनको उचित स्थान देना सम्भव नहीं।[2]

इस विवरण के परिप्रेक्ष्य में सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य प्रियव्रत और उनके ग्रन्थ 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' का क्या महत्त्व है ? एक व्यक्ति ने एक संस्था बनकर बिना किसी सरकारी सहायता के उस अभाव की पूर्ति की है जिसकी ओर डॉ० श्यामलाल पाण्डेय ने १९६४ ई० में हिन्दी समिति, सूचना-विभाग

१. भारतीय राजशास्त्र-प्रणेता—पृष्ठ २
२. वही—पृष्ठ १४

उत्तरप्रदेश से प्रकाशित अपने प्रमुख ग्रन्थ 'भारतीय-राजशास्त्र- प्रणेता' में संकेत दिया था। परम्परावादी वैदिक विचारकों तथा पाश्चात्य इतिहासकारों एवं वैदिक साहित्य का आधुनिक शास्त्र-निर्माण में उपयोग करने वाले अनुसन्धायकों ने जिस कार्य को सर्वथा असम्भव मान लिया था, उसे आचार्य जी ने अद्‌भुत पाण्डित्य के साथ प्रस्तुत किया है। उन्होंने आधुनिक राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का भी गहरा अध्ययन किया है। डॉ॰ जायसवाल, ग्रिफिथ तथा मार्क्स जैसे विचारकों की मान्यताओं के विश्लेषण और खण्डन के प्रसंग में उनके शास्त्रीय चिन्तन-मनन का पता चलता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से उन्होंने 'समाज का कायाकल्प' नामक पुस्तक की रचना की है। इसमें वेद और वर्णाश्रम व्यवस्था, वैदिक समाज एवं अर्थ-व्यवस्था, तथा वैदिक राज-व्यवस्था शीर्षक तीन अध्याय हैं जिसके आधार पर वैदिक समाजशास्त्र का ढाँचा खड़ा किया गया है। आचार्य जी के विवेचन की विशेषता यह है कि वह ऋचाओं और मन्त्रों का व्याकरणपुष्ट, सन्दर्भयुक्त अर्थ करते हैं तथा लाक्षणिक और व्यञ्जक प्रयोगों को स्पष्ट करते हुए प्रसंग प्राप्त संगत अर्थ प्रदान करते हैं। सायण आदि भाष्यकारों से तटस्थ भाव रखते हुए आवश्यकतानुसार सहमति तथा असहमति व्यक्त करते हुए चलते हैं तथा विषय के समग्र प्रतिपादन में सभी संहिताओं से मन्त्रों तथा वाक्यांशों को उद्‌धृत करते हुए चलते हैं। इतिहासवाद का खण्डन करते हुए, अधिदैवतवाद का खण्डन करते हुए उन्होंने गुणवाची यौगिक शब्दों की सत्ता स्वीकार कर शिक्षायुक्त अर्थ किया है। वह मन्त्रों पर किसी प्रकार की कथाओं और कहानियों को जड़ना नापसन्द करते हैं। आचार्य सायण ने वेद-मन्त्रों के क्रियापदों के भूतकालिक प्रयोगों को देखकर वेद-मन्त्रों में अनेक कथाओं तथा इतिहासप्रधान घटनाओं का उल्लेख किया है पर आचार्य जी ने इन कथाओं को कल्पित मानकर मन्त्र विशेष का अर्थ किया है। लौकिक संस्कृत-व्याकरण की अपेक्षा वैदिक-व्याकरण के विशेष नियमों से संगत मन्त्रार्थ की प्राप्ति में सहायता मिलती है। शुद्ध मन्त्रार्थ की कसौटी है कि वह ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव के विरुद्ध न हो, सृष्टिक्रम के विरुद्ध न हो तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विरुद्ध न हो। वेद के मर्माशय तक पहुँचने में इस सावधानी की आवश्यकता है। पण्डित प्रियव्रत जी ने इस प्रसंग में सप्रमाण ऋषि दयानन्द और उनके व्यत्यय सिद्धान्त की व्याख्या की है। वेद के काल पर विचार करते हुए दो प्रमुख सरणियों की समीक्षा की है। पाश्चात्य विद्वान् मैकडानल्ड, कीथ, जैकोबी तथा भारतीय विद्वान् बालकृष्ण दीक्षित, तिलक, अविनाशचन्द्र दास तथा पण्डित दीनानाथ शास्त्री मन्त्रों में आए ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम तथा नक्षत्रों की स्थिति से वेद के काल का निर्णय करते हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों की युक्ति तथा नक्षत्रों की स्थिति की युक्ति की समीक्षा करते हुए आचार्य जी ने दोनों पद्धतियों को सदोष तथा हास्यास्पद बताया है। उनका कहना कि 'वास्तव में वेद की अन्तःसाक्षी से वेद के किसी ऐतिहासिक काल का निश्चय नहीं हो सकता। वेद तो अपने पुरुषसूक्त में और दूसरे स्थानों में इतना ही कहता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् ने ऋषियों को वेद सिखलाया

था। सृष्टि की आयु आर्य जाति के शास्त्रों के अनुसार १, ९६, ०८, ५३, ०८० वर्ष की है। वेद के इस कथन के आधार पर इस कल्प की दृष्टि से वेद का काल भी इतना ही माना जाना चाहिए। यों तो वेद का कोई काल निश्चित नहीं हो सकता क्योंकि वह परमात्मा के ज्ञान में नित्य रहता है। अनादिकाल से भगवान् प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों पर उसका प्रकाश करते आ रहे हैं।' यह मान्यता परम्परावादी है और शतपथ, तैत्तिरीय, मनु, शंकराचार्य, सायण तथा दयानन्द के स्वर में स्वर मिलाने वाली हैं। आधुनिक विचारकों को यहाँ मतभेद हो सकता है किन्तु इस मतभेद से भी वेदों की विश्वसाहित्य में प्राचीनता तथा ज्ञान-क्षमता में तो सन्देह नहीं रहता। मध्यकाल में शंकर जैसे तार्किक ने यदि वेदों को 'अनेक विद्यास्थानोपबृंहित' तथा 'सर्वज्ञकल्प' कहा है तो ऋषि दयानन्द और आचार्य प्रियव्रत इसीलिए वेद-मन्त्रों में आधुनिक शास्त्र का प्रतिपादन कर उसकी सर्वज्ञ कल्पना को प्रतिपादित करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में पण्डित जी ने विनियोगों की परम्परित प्रणाली का भी निषेध किया है। ब्राह्मणग्रन्थों, श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में वर्णित यज्ञों और गोमेध, अजमेध, अश्वमेध, नृमेध जैसे यज्ञों की विधियों में संकेतित देवताओं तथा मन्त्रों का विनियोगकारों ने जो सीमा-क्षेत्र निर्धारित किया है, उसका निषेध इस ग्रन्थ में इसलिए किया गया है कि इनके कारण वेद का विविधि ज्ञान-विज्ञान प्रतिपादक स्वरूप ही विलुप्त हो गया है। विनियोगकारों ने मन्त्रों का जो यज्ञों के विधि-विधानों में विनियोग किया है वह प्रामाणिक नहीं है। विनियोगकारों की अपनी कल्पना के अनुसार वह विनियोग है। अनेक बार मन्त्रों के विनियोग मन्त्रों के अर्थों के साथ मेल नहीं खाते। मन्त्र कुछ और ही बात कह रहा है और विनयोग में उसके विपरीत कार्य किया जा रहा है। उदाहरण के लिए अपने अथर्ववेद भाष्य में सायण ने अथर्व ६/४ सूक्त की भूमिका में लिखा है कि ब्राह्मण बैल को मारकर इस सूक्त के मन्त्रों द्वारा उसके माँस की भिन्न-भिन्न देवताओं के निमित्त आहुतियाँ देता है। मन्त्रों के द्वारा बैल की प्रशंसा करता है और उसके अंगों में कौन-कौन से किस-किस देवता को प्रिय हैं इसका भी विवेचन करता है। सूक्त में बैल की बलि देकर हवन किये जाने के महत्त्व का भी वर्णन किया गया है और इस हवन से जो श्रेय उत्पन्न होता है, उसका भी स्तवन किया गया है—

'ब्राह्मणो वृषभं हत्वा तन्मांसं भिन्न-भिन्न देवताभ्यो जुहोति। तत्र वृषभस्य प्रशंसा तदङ्गानां च कतमानि कतमदेवेभ्यः प्रियाणि भवन्ति तद्विवेचनम् वृषभबलिहवनस्य महत्त्वं च वर्ण्यते 'तदुत्पन्नं श्रेयश्च स्तूयते।'

अथर्व ६/४ सूक्ताभाष्योत्थानिकायां श्रीसायणाचार्यः।

अब यदि सूक्त के मन्त्रों के अर्थों पर बारीकी से विचार किया जाए तो उनमें इस प्रकार की कोई बात नहीं कही गई है। सूक्त के मन्त्रों से तो यह अर्थ निकलता है कि गौओं की नस्ल को उन्नत करने के लिए किसी उत्तम बछड़े को साँड बनने के लिए छोड़ना चाहिए। सूक्त की भूमिका में सायण ने कुछ विनियोगकारों का इस आशय

का मत भी दिया है, बैल को मारकर उसके मांस से देवताओं के निमित्त आहुतियाँ दिलवाने वाला सूक्त के मन्त्रों का विनियोग मन्त्रार्थ के विरुद्ध होने के कारण सर्वथा त्याज्य है। विनियोग के पीछे मन्त्रार्थ नहीं चल सकता। मन्त्रार्थ के पीछे विनियोग को चलना होगा। विनियोग तो विनियोगकारों की कल्पनाएँ हैं। उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।[1]

खेद है, इस स्वस्थ दृष्टि को परम्परावादी आचार्य नास्तिक्यमूलक मानते हैं। उनके तर्क का आश्रय है 'यदि मन्त्र के प्रभाव से पाषाण भी देवप्रतिमा बन जाते हैं तो कल्प प्रवक्ता ऋषियों के बताए विनियोगानुसार मन्त्रों में (अर्थानुसारी न होने पर भी) ग्रह की प्रतिष्ठा क्यों नहीं हो सकेगी ? शन्नो देवी मन्त्र के अर्थ का अनुसरण किये बिना ही शनिग्रह के लिए इसका विनियोग, इसी तर्क का उदाहरण है।'[2] इनकी भी विवशता है। ये मीमांसाशास्त्र के 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' के अनुसार वेदों का पर्यवसान यज्ञ में ही मानते हैं। तब उनसे ज्ञान-विज्ञान का प्रादुर्भाव मानना उनकी दृष्टि में उचित नहीं ठहरता। वे तो कहीं-कहीं विनियोग के अनुसार गौण अर्थ को भी जैमिनी का साक्ष्य बताकर स्वीकार करते हैं। विनियोग की दृढ़ता से ही पिष्टपशु को पाशुक कर्मानुष्ठान में इन्होंने विधेय माना। रामानुज का साक्ष्य देकर 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (ब्रह्मसूत्र ३/१/ २५) की व्याख्या में पशुयाग का समर्थन किया गया। यह अन्तर मूल सिद्धान्त का है। क्योंकि 'अजैर्यष्टव्यम्' अजों से यज्ञ करना चाहिए, यह श्रुति सिद्धान्त है, अतः इसकी पूर्ति व्रीहि से करो। क्योंकि सात वर्ष पुराने व्रीहि को अज कहते हैं, पशु विशेष को नहीं। परम्परावादी इस अर्थ को निवृत्ति मार्ग की प्रशंसा का उल्लेखसूचक मानते है क्योंकि उनकी दृष्टि में इससे अश्वमेधादि का विरोध होगा।[3] महाभारत के अनुशासन पर्व में 'श्रूयते हि पुराकाले नृणां व्रीहिमयः पशुः (११५/५६) के आधार पर व्रीहिमयपशु का होम में उपयोग कहा गया है अतः यज्ञविधि की पूर्ति के लिए विकल्प का प्रावधान संकीर्ण परम्परावादी भी करते हैं। वे ऋषभपाक का अर्थ औषध विशेष का पाक करते हैं। विनियोग की रक्षा के लिए इस प्रकार के कार्यों की साकेतिक व्याख्या ढूंढ़ना व्यर्थ का परिश्रम है। अच्छा हो, मन्त्र का अर्थानुसरण कर विनियोग निश्चित किये जाएँ, केवल ऐसे अवसरों पर जहाँ वैदिक मान्यताओं के धूमिल होने की आशंका हो। क्योंकि इस प्रकार के अर्थ करने से वेद हास्यास्पद और घृणित बातों का कहने वाला बन जाता है। वेद के ईश्वरीय ज्ञान पर ये व्याख्याएँ प्रश्नसूचक चिन्ह लगा देती हैं।

आचार्य प्रियव्रत जी के अर्थ करने की यही दृष्टि है। उनका कहना है कि विनियोग, देवता और अर्थ का निर्णय तर्क से होना चाहिए। किसी सूक्त का परम्पराप्रोक्त देवता ही विशेष है, यह मानने के लिए वाधित नहीं होना चाहिए। पुराने लोग भी यही मानते

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—पृष्ठ २२
२. वेदार्थ पारिजात—पृष्ठ १६८१
३. वही—पृष्ठ २०५१

रहे हैं कि देवता आदि का निर्णय तर्क से होता है। उदाहरण के लिए उव्वट ने अपने यजुर्वेद भाष्य की भूमिका में लखा है—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छन्दसं च यत्।।

अर्थात् मैं अपने गुरु, शतपथ ब्राह्मण और तर्क के आधार पर मन्त्रों के देवता, छन्द और ऋषियों का वर्णन करूँगा। अब यदि देखा जाय तो देवता आदि का निर्णय तर्क से हुआ। क्योंकि उव्वट के गुरु ने देवता आदि का जो निर्णय किया था वह तर्क के आधार पर ही किया था और शतपथ में तो स्पष्ट लिखा ही नहीं कि अमुक मन्त्र का अमुक देवता है। शतपथगत मन्त्रों के विनियोग को देखकर तर्क से ही निर्णय करना पड़ता है कि अमुक मन्त्र का अमुक देवता है और यदि कहीं शतपथ में किसी मन्त्र का देवता लिखा भी हो तो वह भी याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपने तर्क से ही निर्णय किया है। इस प्रकार देवता आदि का अन्तिम निर्णय तर्क पर ही आकर ठहरता है। यदि किसी सूक्त या मन्त्र का प्रचलित परम्परासिद्ध देवता तर्कसंगत प्रतीत न होता हो तो हम उसका परित्याग भी कर सकते हैं और सूक्त या मन्त्र के विषय को देखकर हम देवता की स्वयं कल्पना भी कर सकते हैं।[1] अब चाहे तो सम्पूर्ण सूक्त का विनियोग हो, चाहे तृच् (तीन ऋचाओं का) विनियोग हो अथवा प्रत्येक ऋचा का पृथक्-पृथक् विनियोग हो, मन्त्रार्थ प्राप्त करने को इच्छुक को प्रत्येक पद के स्वर, वर्ण, अक्षर, विनियोग और अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। कहा भी गया है—

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च।
मन्त्रजिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे।।

तात्पर्य यह है कि पदार्थ मुख्य है, विनियोग गौण। विनियोग (परम्परासिद्ध) सहायक भी हो सकता है और नहीं भी। मन्त्रों के उच्चारण का प्रयोजन अदृष्ट प्राप्ति ही नहीं, मन्त्रार्थ प्रतीति रूप दृष्ट प्रयोजन मानना ही प्रशस्त है। अतः मन्त्र का शब्दार्थ किये बिना विनियोग निश्चय करने में भौतिक प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती। आचार्य जी ने देवताओं की संख्या सम्बन्धी समस्या पर भी विचार किया है। ऋग्वेद का मन्त्र है—

ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ
अप्सुक्षितो महिनैकादशस्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् १/१३८/११

अर्थात् हे देवो, तुम जो कि अपनी महिमा से द्युलोक में ग्यारह हो, पृथ्वी पर ग्यारह हो और आपः में ग्यारह हो, हमारे इस यज्ञ का सेवन करो। इस प्रकार देवताओं की संख्या ३३ प्राप्त होती है। यास्क ने पृथिवी स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय तथा द्युस्थानीय विभाजन करते हुए ३६ पृथिवी स्थानीय, ६८ अन्तरिक्ष-स्थानीय तथा ३१ द्युस्थानीय देवता बताए हैं। शतपथ ने ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, २ द्यावा-पृथिवी

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—पृष्ठ २२१

तथा १ प्रजापति को जोड़कर यह संख्या ३१ से ३४ कर दी है।[1] आचार्य प्रियव्रत जी ने पहली बार प्रश्न उठाया है कि वेद के अनुसार आदित्य, रुद्र तथा वसु के गिनाये हुए नाम वेद में नहीं मिलते। वेद में इनके साथ इन प्रचलित संख्याओं का भी उपयोग नहीं हुआ। फिर यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में ही रुद्रों की हजारों, लाखों संख्याओं का निर्देश है। वेद में अग्नि, सोम, अश्विनौ और मरुतों को भी रुद्र कह दिया गया है। आदित्य और विश्वेदेवाः देवता भी एक कहे गए हैं। ऋक् (१०/७२/८), अष्टौ पुत्रासो अदितेः' तथा अथर्व (८, ६, २१) 'अदितिरष्टपुत्रा' कहकर अदिति के आठ पुत्र मानता है। फिर ऋग्वेद ही (६, ११४, ३) देवा आदित्या ये सप्त' कहकर आदित्यों की संख्या ७ बताता है। अतः स्पष्ट है कि आदित्यों की बारह संख्या में भी कोई एकमत नहीं है। यही स्थिति वसुओं की है। वसुओं के आठ नाम धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास भी कल्पित हैं, इन नामों में से धर, अनल, प्रत्यूष और प्रभास ये चार नाम वेद में हैं ही नहीं। फिर ब्राह्मण ग्रन्थों और शब्दकोशों में भी नामों की भिन्नता है। वेद में तो रुद्र, अग्नि, इन्द्र, सूर्य को भी वसु कहा गया है। भाष्य करते हुए सायण कई स्थानों पर वसु का तात्पर्य निवास करने वाले वीरजन, प्राण और इन्द्रियों के अतिरिक्त सूर्य की रश्मियों और धन से भी लेते हैं। आचार्य जी के इस निर्णय से सहमत होना पड़ता है कि आदित्य, रुद्र, और वसु शब्दों को एक विशेष प्रकार के और एक विशिष्ट संख्या वाले पृथक्-पृथक् देवताओं के गणों का वाचक न समझकर इन्हें अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, पूषा और अश्विनौ आदि सभी देवताओं के विशेषण समझना चाहिए और उसी रूप में इन शब्दों का अर्थ करना चाहिए। स्वयं आचार्य सायण आदि ने कितने ही स्थानों पर आदित्य का किसी से खण्डित न होने वाला, हिंसित न होने वाला, न दबने वाला, रुद्र का दुष्टों को दण्डित करके रुलाने वाला और वसु का बसाने वाला, धन देने वाला; इस प्रकार के यौगिक अर्थ किये हैं। अग्नि आदि देवों के विशेषण के रूप में इन तीनों शब्दों के इस प्रकार के यौगिक अर्थ सर्वत्र हो सकते हैं।[2] छान्दोग्य में आदित्य (४८ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन करने वाला) रुद्र (४४ वर्ष तक) तथा वसु (२४ वर्ष तक) का ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करने वाला ब्रह्मचारी—अर्थ किया गया है। तात्पर्य यह कि देवताओं के भी यौगिक अर्थ हो सकते हैं और उनसे जीवनोपयोगी शिक्षा पर प्रकाश पड़ सकता है।

आचार्य जी ने सूक्तों और देवताओं के ऐसे अर्थ किये भी हैं। उदाहरण के लिए सुप्रसिद्ध वागाम्भृणी सूक्त लीजिये। ऋक् सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के दशम मण्डल के १२५वें सूक्त की आठ ऋचाओं का देवता वागाम्भृणी लिखा है। श्री सायण भी अम्भृण

---

१. अष्टौ वसवः एकादशरुद्र द्वादशादित्या इम एव द्यावा पृथिवी त्रयस्त्रिंश्यौ त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः। शतपथ ४/ ५/ ७/ २

२. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—पृष्ठ ६२

ऋषि की कन्या वाक् को इसका देवता मानते हैं। शाक्त सम्प्रदाय के आचार्य इस सूक्त को दुर्गापरक मानकर इसमें स्वकीय सम्प्रदाय के प्रारम्भिक सूत्र खोजते हैं। आचार्य जी ने परम्परासिद्ध देवता बदलकर तथा मन्त्रार्थ के आधार पर 'राष्ट्री संगमनी' देवता की कल्पना कर अर्थ में चार चाँद लगा दिये हैं। तीसरी ऋचा में 'राष्ट्री संगमनी' नाम आया भी है। इसका एक हेतु यह भी दिया गया है कि सूक्त में बोलने वाली चीज के लिए बार-बार 'अहं'—मैं शब्द का प्रयोग हुआ है। वह अहं पदवाच्य क्या है, यह 'राष्ट्री संगमनी' पदों से ही स्पष्ट होता है। सारे सूक्त में राष्ट्री संगमनी पदों के अतिरिक्त और कोई ऐसा पद नहीं है जिसका वाच्य 'अहं' इस बार-बार दोहराये गये सर्वनाम पद का वाच्य बन सके। वागाम्भृणी शब्द को ध्यान से देखिए। इसमें दो पद हैं, वाग् और आम्भृणी। निघण्टु के आधार पर अम्भृण का अर्थ महान् होता है।[1] आम्भृणी का अर्थ है अम्भृण सम्बन्धी। अतः वागाम्भृणी का अर्थ हुआ महान् की वाणी। गुणगत और परिमाणगत महत्त्व में यह ईश्वरीय वाणी का वाचक हुआ पर वागाम्भृणी वाणी ऐसी होनी चाहिए जिसमें 'राष्ट्री संगमनी' पदों का अर्थ भी संगत हो सके। संख्यागत महत्त्व में इसका अर्थ होगा—बहुतों की वाणी—राष्ट्र के लोगों की वाणी। राष्ट्री सगमनी—राष्ट्री सभा है—इसमें बहुतों के प्रतिनिधियों की वाणी बोल रही है। इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रस्तुत सूक्त में राष्ट्रसभा का ही वर्णन है। क्योंकि बहुतों की वाणी राष्ट्रसभा की वाणी ही हो सकती है जब कि सूक्त में उसके वर्णन के प्रसंग में राष्ट्री और संगमनी इन दो पदों का भी प्रयोग हुआ हो तब तो हमें वागाम्भृणी का अर्थ राष्ट्र की या राष्ट्र सभा की वाणी ही करना होगा। इस सूक्त की आठों ऋचाओं का इसी परिप्रेक्ष्य में अर्थ करते हुए राष्ट्रसभा के कार्यों का विवेचन लेखक ने किया है। राष्ट्री सगमनी के ही सभा और समिति दो विभाग हैं जिन्हें अथर्व (७/१२) में प्रजापति (राजा) की राज्य सम्बन्धी बातों को पूरा करने वाली बताया गया है। मैं स्वयं आश्चर्यान्वित था कि सूक्त की अन्तिम दो ऋचाओं का 'राष्ट्री संगमनी' परक अर्थ कैसे होगा ? ये ऋचाएँ हैं—

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि।
अहमेव वात इव प्रवाम्या रभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिना सं बभूव।।

श्री सायणकृत भाष्य के आधार पर इसका अर्थ है कि महर्षि अम्भृण की कन्या वाक् कहती है कि मैं ही इस जगत् के पिता रूप आकाश को सर्वाधिष्ठान स्वरूप परमात्मा के ऊपर उत्पन्न करती हूँ। समुद्र (सम्पूर्ण भूतों के उत्पत्ति स्थान परमात्मा) में तथा जल (बुद्धि की व्यापक वृत्तियों) में मेरे कारण (कारण स्वरूप चैतन्य ब्रह्म) की स्थिति है; अतएव मैं समस्त भुवन में व्याप्त रहती हूँ तथा उस स्वर्गलोक का भी अपने शरीर

१. अम्भृण इति महन्नामसु पठितम्—निघण्टु ३/३

से स्पर्श करती हूँ। मैं कारण रूप से जब समस्त विश्व की रचना आरम्भ करती हूँ, तब दूसरों की प्रेरणा के बिना स्वयं ही वायु की भाँति चलती हूँ, स्वेच्छा से ही कर्म में प्रवृत्त होती हूँ। मैं पृथिवी और आकाश दोनों से परे हूँ। अपनी महिमा से ही मैं ऐसी हुई हूँ।' श्री सायण ने स्पष्ट लिखा है कि 'अम्भृणस्व महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी ब्रह्म विदुषी स्वात्मानमस्तौत।' अर्थात् इस सूक्त में अम्भृण नामक महर्षि की ब्रह्मविदुषी पुत्री की, जिसका नाम वाक् था, अपने सम्बन्ध में स्तुति है। वागाम्भृणी पद इस सूक्त में कहीं नहीं है। अत: श्री सायण की कल्पना भी आधारहीन है। अब आचार्य जी द्वारा किया गया अर्थ देखिए—'(अहं) मैं (पितरम्) प्रजाओं के पालक राजा रूप पिता को (अस्य) इस राष्ट्र में (मूर्धन्) मस्तक पर (सुवे) प्रेरित करती हूँ। (मम) मेरा (योनिः) उत्पत्ति कारण (समुद्रे) राष्ट्र समुद्र में (अप्सु-अन्तः—मनुष्यावा आपः शतपथ ७/१/१/२) प्रजाओं के भीतर है (ततः) इस हेतु से (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों (भुवनानि भूतजातानीति सायणः) अर्थात् उत्पन्न प्राणियों पर (वितिष्ठे) मैं विविध प्रकार से बैठती हूँ—शासन करती हूँ (उत) और (वर्ष्मणा) अपने प्रभाव शरीर से (द्यां) द्यौ को भी (उपस्पृशमि) स्पर्श करती हूँ। मैं ही सब प्रकार के (भुवनानि) उत्पन्न होने वाले कार्यों को (आरभमाणा) आरम्भ करती हुई (वातः) वायु की तरह (प्रवामि) दौड़ती फिरती हूँ (महिना) अपनी महिमा से (एतावती) इतनी संबभूव हो गई हूँ कि (दिवा) द्यौ से भी परे और पृथ्वी से भी परे, मैं अपना प्रभाव रखती हूँ।

अर्थात् प्रजापालक राजा राष्ट्र के मूर्धा पर बैठकर सब प्रकार के राज्य कर्म करने में क्यों समर्थ होता है ? इसलिए कि उसे राष्ट्रसभा से सब प्रकार की प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। यदि राष्ट्रसभा उसे प्रेरणा प्रदान न करे और उसकी सहायता न करे तो राजा भी—राष्ट्र का मूर्धन्य राजा भी—कुछ नहीं कर सकता। यह राष्ट्रसभा कोई साधारण चीज नहीं है। राष्ट्रसमुद्र में रहने वाली प्रजाएँ इसका कारण हैं—उन्होंने इसे उत्पन्न किया है। इसलिए इसमें सारी प्रजा का बल निहित है। यह प्रजा की—जिस प्रजा को पीछे राजा का भी योनि, कारण कह आए हैं, उस प्रजा की—सभा —है, इसी हेतु से यह राष्ट्र के सब प्राणियों पर शासन करती है न सिर्फ राष्ट्र में रहने वाले प्राणियों पर इसका शासन है प्रत्युत इसके निर्णयों का प्रभाव आकाश में विचरने

१. अहं सुवे"द्यौः पितेति श्रुतेः। पितरं दिवं अहं सुवे प्रसुवे जनयामि। आत्मनः आकाशः संभूत इति श्रुतेः। अस्य परमात्मनः मूर्धनि उपरिकारण भूते तस्मिन्हि वियदादि कार्य जातं सर्वं वर्तते। तन्तुषु पट इव मम च योनिः कारणं समुद्रे समुद्रवन्त्यस्माद् भूत जातानीति समुद्रः परमात्मा तस्मिन् अप्सु व्यापन शीलासु धी वृत्तिषु अर्न्तध्ये यद् ब्रह्म चैतन्यं तन्मम कारणमित्यर्थः। यतईदृग्भूताहमस्मि ततो हेतोर्विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि अनुप्रविश्य तिष्ठे विविधं व्याप्य तिष्ठामि। अमूं द्यां विप्रकृष्ट देशेऽवस्थितं स्वर्गलोकमुपलक्षणमेतत्। एतदुपलक्षितं कृत्स्नं विकारजातं वर्ष्मणा कारण भूतेन मायात्मकेन मदीयेन देहेन उपस्पृशमीमयद्वा अस्य भूलोकस्य मूर्धन्युपरि अहं पितरमाकाशं सुवे समुद्रे जलधौ अप्सु अन्तर्मध्ये मम योनिः कारणभूतो अम्भृणाख्य ऋषिः वर्तते। यद्वा समुद्रे अन्तरिक्षे अप्सु अंभयेषु देव शरीरेषु मम कारणं ब्रह्म चैतन्यं वर्तते ततोऽहं कारणात्मिका सती सर्वाणि भुवनानि व्याप्नोमि यथा वातः परेण अप्रेरितः सन् स्वेच्छयैव प्रयाति तद्वत्। उक्तं सर्वं निगमयति परो दिवा पर इति —दुर्गा सप्तशती-गुप्तवती टीका

वाले पक्षियों और विमानों तक पर होता है। राष्ट्र में होने वाले सब कार्य राष्ट्रसभा की आज्ञा से ही होते हैं, इसलिए कह दिया गया है कि राष्ट्रसभा ही सब प्रकार के कार्यों को कर रही है और क्योंकि राष्ट्रसभा की आज्ञाओं और निर्णयों का प्रभाव राष्ट्र के दूर से दूर के प्रदेशों में भी तत्क्षण होता है इसलिए अलंकार से कहा कि मानो वह वायु की तरह दौड़ती फिरती है। उसकी महिमा इतनी है कि वह अपने राष्ट्र के आकाश और पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों पर तो नियन्त्रण रखती ही है—जैसा कि पिछले दोनों मन्त्रों में कहा गया है—परन्तु कितनी ही बार उसके निर्णयों का प्रभाव अपनी भूमि और आकाश से परे दूसरे राष्ट्रों की भूमि और आकाश पर भी पड़ता है।'[1] पाठक देखें, आचार्य जी का अर्थ कितना सामाजिक और उपयोगी है।

एक बात और। वेदों में स्थान-स्थान पर देवों को एक रूप में वर्णित किया गया है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का प्रथम सूक्त देखा जा सकता है। इस सूक्त का देवता अग्नि है। इसमें अग्नि को 'नृपति' अर्थात् राजा कहकर उसे इन्द्र, विष्णु बृहस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा, त्वष्टा, रुद्र, मरुत्, पूषा, सविता और ऋभु आदि नामों से अभिहित किया गया है। ये नाम वेद के विभिन्न देवताओं के नाम हैं। इसी प्रकार इन्द्र के सूक्तों में भी उसे सूर्य, रुद्र, ऋभु, सोम, विष्णु, अग्नि, सविता, बृहस्पति, मित्र, त्वष्टा, वरुण और विश्वकर्मा आदि अन्य विभिन्न देवताओं के नामों से भी सम्बोधित किया गया है। तात्पर्य यह कि देवों के नाम अपनी विशेषताओं से अलग-अलग संकेत भी करते हैं तथा प्रत्येक देव प्रजापति या एक केन्द्रीय देव का सहकारी होकर भी सामने आता है। देवमाला या राजकीय मन्त्रिमण्डल की रूपरेखा इसी आधार पर लेखक ने प्रस्तुत की है। इन्द्र को वह सम्राट् मानते हैं जो निर्वाचित शासनाध्यक्ष है। उसकी सहायता के लिए तथा उस पर नियन्त्रण रखने के लिए सभा और समिति हैं। सहायता के लिए मन्त्रियों की भी आवश्यकता होती है। राज्य-संचालन के दुष्कर कार्य में सम्राट् को सहायता देने के लिए उसके सहायक या मन्त्री भी होने चाहिए। इस सम्बन्ध में भी वेद से पर्याप्त निर्देश मिलते हैं। वेद की इन्द्र, अग्नि, वरुण, विष्णु, मित्र, अश्विनौ, पूषा, बृहस्पति, सोम, त्वष्टा और रुद्र आदि देवताओं की देवमाला पर बारीकी से दृष्टिपात करने पर वेद स्पष्ट रूप में इस प्रकार के निर्देश देता है कि इसमें से इन्द्र तो सम्राट् है और अग्नि, वरुण, सोम आदि उसके सहकारी विभागाध्यक्ष या मन्त्री हैं।'[2] तात्पर्य यह कि आचार्य जी ने समग्र देवमाला का अधिराष्ट्रपरक अर्थ करते हुए देवताओं को असंदिग्ध रूप से राजपुरुषों का प्रतीक बताया है।

इन्द्र को वह सम्राट् मानते हैं, मन्त्र संख्या की दृष्टि से भी वह वेद में प्रधान है। १४ बार उसके लिए वेद में सम्राट् शब्द आया भी है। **'इन्द्र ज्येष्ठां उशतो यक्षि देवान्'** अथवा **'इन्द्रज्येष्ठा सो अमृता ऋतावृधः देवाः'** के आधार पर भी वह ज्येष्ठ

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त खण्ड १—पृष्ठ २२७
२. वही खण्ड १—पृष्ठ २६६

या सम्राट् है। अथर्व में 'देवानामधिराजः' कहकर या 'अधिराजो राजसु राजपातै' कहकर उसके शासनाधिपतित्व को स्वीकार किया गया है। ऋक् में **'एकराडस्य भुवनस्य राजसि शचीपति इन्द्र'** कहकर उसे राष्ट्ररूप जगत् का एकमात्र राजा या एकराट् बताया गया है। ऐसी स्थिति में इन्द्र को अधिराज तथा अग्नि, विष्णु, मरुत्, रुद्र तथा ऋभु आदि को 'इन्द्रवन्तः' अर्थात् इन्द्र के अधीनस्थ रहकर कार्य करने वाले बताया गया है। इस सम्बन्ध में इन्द्र की निरुक्ति की संगति भी बैठती है। इन्द्र शब्द 'इदि' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है परमैश्वर्यवान् होना। राष्ट्र का सर्वोच्च प्रशासक होने के नाते उसके ऐश्वर्यसम्पन्न होने का कोई ठिकाना नहीं।

अग्नि दूत विभाग का मन्त्री है। वेद में 'अग्नेयासि दूत्यम्', 'महि दूत्यं चरन्' जैसे १४ प्रयोग उसके लिए दूत शब्द का प्रयोग विहित मानते हैं। अग्नि के दो विशेषण 'हव्य वाहन' और 'हव्यवाट्' भी इसी अर्थ का समर्थन करते हैं। हव्य का **अर्थ है** संदेश-वचन—'हूयते, शब्दयते उच्चार्यते अथवा आकार्यते इति हव्यम्'। संदेश-वचन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाला है। हव्यवाट्। 'हव्यवाहन की एक व्याख्या यह है कि इन्द्र अग्नि के द्वारा जहाँ अपने संदेश दूसरे राजाओं के पास पहुँचाता है वहाँ इन्द्र राज्य के सब देवों, अधिकारियों और कर्मचारियों को हव्य अर्थात् खाद्य सामग्री पहुँचाने की व्यवस्था करता है। ऋक् में **'देवासस्त्वा वरुणो मित्रो अर्यमा स दूतं प्रत्नमिन्धते,'** कहकर अग्नि के दूतत्व धर्म की प्रतिष्ठा की गई है। वेद में अग्नि को १२ बार होता कहा गया है। यास्क ने इसका अर्थ ह्वाता या बुलाने वाला किया है। वह प्रजाओं या विशों का भी दूत कार्य करता है—अग्नो दूतो विशामसि—। आचार्य जी ने ऋक्, यजुष्, अथर्व के ३१ मन्त्र देकर दूत के व्यक्तिगत गुणों, योग्यता तथा कार्यों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। अग्नि का दूत रूप में वर्णन करके और दूत के गुणों और कार्यों पर प्रकाश डालकर वेद ने यह उपदेश दिया है कि सम्राट् को अपने राज्य में दूत विभाग भी रखना चाहिए तथा अजिर (शारीरिक दृष्टि से सबल तथा गतिशील) चिकित्वान् (सब कुछ जानने-समझने वाला) रंसुजिह्व (मधुरभाषी) तथा सुदक्ष दूत को नियुक्त करना चाहिए। ऋग्वेद (१०/१६५) तथा अथर्व (६/२७) के सूक्तों-मन्त्रों में क्रमशः ५ तथा ३ मन्त्र हैं। सायण ने इनका देवता कपोत माना है। इनमें कपोत का एक विशेषण दूत भी आया है। इस 'दूतः कपोतः' से आचार्य जी यह ध्वनि निकालते हैं कि कबूतर से दूत का—संदेश भेजने का काम भी लिया जा सकता है।

अश्विनौ को वह परिवहन मन्त्री मानते हैं। वेद में अश्विनौ को 'नरौ' कहा गया है। इसका अर्थ है कि वेद में अश्विनौ का एक रूप मनुष्य का भी है। अर्थात् एक अर्थ में उन्हें मनुष्य समझकर भी अश्विनौ की व्याख्या की जा सकती है। ऋग्वेद में ही 'राजानौ' और 'नृपती' विशेषण भी इनके लिए आये हैं। 'अश्वैरश्विना वित्यौर्णवाभः' साक्ष्य से निरुक्त में अश्वों वाला होने के कारण अश्विनौ को अश्विनौ कहा जाता है। 'रथः स्वश्वः' मन्त्रांश से पता चलता है कि अश्विनौ का रथ बहुत उत्तम अश्वों

वाला है। अश्विनौ के रथ का वर्णन १५५ बार आया है। सायण 'रथेष्ठा' का अर्थ पर बैठने वाला अश्विनौ करते हैं, इन्द्र नहीं। ऋग्वेद में कहा गया है—

अथो ह स्थो रथ्या ३ राध्येभिः ४/१५७।६

अर्थात् हे अश्विनौ तुम रथों के वहन में कुशल अपने अश्वों (राध्येभिः) के कारण रथ चलाने में निपुण रथवान् (रथ्या) हो। अश्विनौ द्वारा अनाजों का परिवहन होता है। 'वां पृक्षो भुरजन्त पक्वाः', **'इषं जनाय वहथः शुभस्पती'** तथा **'पृक्षो वहतमश्विना'** जैसे १२ मन्त्रों से अनाज का, 'घृतेन नो मधुनाक्षत्रमुक्षतम्' जैसे २ मन्त्रों से घृत का, 'ऊर्जवहन्ता' जैसे ४ मन्त्रों से रसों का, 'आरथेन पुरुश्चन्द्रेण यातम्' से सोने-चाँदी तथा गो पशु आदि का परिवहन (आ गोमता अश्वावाता रथेन यातम्) अश्विनौ ही करते हैं। 'नृवाहणं रथम्' तथा रुद्रवर्तनी' मन्त्रों से जनता तथा सेना के परिवहन का प्रतिपादन किया गया है। भूमि पर, समुद्र में तथा आकाश में चलने वाले रथों और विमानों के साथ बिना अश्वों के रथों की भी चर्चा की गई है। ये शायद विद्युत् से चलते थे।[1] अश्विनौ का एक रूप चिकित्सक का भी है। उसे 'भिषजा' इसी उद्देश्य से कहा गया है। अश्विनौ के लिए द्विवचन का प्रयोग और उनके भिषजा आदि विशेषणों से भी द्विवचन का प्रयोग यह ध्वनित करता है कि चिकित्सक दो प्रकार के होते हैं—(१) औषधोपचार द्वारा चिकित्सा करने वाले तथा (२) शल्य क्रिया द्वारा चिकित्सा करने वाले। अतः उन्हें चिकित्सक रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है।

वरुण भी मानव है। जब इन्द्रवरुणौ और मित्रावरुणौ नर हैं तो वरुण भी स्वतः नर हो गया। वरुण की भी अधिराष्ट्रपरक व्याख्या हो सकती है। वरुण का एक अर्थ मनुष्य राजा भी है। वरुण के पास 'पाश' होते हैं। ये अपराधियों को पकड़ने में काम आते हैं। पाश ३ प्रकार के उत्तम, मध्यम और अधम होते हैं। अपराध के स्वरूपानुसार उनकी अधिकता, न्यूनता तथा अपराधी के दण्ड स्वरूप बदलता है। वह सत्य-असत्य का निर्णय करता है। अथर्व में 'राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्' साक्ष्य है भी। वरुण के स्पशः (गुप्तचर) भी होते हैं। इनके कार्यों का विवरण अथर्व वेद के चतुर्थ काण्ड के सोलहवें सूक्त में मिलता है। वरुण इस आधार पर अपराधों के अन्वेषण तथा पुलिस विभाग के अधिकारी के रूप में चित्रित मिलते हैं। 'निर्ऋति' का मौलिक अर्थ भी इस प्रसंग में आचार्य जी ने किया है। सायण आदि भाष्यकारों ने निर्ऋति का अर्थ दुःख, यम, कष्ट, पाप किये हैं। आचार्य जी ऋग्वेद (७/१०४) तथा अथर्व (८/४) के आधार पर निर्ऋति का अर्थ कारागार करते हैं। शतपथ में कहा गया है कि घोरा वै निर्ऋतिः (७/२/१/११) तथा कृष्णा वै निर्ऋतिः (७/२/१/७) अर्थात् निर्ऋति घोर है और कृष्णा है। कारगार ऐसी ही होती है। निरुक्ति की दृष्टि से भी यही अर्थ ठीक है—'निर्गता ऋतिर्यस्याः सा निर्ऋतिः, जिसमें प्रविष्ट होकर फिर अपराधी बाहर न निकल सके। अथर्व में 'यत्ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्व विमोक्यं यत्'

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—पृष्ठ ३१६,२०,२१

कहकर कारगार तथा बेड़ी बन्धन की बात कही भी गयी है।

सोम न्याय विभाग का मन्त्री तथा न्यायाधीश है। उसका 'विश्वचर्षणी' विशेषण उसकी समझदारी तथा न्यायप्रियता को घोषित कराता है। 'सत्य शुष्मः' तथा 'सत्यकर्मा' विशेषणों से पता चलता है कि वह सत्य का रक्षक है। 'सत्पति' कहने से पता चलता है कि वह सज्जनों की रक्षा करता है। सोम पवमान है। वह न्याय व्यवस्था से अपराधियों को दण्डित करके पाप और अपराध के मार्ग से हटाकर उन्हें पवित्र कर देता है। वह अभिषव है अर्थात् अपराधियों को दण्डित कर तथा प्रजाजनों को निरापद् और निर्भय बनाकर उन्हें सुख-शान्ति की धाराओं में स्नान करा देता है।

रुद्र प्रतिरक्षा मन्त्री और सेनापति है। मरुत् सैनिक हैं। सैनिक लोग स्कन्धावार अथवा छावनियों में रहते हैं। अतः उन्हें गणों में कहा गया है। वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त के तृतीय खण्ड में लगभग २४० पृष्ठों में प्रतिरक्षाविभाग पर सविस्तार विचार किया गया है। इसमें सेनापति, सैनिकों के गुणों, सैनिक के भोजन, शील, सैनिकसभा, औषधालय, सेना का गठन, व्यूहरचना, स्थल, जल तथा वायु सेना, शस्त्रास्त्र, रणनीति, राष्ट्रियध्वज, राजसभा, तथा युद्ध के उद्देश्य पर पृथक्-पृथक् विचार किया गया है। चौबीसवाँ अध्याय महत्त्वपूर्ण है। जिसमें यजुर्वेद के रुद्राध्याय पर सेना और सेनापति के सन्दर्भ में नई व्याख्या प्रस्तुत की गई है। लगभग ३८ रुद्र के नामों की जैसे अयापकाशिनी तनू :, प्रतिसर्याय, शिपिविष्टाय, तक्षम्य :, रथकारेभ्यः—की व्याख्या करते हुए लेखक ने निष्कर्ष निकाला है कि रुद्राध्याय में रुद्र के ये जो नाम और वर्णन आये हैं, इनमें से अधिकांश रुद्र के महादेव अर्थ में संगत नहीं हो सकते। यदि कथंचित् इन नामों और वर्णनों को महादेव में सगत करने का प्रयत्न भी किया जाये तो फिर वह महादेव पुराणों का महादेव नहीं रहता। वह अद्वैतवादियों का ब्रह्म हो जाता है और फिर इस प्रकार के अर्थ में न कोई चमत्कार ही रहता है और न ही उसमें कोई मनुष्यों के व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी शिक्षा और अभिप्राय ही निकलता है। रुद्र का सेनापति अर्थ करने पर अध्यायों के सारे वर्णन उसमें बड़े सुन्दर संगत हो जाते हैं और उनसे राजनीति की बड़ी उत्कृष्ट शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं।[1]

प्रतिरक्षा विभाग की स्थापना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि युद्ध केवल आत्मरक्षा के लिए ही किया जा सकता है, विजेता को पराजित शत्रु के राष्ट्र पर आधिपत्य नहीं करना चाहिए। इसकी पुष्टि में २६ अथर्ववेद के मन्त्र, ८ यजुर्वेद के मन्त्र तथा ४ ऋग्वेद के मन्त्र उद्धृत किये गए हैं। यहाँ इन्द्र और अग्नि के लिए प्रयुक्त अजिराधराजौ शब्द पर विचार करते हुए आचार्य जी ने सायण द्वारा कल्पित मृत्यु के अजिर तथा अधिराज संज्ञक दूतों की कल्पना का खण्डन किया है। इसी प्रकार 'मस्मसा' ध्वन्यर्थक शब्द का शत्रु को मसल देना अर्थ भी उनका मौलिक तथा संगत है। अथर्व का 'तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत, (११,९,२६) मन्त्र उद्धृत कर उन्होंने इस बात का समर्थन किया है कि विजेता को विजित राष्ट्र पर आधिपत्य

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—तृतीय खण्ड—पृष्ठ २४०

नहीं जमाना चाहिए। मरुतों के बारे में उनकी धारणा है कि मरुत् देव विशेष नहीं मनुष्य हैं। ऋग्वेद के ३४ स्थल उद्धृत करते हुए उन्होंने बताया है कि मरुत् नर हैं। जैसे नरः सत्यशवसः, यच्छुभं याथना नरः, नरो दिवश्च घृतयः। इमं नरो मरुत : सश्चतावृधम्। फिर मरुत् अमर नहीं वे मरणधर्मा हैं। 'मर्या इव सुवृधः' कहने का अभिप्राय यही है। 'मारुतेनागणेन' या 'मारुता गणाः' अथवा 'मारुतं गणम्' कहने का अर्थ है कि मरुत् या सैनिक समूह या टुकड़ियों में रहते हैं। वेद मरुतों को 'सनीलाः' कहता है, सायण सनीलाः का अर्थ समानस्थानाः करते हैं। सनीला का अर्थ है एक घर में रहने वाले अर्थात् सनील का अर्थ बैरक में रहने वाले किया जा सकता है। मरुतामनीकम् कहने से मरुतों की पंक्तिबद्ध सेना का दृश्य भी हमारे सामने आ जाता है। 'मानुष प्रधनाः, जैसे प्रयोग इनके मनुष्यों से किये गए युद्ध की ओर संकेत कर इनके मानव होने की संभावना व्यक्त करते हैं।

युद्धोपकरणों से सुसज्जित रुद्र के लिए ऋग्वेद से ७, यजुर्वेद से २३, अथर्व से ५ मन्त्र उद्धृत किये गए हैं। इनका तात्पर्य रुद्र को सेनापति बताना है। कृत्तिवासाः का अर्थ है चमड़े का अंगुलित्राण आदि पहनने वाला। कपर्दी नाम भी उसके उसी वीर रूप का संकेत कराता है। इस रुद्र की (सेनापति की) श्री को मरुत् (सैनिक) बढ़ाते हैं—'तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र। रुद्र के गण और अनीक हैं। इसलिए उसे गणपति, व्रातपति और वरूथी कहा गया है। उसे ऋग्वेद में अन्यं ते असम्मन्नि वपन्तु सेनाः, अथर्व में नगस्ते देव सेनाभ्यः तथा यजुर्वेद में 'हिरण्य बाहवे सेनान्ये' कहकर सेनाओं का पति या सेनापति बताया गया है। सेनापति से अपने सैनिकों के साथ पिता-पुत्र जैसा व्यवहार रखना चाहिए। इसके लिए रुद्र को पिता तथा इष्मी कहा गया है।

सैनिक मातृभूमि के भक्त होने चाहिएँ। 'गोमातरः' का अर्थ पृथिवी को, मातृभूमि को माता समझने वाला किया जाना संगत है। मरुतों के लिए प्रयुक्त युवानः शब्द से ध्वनि निकलती है कि युवा पुरुषों को ही सेना में प्रविष्ट करना चाहिए। आचार्य जी ने उग्राः स्वभानवः, सुक्षत्रासः जैसे ८७ विशेषणों का अर्थ देते हुए बताया कि वेद की दृष्टि में कैसे गुणों वाले पुरुष को सेना में भरती कराया जाना चाहिए। सैनिकों के लिए विप्राः, निचेतारः, तथा सुश्रवस्तमान् विशेषण इस बात की ओर ध्यान दिलाते हैं कि सैनिक बनने वाले व्यक्ति उच्च शिक्षा प्राप्त हों। जो नारी शूर हों वे भी वृषभणा, अंहयुः तथा स्थिरा होने से सैनिकों के संग (सचा) युद्धभूमि में रह सकती हैं। सैनिक समान आयु के भरती होने चाहिए। सवयसः विशेषण का यही भाव है। प्रतिवर्ष नये सैनिकों की भरती हो—कहा भी है—**गणं मारुतं नव्यसीनाम्**।' 'क्रीलथमरुतः' से अर्थ लेना चाहिए कि सैनिकों के लिए खेलने का प्रबन्ध होना चाहिए। २६ मन्त्र उद्धृत कर सैनिकों के भोजन पर विचार किया गया है। सैनिकों की सभा या क्लब के समर्थन में 'मिम्यक्ष येषु सुधिता घृताची' मन्त्र उद्धृत किया गया है। २० मन्त्र उद्धृत कर युद्ध विभाग के औषध या चिकित्सा विभाग का विवरण दिया गया है। रुद्रजलाषभेषज तथा त्वं भेषजा रास्यस्मे जैसे मन्त्रों का यही अर्थ है। सेना के गणों के सम्बन्ध में

दशमलव पद्धति अपनाई गई है। मरुतों के लिए ऋग्वेद में प्रयुक्त 'दशम्वाः' का अर्थ दस-दस की संख्या में चलने वाला किया गया है। मनु ने तो इसी से प्रेरणा लेकर ग्रामों को संघटित करने के लिए यही पद्धति अपनाई है। ग्राम, दसग्राम, सौ ग्राम तथा सहस्रग्रामों के संघटन होने चाहिएँ। मनु का यही मत है। दशग्रामपति, शतग्रामाधिपति तथा सहस्र ग्रामाधिपति की व्यवस्था उन्होंने की है। सेना में भी आचार्य प्रियव्रत दूसरा बड़ा गण सौ, तीसरा सहस्र और चतुर्थ दस सहस्र का मनाते हैं। मरुतों को शतिनः कहना इसीलिए संगत है, मरुतों को **सहस्रियासो अपां नोर्मयः** कहना तथा इन्द्र को **तेन शंत सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान** कहना इसी भाव की पुष्टि करता है। सेनाओं को पंक्तिबद्ध होकर चलना चाहिए। धारावराः तथा वयो न श्रेणीः पप्तु का अर्थ यही है। इसी सन्दर्भ में प्रयुक्त 'सुसन्दृक् ते स्वनीक प्रतीकम्' का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य जी ने कहा है कि हम एक सेना को देख रहे हों और उसके सैनिक भी हमारी ओर मुँह करके पंक्तिबद्ध खड़े हों तो उसके सैनिकों की जो पंक्तियाँ हमारी छाती के समानान्तर एक के पीछे दूसरी इस प्रकार बनेंगी उन्हें अनीक कहा जायेगा तथा जो पंक्तियाँ हमारी छाती पर लम्ब बनाती हुई एक दूसरी के साथ-साथ खड़ी दीखेंगी उन्हें प्रतीक कहेंगे।[1]

सेनाओं के प्रशिक्षण, मार्गशोधक सेना, कुत्तों की सहायता, रथारोही सेना, जलसेना, वायुसेना पर मन्त्रों सहित प्रकाश डालकर लेखक ने आधुनिक जानकारी दी है। मद्गु का अर्थ वह जलचर पक्षी न करके पनडुब्बी करते हैं तथा प्राचीन भारत में पनडुब्बी की स्थिति स्वीकारते हैं। दशमकुमारचरित की पद चन्द्रिका, भूषणा तथा लघुदीपिका टीका के हवाले से 'मद्गुः पोतविशेषः' अर्थ कर वह अपनी बात पुष्ट करते हैं। वायु सेना के लिए ऋग्वेद के २६ तथा अथर्व के ४ मन्त्र उन्होंने उद्धृत किये हैं। शस्त्रास्त्र पर प्राचीन तथा आधुनिक दृष्टि से विचार करते हुए बाण, इषुधि, धनुष, असि, वाशी, परशु, ऋष्टि, वज्र तथा आधुनिक आग्नेयास्त्रों की चर्चा भी उन्होंने की है। पूतिकास्त्र, सम्मोहनास्त्र की नई व्याख्या की है। युद्धवाद्य, रणनीति तथा सेना-व्यूह पर भी विचार किया है। आखुस्ते पशुः का अर्थ खन्दक खोदने वाला तथा उसमें युद्ध के समय छिपने वाला किया है। शत्रु का कोश, रसद, शस्त्रास्त्र तथा युद्ध के ठिकानों को नष्ट करने की नीति का मन्त्र देकर समर्थन किया गया है। युद्ध-प्रचार के लिए पुरोहितों की स्थापना पर बल दिया गया है और फिर स्थल, जल तथा वायु सेनाओं का मेल रखने वाले सेनापति की सेना के ध्वज का विवरण दिया गया है। अथर्व के **'एता देवसेनाः सूर्य केतवः सचेतसः' तथा 'त्रिषन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः'** मन्त्र देकर सूर्य चिह्नांकित अरुण रंग के वेदकालीन ध्वज का संकेत कराया गया है।

रुद्र की बहन अम्बिका पर लेखक ने सर्वथा मौलिक दृष्टि डाली है। अम्बिका को अवि धातु से निष्पन्न शब्द मानकर लोरी गाने वाली माँ अर्थ किया गया है। माता जैसे बच्चों को लोरियाँ देकर उनका दिल बहलाव करके उन्हें सुख में सुला देती है,

1. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त–खण्ड ३–पृष्ठ ११४

सेनाओं में उसी प्रकार का काम करने वाला विभाग अम्बिका कहलायेगा। आहत सैनिकों की शुश्रुषा आदि इसी विभाग के अन्तर्गत आते हैं। इस विभाग में कार्यरत परिचारिकाएँ आधुनिक नर्सों की तरह बहन या स्वसा के रूप में आदर पायेंगी। अम्बिका को रुद्र की स्वसा कहने में यही ध्वनि है। जो पाठक विशेष रूप से रुद्राध्याय का अर्थ समझना चाहते हों वे इस प्रकरण को अवश्य पढ़ें, उन्हें पद-पद पर आचार्य जी के द्वारा उद्भासित नवीन अर्थ देखकर वेद की उपयोगिता पर विश्वास बढ़ेगा। सुसंगत और प्रमाणपुष्ट ऐसी अधिराष्ट्रपरक व्याख्या उनसे पूर्व किसी आचार्य ने नहीं की।

प्रथम खण्ड में त्वष्टा को शिल्पकला तथा उद्योग-धन्धों का मन्त्री बताया गया है। बृहस्पति को मन्त्रि पुरोहित तथा पूषा को अर्थमन्त्री कहा गया है। खान, पशु, कृषि, वस्त्रव्यवसाय, विमान, नौका तथा कराधान से इसकी आय बताई गई है। कराधान और कर-संग्रह में वह चौकस रहता है, वह अपनी बहिन तक को भी कर से मुक्त नहीं करता। ऋग्वेद के 'स्वसुर्जारः' का अर्थ यही विहित भी है। सविता को विधिमन्त्री, सूर्य को शिक्षामन्त्री तथा विष्णु को प्रधानमन्त्री बताया गया है। इन्द्र यदि राष्ट्रपति है तो विष्णु प्रधानमन्त्री। 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' का तात्पर्य यही है। उरुगाय का अर्थ राष्ट्र के सभी विभागों में विष्णु या प्रधानमन्त्री की पहुँच है। वह उरुक्रम इसलिए है कि राष्ट्र के बहुत अधिक विभागों के कार्यों पर उसकी दृष्टि रहती है और वह उनकी देखभाल करता है। शिपिविष्ट का अर्थ है कि वह जहाँ राष्ट्र के मनुष्यों की सुख-समृद्धि की चिन्ता रखता है वहाँ वह उसके पशुओं की सुख-समृद्धि की भी चिन्ता रखता है। 'आदित्यै विष्णु पत्न्यै' का अर्थ है कि वह अदिति या भूमि का स्वामी है। निघण्टु में 'अदितिः पृथिवी नाम' पठित भी है। अपने राष्ट्र और मातृभूमि की रक्षा और पालन-पोषण करने के कारण वह अदिति का पति है। विष्णु की व्याख्या है—जो विभिन्न क्षेत्रों और कार्यों में व्याप्त हो—'वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं राष्ट्रसम्बन्धि—प्रशासनिक कार्यजातमिति विष्णुः।' अर्यमा न्याय-विभाग का मन्त्री है तथा दीवानी का न्यायाधीश है। वह विवाहों का पंजीकरण करता है—अथर्व में **'अर्यमणं यजामहे सुबन्धुंपति वेदनम्'** का तात्पर्य यही है। भग कृषि विभाग तथा जनकल्याण का मन्त्री है। यहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों के इस आशय का कि भग देव अन्धे हैं, खण्डन किया गया है। गोपथ, कौशीतकी तथा शतपथ में भग को अन्धा बताया गया है। निघण्टु के 'भग इति धननाम'—कथन से सम्पत्ति का स्वामी बताकर लेखक ने उसे उत्तम प्रबन्ध व्यवस्थापक कहा है। सरस्वती को स्त्री-शिक्षा विभाग की मन्त्री, पर्वत को सुरक्षा विभाग का मन्त्री, वायु को वायु-प्रदूषण निराकरण विभाग का मन्त्री बताकर वन-सम्पदा रक्षा तथा प्रदूषण की आधुनिक समस्या पर लेखक ने वेद का मन्तव्य सुझाया है। कुत्स को सतर्कता विभाग का मन्त्री बताकर लेखक ने सायणाचार्य की विसंगतियों पर प्रकाश डाला है। कुत्स न तो गोत्र-प्रवर्तक ऋषि है और न वह अर्जुन (इन्द्र) का पुत्र है। आर्जुनेय विशेषण की अधिराष्ट्र अर्थ में संगति लगाने पर पवित्र तथा शुभ्र अर्थ किया है। लेखक ने सप्रमाण बताया है कि इन्द्र और कुत्स के युद्ध की कहानी सायण द्वारा

कल्पित और निरर्थक है। कुत्स शब्द संस्कृत की कुत्स धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है दोष दिखाना। भ्रष्टाचार के ऊपर आँख जमाकर उसका भंडाफोड़ करने वाला व्यक्ति कुत्स है। इस प्रकार यह देवमाला उचित शासन-व्यवस्था की कड़ी रूप में ही हमारे सामने आती है।

लेखक राजा का चुनाव जनता द्वारा मतपत्र के आधार पर मानते हैं। अथर्व के (३/५-६-७) पर्णमणि सूक्त की व्याख्या करते हुए उन्होंने पर्णमणि का अर्थ मतपत्र किया है। फिर चुनाव की प्रक्रिया पर विचार किया गया है।[१] राजा के गुणों का वर्णन, बहुमत से राजा का चुनाव, राज्यच्युति, राजा के दैवी सिद्धान्त का विरोध तथा स्वेच्छाचारी एकतन्त्र का दोष लेखक ने बड़े विस्तार के साथ दिखाया है।[२] वेद स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राजत्व का सैद्धान्तिक विरोध करता है। यकासको शकुन्तिका तथा युद्धरिणो, यवमत्ति (यजुर्वेद २३/ २२-३०) मन्त्रों के उव्वट-महीधर सम्मत अश्लील अर्थों को छोड़कर लेखक ने उक्त मत के समर्थन में नये अर्थ किये हैं। वाक् स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा की गई है।

सारांश यह कि वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त के प्रथम खण्ड में लगभग ६५६ पृष्ठों में लेखक ने राज्य संस्था का विकास—गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि की राज्यविहीन अवस्थापरक व्याख्या, राष्ट्रीयता, राज्यकाल, चुनाव का अधिकार, संघीय राज्यप्रणाली, पाँचवाँ जन, राज्याभिषेक, राज्य तथा नयायव्यवस्था और उदार राजनीति पर प्रकाश डाला है। प्रजाजन और नेताओं के गुणों पर विचार किया गया है। राज्यों के उत्थान-पतन की परिस्थितियाँ बताकर राष्ट्रिय व्यवस्था की ओर इशारा किया गया है। इस प्रकार पहली बार राज्यसंस्था और उसके अंग-उपांगों का वेद-मन्त्रों के सन्दर्भ से मौलिक विवेचन किया गया है। राजनीतिशास्त्र के अध्येताओं को इस खण्ड का विधिवत् अध्ययन करना चाहिए।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड में २६ अध्याय हैं। जैसे प्रथम खण्ड में संविधान काण्ड तथा तृतीय में प्रतिरक्षा काण्ड का विवेचन हुआ है, उसी प्रकार द्वितीय खण्ड का नाम लेखक ने अभ्युदय काण्ड रखकर उसमें राज्य-कल्याण की योजनाओं पर विचार किया है। स्त्रियों को मताधिकार का समर्थन, राजस्व का निर्णय, भूमि की नाप-जोख, कृषि, सिंचाई, अभयारण्य, गो-पालन, अश्व-पालन, पशु-संवर्धन, पुल, व्यापार, शिल्प, उद्योग-धन्धे, गृह-निर्माण, वस्त्र-निर्माण, स्वास्थ्य-विभाग, शिक्षा, विवाह, जनसंख्या पशुसंख्या की गणना तथा राज्य और समाज का संघटन तथा उसकी अर्थव्यवस्था पर सांगोपांग प्रकाश डाला गया है।

भूमि की नाप-जोख की व्यवस्था वैदिककाल में भी थी। अथर्व (१३/१/२७) के **'विमिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनपस्पृगेषा'** मन्त्र में पयस्वती, घृताची तथा पृषती विशेषण वाली पृथ्वी की नाप-जोख का (मिमीष्व) समर्थन लेखक ने निघण्टु

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—पृष्ठ ९५६-९६३
२. वही खण्ड १ —पृष्ठ ९६८।

के आधार पर किया है। पयस्वती का अर्थ है अन्नवाली, घृताची का अर्थ है सजला तथा पृषती का अर्थ है सेचनशीला। विमिमीष्व पद की ध्वनि है कि राज्य की सारी भूमि अच्छी तरह नपी हुई हो। उसके विभिन्न स्थानों के क्षेत्रफल, लम्बाई-चौड़ाई, गहराई-ऊँचाई, नदी-नालों, पहाड़ों-जंगलों का राज्य के पास पूरा विवरण रहना चाहिए। परवर्ती काल में हल्य, सीत्य जैसे विभाग मिलते भी हैं। काशिका में हलस्य कर्षः अर्थात् एक हल की जोत के लिए भूमि माप मिलती है। फिर द्विहल्य तथा त्रिहल्य, द्विकाण्ड, त्रिकाण्ड जैसे नापों का उल्लेख हुआ है। पाणिनि ने **काण्डान्तात् क्षेत्रे** सूत्र में क्षेत्रफल की माप बताने वाले शब्दों की ओर संकेत किया है।

राज्य कृषि के प्रसार और विकास में प्रयत्नशील रहे, इसकी ओर वेद ने संकेत किया है। ऋग्वेद के १८ मन्त्रांश उद्धृत कर कृषि की उन्नति का समर्थन किया गया है। ऋभुओं को कृषि की उपज कई गुणा करने वाले विशेषज्ञ के रूप में चित्रित किया गया है। 'एकं चमसं चतुरः कृणोतन' में चमस का अर्थ चार गुणा अन्न किया गया है। 'इन्द्रः सीतां निगृह्णातु' का अर्थ है कि इन्द्र (सम्राट्) सीता का निग्रह रखे। सीता पर निग्रह रखने का भाव कृषियोग्य भूमि का नियन्त्रण है। सीता शब्द ऋग्वेद और उत्तरकालीन संहिताओं में हल की खूंड या फाड़ के लिए प्रयुक्त हुआ है। अर्थशास्त्र में 'सीता मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च' कहकर इसी अर्थ की रक्षा की गई है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के १०१वें सूक्त के ३-६ मन्त्रों में कृषि का सुन्दर वर्णन हुआ है। दो मन्त्र लीजिए—

युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनो वपतेह बीजाम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमेयात्।
निराहावान् कृणोतन सं वरत्रा दधातन।
सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं थयं सुषेकमनुपक्षितम्।

अर्थात् हे मनुष्यो हल जोड़ो, उनमें बैल जोतने के लिए जूए फैलाओ, हल चलाकर भूमि को अच्छी तरह बीज के लिए उपयुक्त स्थान करके उसमें बीज बोओ, हमारे इस उपदेश से तुम्हारा अन्न खूब भरपूर हो, अनाज के पकने पर उसे काटने के लिए उसके पास काटने के औजार जावें। कुएँ में से पानी निकालने के लिए डोल, चरस आदि पात्र (आहावान्) बनाओ, उनमें रस्से (वरत्राः) बाँधो, जिनसे पानी ऊपर निकाला जा सके, जिनसे सिंचाई सुगमता से हो सके और जिनका पानी कभी समाप्त न हो। इस प्रकार के कुएँ अथवा झील (अवंत) बनाओ और खेती को सींचो। अथर्व में कहा गया है कि कृषि के लिए हल होना चाहिए, उसमें भूमि को फाड़ने के लिए पवि अर्थात् फाल होना चाहिए। वह सुखपूर्वक चलने वाला (सुशीम) तथा मूठ वाला (सोम सत्सरु) हो।

लाङ्गलं पवीर वत्सुशीमं सोमसत्सरु। उदिद्वपतुगाम्। ३/१७/३

राष्ट्र में नहरें खुदवानी चाहिएँ। अथर्व के 'भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो' का यही अर्थ है। ऋग्वेद के १८ मन्त्र देकर नहरों की खुदाई का समर्थन किया गया है। अथर्व

(३/१३) के 'यददः संप्रयतीरहावनदाता हते' जैसे सात मन्त्रों के आधार पर लेखक ने निष्कर्ष निकाला है कि पहाड़ों में बह रही नदियों और नालों के पानी को समुचित स्थानों में रोककर और पहाडों को काटकर नहरें निकालें। स्थल में बह रही नदियों के पानी को रोककर नदियों के किनारों से नहरें खुदवाएँ। उत्स अर्थात् कुएँ और झीलों से नहरें निकालें तथा वर्षा का कृत्रिम झीलों में पानी एकत्र कर उससे नहरें निकलवाएँ। लेखक दुराग्राही नहीं है, उसने इस स्थल पर श्री सायण के अर्थ का भरपूर समर्थन किया है। 'यददः संप्रयतीरिति सूक्त' स्वाभिमत प्रदेशे नदीप्रवाहकरणे विनियुक्तम्' कहकर सायण ने इस सूक्त का विनियोग अपने अभिमत देश में नदी का प्रवाह ले जाने में किया है। नदी-प्रवाह का यहाँ अर्थ नहर ही अभिप्रेत है।

राष्ट्र को जंगलों, पेड-पौधों तथा वनस्पतियों की रक्षा करनी चाहिए। ऋग्वेद के ९५, यजुर्वेद का १ तथा अथर्व का १ मन्त्र देकर लेखक ने इस अभिमत की पुष्टि की है। आज वनों की अंधाधुंध कटाई को देखकर वैज्ञानिक चिन्तित हैं। वृक्षारोपण, वृक्षों के संवर्धन तथा संरक्षण के लिए सरकारें प्रयत्नशील हैं। वेद भी 'वना सिषिक्ति' 'सवना न्यृञ्जते' तथा 'सं यो वना युवते' जैसे मन्त्र जंगलों की उपयोगिता तथा संरक्षण पर बल देते हैं। पुराणों में भी प्रचेताओं के वन-विध्वंस के संकल्प को ब्रह्मा द्वारा तुड़वाने की कथा प्रकारान्तर से वनों के संरक्षण को महत्त्व देती प्रतीत होती है। वेद द्वारा वनों और अरण्यों के रक्षकों का सत्कार करने का विधान होने से यह स्वयं ही सिद्ध हो जाता है कि ऐसे वनपाल राष्ट्र के वनों की रक्षा के लिए रखे जाने चाहिएँ। क्योंकि वनपाल न होने की अवस्था में उनका सत्कार सम्भव ही नहीं हो सकता। वैदिक गृहस्थ के जीवन में गो-पालन का क्या स्थान है, इसका भी विशद निरूपण किया गया है। गौओं की नस्ल को उन्नत करने का विधान बताया गया है तथा सायण की इस कल्पना का साधार खण्डन किया गया है कि बैल को मारकर यज्ञ में डाल देना यज्ञ में विहित है। पशुओं की चिकित्सा की व्यवस्था का संकेत भी दिया गया है। पशुपीड़कों तथा पशुचोरों को दण्डित करने का विधान भी बताया गया है। लेखक ने उन लोगों की धारणाओं का खण्डन भी किया है जो वैदिक युग में माँस भक्षण का समर्थन करते हैं। अथर्व (८/३/१५) तथा ऋग्वेद (१०/८७/१६) के समान मन्त्र 'यः पौरुषेयेण कविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानाः' की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति पुरुष, अश्व तथा अन्य किसी पशु के माँस से अपना शरीर पुष्ट करते हैं, हे साम्राट् तू उनके सिर काट डाल। इसका तात्पर्य यह है कि वेद के अनुसार माँस खाने वाले को प्राणदण्ड मिलना चाहिए।[1] सामान्य नागरिकों की बात छोडिए—वेद तो सैनिकों के भोजन में माँस का निषेध कर गो-दुग्ध, दही,घृत, सोम, मधु, तथा पौष्टिक अन्न का ही विधान करता है। माँस सैनिकों का भोजन नहीं है । यह भ्रान्त धारणा है कि अन्य वर्णों को तो माँस नहीं खाना चाहिए पर युद्ध करने वाले क्षत्रियों के लिए यह

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड २—पृष्ठ १०४

आवश्यक है।[1] ऋग्वेद के द्रप्सिनः, ऋजीषिणः, चित्रवाजान्, तथा घृतमुक्षता मधुवर्णमर्चते जैसे २८ मन्त्र उद्धृत कर लेखक ने इस तथ्य की पुष्टि की है। इससे इतिहासकारों की इस मान्यता का खण्डन होता है कि आर्य माँस और शाक दोनों का आार करते थे। भेड़-बकरों का माँस खाया और देवताओं को चढ़ाय जाता था तथा त्योहारों के अवसर पर या अतिथि-स्वागत के लिए बलिष्ठ बछड़े को काटा जाता था।[2] आचार्य जी ने यजुर्वेद के १३वें अध्याय के ४७ से लेकर ५१ तक के मन्त्रों के आधार पर पशु-वध निषेध का समर्थन किया है। यज्ञों में भी पशु-वध को वह वेदविरुद्ध मानते हैं। अथर्व के (७/५/४-५) दो मन्त्र उद्धृत कर यज्ञ के अध्वर (हिंसारहित) शब्दार्थ की सार्थकता प्रतिपादित की गई है।

प्राचीन भारत की सड़कों तथा परिवहन व्यवस्था पर भी लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सर्वप्रथम 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रन्थ में वारिपथ, स्थलपथ, रथपथ, करिपथ, अजपथ, शंकुपथ, राजपथ, सिंहपथ, हंसपथ तथा देवपथ का उल्लेख किया है।[3] इनमें अन्तिम दो वायुमार्ग के द्योतक थे। नौकाओं का वारिपथ कहलाता था। पहाड़ी किन्तु संकीर्ण मार्ग अजापथ तथा शंकुपथ कहलाते थे। प्रियव्रत जी ने सर्वप्रथम वेद के साक्ष्य पर ३ सड़कों का उल्लेख अथर्व के (१२/१/४७) निम्न मन्त्र के आधार पर किया है—

ये ते पन्थनो वहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे

यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं ज्येमानमित्रंमतस्करं यच्छिव तेन नो मृड़।

इसमें स्पष्ट रूप से जनायनाः (मनुष्यों के चलने के लिए), रथस्यवर्त्मा (रथ तथा तीव्रगामि वाहनों के लिए) तथा अनसः यातवे (भारवाही गाड़ियाँ ढोने के लिए) तीन मार्गों का संकेत दिया गया है। नदियों को पार करने के लिए ऋग्वेद के ४ मन्त्र उद्धृत कर (नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः आदि) वारिपथ का संकेत भी दिया गया है।

अथर्व के (३/१५) वणिक् सूक्त तथा ऋग्वेद के १७ एवं अथर्व के २ मन्त्र उद्धृत कर लेखक ने व्यापार, कराधान, शिल्प तथा उद्योग-धन्धों पर भी प्रकाश डाला है। ऋभु, विभ्वा तथा वाज को उन्होंने तीन वर्गों का प्रतीक बताकर सायण की इस व्याख्या का खण्डन किया है कि ये तीनों सुधन्वा के पुत्र तथा अंगिरा के पौत्र थे। वज्री की तरह वह सुधन्वा का अर्थ सम्राट् करते हैं तथा यास्क के आधार पर ऋभुओं को भी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते। ऋभुओं को वह तक्षण या बढ़ई कला का पण्डित मानते हैं। ऋभु लोग कठोर भूमियों के ऊपर की सख्त पपड़ी तोड़कर रासायनिक प्रयोगों द्वारा उसे कृषि के योग्य नरम भूमि बनाकर उसमें अनाज डालते हैं तथा खेती की भूमि को उपजाऊ बनाने में सहयोग देते हैं। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद (४/३४/४) के 'एकं वि चक्र चमसं चतुर्वयं निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिः' मन्त्र की बड़ी उपयोगी व्याख्या

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड ३—पृष्ठ ८६

२. प्राचीन भारत का इतिहास—डा० रमाशंकर त्रिपाठी—पृष्ठ २८

३. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृष्ठ २३२

कर आचार्य सायण द्वारा कल्पित कथा का खण्डन किया है। ऋभु जल शुद्ध करने वाले, युद्धोपयोगी सामग्री बनाने वाले, विद्युत् चालित रथों के निर्माता, विमान निर्माता विद्वान् शिल्पी के रूप में चित्रित किये गए हैं। ऋग्वेद के (४/३६/१०२) मन्त्रों के आधार पर उन्होंने विमान-प्रक्रिया का संकेत कर इस सम्बन्ध में नवीन दृष्टि डाली है।

गृह-निर्माण तथा वस्त्र-परिधान की चर्चा के बिना वैदिककालीन समाज का सांस्कृतिक पक्ष पूर्णतया उजागर नहीं होता। यों परवर्ती काल में नागरिक जीवन पर प्रकाश डालने वाले अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। राजसभा, गेहगृह, निषद्या (बैठक), आगार, निकाय्य तथा एकशालिक का विवरण भी लिखा गया। घर के लिए वैदिक शब्द क्षय का प्रयोग भी पाणिनिकालीन भाषा में मिल जाता है। नगरमापन शास्त्रों का अस्तित्व भी महाभारत काल में दिखाई पड़ने लगता है। बाद में वास्तुशास्त्र पर समरांगण सूत्रधार जैसे ग्रन्थ भी लिखे गए। आचार्य जी ने वैदिक युग की शालाओं का, आदर्श घरों का एक चित्र प्रस्तुत करते हुए बताया कि घर बनवाने के लिए राज्य के तद्विषयक विभाग से उसकी रूपरेखा प्रमाणित करानी पड़ती थी। अथर्व के (६/१०६) सूक्त के ३ मन्त्रों से मकान का द्वार, आँगन तथा अथर्व के (३/१२/१-२) दो मन्त्रों से उनकी प्रशस्त छतों और अन्य विशेषताओं पर भी प्रकाश पड़ता है। प्रजाजनों की मूल आवश्यकताएँ भोजन, वस्त्र, घर, औषधि तथा शिक्षा हैं। लेखक ने १४ वें, १५वें तथा १६वें अध्याय में विस्तार से इनकी चर्चा की है। सूत कातने तथा वस्त्र बुनने की चर्चा की है। वस्त्र-निर्माण तथा रंगकला पर प्रकाश डाला है। इस प्रकार यह सारा प्रकरण वैदिक काल के सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक परिवेश का सम्यक् चित्रण कर अतीत के सांस्कृतिक गौरव की प्रतिष्ठा करता है।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था

वेद में मनुष्यों की सहज, स्वाभाविक रुचियों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए समाज की रचना का, उसके संघटन का, अपना एक विशेष प्रकार का चित्रण कर मानव मात्र को उसके अनुसार चलने का उपदेश किया गया है। वेद में वर्णित समाज के इस संघटन को वर्णाश्रम धर्म या वर्णाश्रम व्यवस्था कहा जाता है। वेद के पुरुषसूक्त में मनुष्य समाज की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उसे चार विभागों में बाँटा गया है। इन विभागों के नाम हैं —ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः,

ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत। ऋक्० १०/६०/१२, यजुर्वेद ३१/११

अथर्व में (१६/६/६) 'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' पाठ भेद है, शेष पूर्ववत् है। वर्ण-व्यवस्था के समर्थन में उक्त प्रसिद्ध एवं प्रचलित मन्त्र के अतिरिक्त ऋक् (१/११३/६) का एक और मन्त्र **'क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै'** लेखक ने उद्धृत कर मनुष्य की ४ प्रवृत्तियाँ सहज मानी हैं। धर्म भावना और विद्या, शूरवीरता, ऐश्वर्य लालसा तथा सामान्य जीवन-यापन करना। इनमें पहली प्रवृत्ति के लोग ब्राह्मण,

द्वितीय वृत्ति के क्षत्रिय, तृतीय के वैश्य तथा चतुर्थ वृत्ति के शूद्र हैं। अतः वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आधृत न होकर कर्म पर आधारित है। अपने वर्ण का चुनाव व्यक्ति स्वयं करता है। ऐसे मनुष्य समाज के भी दो विभाग हैं, (१) आर्य तथा (२) दस्यु। ब्राह्मणादि के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग विहित है। यह भ्रान्त धारणा है कि दस्यु शब्द के साथ भी वर्ण का प्रयोग होना चाहिए।[1]

वैदिक प्रमाणों से सम्पुष्ट मानव समाज का नया आयाम उनकी द्वितीय पुस्तक 'समाज का कायाकल्प' में उपलब्ध होता है। इसके प्रथम अध्याय में वेद और वर्णाश्रम व्यवस्था, द्वितीय अध्याय में समाज एवं अर्थव्यवस्था, तृतीय में राज्यव्यवस्था तथा चतुर्थ में वर्णाश्रम धर्म की विशेषताओं का निरूपण हुआ है। वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में भी इन्हीं सिद्धान्तों का विवेचन है। वैचारिक दृष्टि से दोनों के निष्कर्ष समान हैं। 'समाज का कायाकल्प' ग्रन्थ की सामग्री का इस द्वितीय खण्ड में बहुत स्थानों पर निवेश भी हुआ है। मनुष्य समाज के घटकों में लेखक परस्पर वैसी और उस प्रकार के सहयोग तथा सहानुभूति की अपेक्षा स्वीकर करता है कि जैसी और जिस प्रकार के शरीर के अंगों में है। कैसी और कितनी परस्पर संवेदना चाहिए, जैसी और जितनी मनुष्य शरीर के अंगों में है। शरीर के किसी भी अंग में पीड़ा होने पर मुँह से आह और आँसू स्वतः निकलने लगते हैं। यही कारण है कि स्वयं वेद भगवान् ने भी समाज के प्रत्येक व्यक्ति को परस्पर सहयोग सहानुभूति का सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए पुरुष शरीर से ही उपमा दी और समाज को भी पुरुष रूप में चित्रित किया। उसके मुख, बाहु, ऊरु और चरण बताकर उनका स्पष्ट रूप में वर्णन भी कर दिया।[2] अथर्व के केन सूक्त में समाजपुरुष का सांगोपांग विवेचन मिलता है। वस्तुतः कर्म, वक्तव्य, मन्तव्य तथा गन्तव्य को ध्यान में रखकर यह रूपक बाँधा गया है। कर्म के लिए हाथ, उपदेश के लिए मुख, स्थिति के लिए उदर तथा गति के लिए चरण का उपमान रखकर इन चार अंगों के स्थानापन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की कल्पना की गई है। अतः मनुष्यों की चार मुख्य वृत्तियाँ ही इन्हें समझना चाहिए। सत्ववृत्ति के लोग ब्राह्मण, रक्षावृत्ति के लोग क्षत्रिय, व्यवसाय वृत्ति के लोग वैश्य तथा इन तीनों वृत्तियों के प्रधान्य भाव से रहित लोग, सेवावृत्ति के लोग शूद्र हैं। वर्ण जन्म पर आधृत न होकर 'वरण' या चयन पर निर्भर करता है, जो व्यक्ति जिस वर्ण के गुण कर्मों का चुनाव अपने जीवन के लक्ष्य के रूप में कर लेगा, उसका वही वर्ण हो जायेगा। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का आधार समाज की सेवा की योग्यता है। किसी विशेष वंश में उत्पन्न होना नहीं।[3]

एक और प्रचलित ऐतिहासिक मान्यता का खण्डन लेखक ने किया है कि दास और दस्यु एक नहीं। वेद में आर्यवर्ण के विपरीत दस्युवर्ण का कहीं विधान नहीं।

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—भाग २—पृष्ठ ३४७
२. समाज का कायाकल्प—पृष्ठ १
३. वही—पृष्ठ १२

दास और दस्यु को पर्यायवाची समझना भी भूल है। दास के साथ वर्ण का प्रयोग वेद में मिलता है—यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः। ऋग्वेद २/१२/४। सायण प्रायः दास का अर्थ दस्यु करते हैं। लेखक दास का अर्थ सेवक करते हैं और अपने समर्थन में 'अरं न दासो मीढुषे कराणि। (ऋग्वेद -/८६/७) मन्त्र उद्धृत करते हैं। इन्द्र के विशेषण के रूप में एक वाक्य 'यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवाधिपाः' –आया है। इसका अर्थ है कि इन्द्र के आर्य और दास (सब जनसमुदाय) शेवाधिपा हैं, खजाने के रक्षक हैं। अतः दास का अर्थ यहाँ शूद्र या सेवक है, दस्यु नहीं। यजुर्वेद जब 'रुचं विश्येषु शूद्रेषु (१८/४८) कहता है तब भाव यह रहता है कि शूद्र प्रेम और करुणा का पात्र है, घृणा और अस्पृश्यता का नहीं। ब्राह्मण तो यजुर्वेद (३०/५) के अनुसार ब्रह्म अर्थात् वेद के अध्ययनार्थ ही निर्मित हुआ है—'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्'। ऋग्वेद के १२, अथर्व के २ तथा यजुर्वेद के १ मन्त्र को उद्धृत कर लेखक ने प्रतिपादित किया है कि उसे भाँति-भाँति की विद्याओं का पण्डित होना चाहिए। उन्हें सत्यप्रिय, तपस्वी, मेधावी, लोकहितैषी, बलिष्ठ, संयमी, अहिंसक, त्यागी—सभी सद्गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। ऋग्वेद के 'तपुर्मूर्धा' (१०/२८२/३) के साक्ष्य से उन्हें सदैव तप निरत रहना चाहिए। 'बृहस्पते परिदीया रथेन' मन्त्र के आधार पर यह साक्ष्य भी मिलता है कि आवश्यकता होने पर वे शस्त्र भी उठा सकते हैं।[1] राष्ट्र-रक्षा क्षत्रिय का कर्त्तव्य है। ऋक् तथा अथर्व दोनों कहते हैं—'तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य'। क्षत्रिय धृतव्रत, ज्ञानी, बलशाली, तेजस्वी, निर्भय, योद्धा तथा यज्ञ-यज्ञादि के पालक होने चाहिएँ। वैश्य अन्न, पशु, धन के उत्पादक तथा रक्षक होने चाहिएँ। वे औशिज हों अर्थात् नित्य नये अनुसन्धान से व्यवसाय को उन्नत करने वाले हों, कक्षीवान् हों अर्थात् कर्मनिष्ठ तथा दक्षहस्त हों। शूद्र ऊँच-नीच की ग्रन्थि से मुक्त बुद्धि अनपेक्ष शारीरिक श्रम करने वाले हों। सेवा और तप उसके जीवन का भी आधार है। कर्त्तव्यपरायणता के लिए 'तपसे शूद्रम्' श्रुति भी आई है। तदुपरान्त ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास की विशेषताएँ बताकर यह निष्कर्ष दिया गया है कि क्रमिक आश्रम प्रवेश ही वेदमूलक है। वसु ब्रह्मचारी ५०-५५ वर्ष तक, रुद्र ३६ वर्ष तक तथा आदित्य ४८ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य रखकर गृहस्थ में ६५,७० तक वानप्रस्थ और फिर संन्यास में जायेंगे। राज्य द्वारा आश्रम व्यवस्था का परिपालन कराया जाना चाहिए। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक मनुष्य की प्रधान मूलभूत आवश्यकताएँ पाँच हैं—भोजन, वस्त्र, घर, औषधि और शिक्षा। इन्हें पाँच आलम्बन पदार्थ कहते हैं। अतः किसी भी राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक प्रजाजन को इन मूलभूत पाँच प्रधान चीजों की प्राप्ति कराये। यदि किसी राज्य के पत्येक प्रजाजन को ये पाँच मौलिक वस्तुएँ प्राप्त नहीं होतीं तो उस राज्य ने कुछ बातों में कितनी ही उन्नति क्यों न कर ली हो, और उसके कुछ लोग कितने ही सुखी क्यों न हों, तो भी वह आदर्श राज्य नहीं हो सकता। वह एक अपूर्ण राष्ट्र है।[2] वर्णाश्रम

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—भाग २—पृष्ठ ३६१

२. वही—भाग २—पृष्ठ ४३६

मर्यादा के ३ तत्त्व हैं—(१) कौशल या योग्यता, (२) शक्ति प्रतिमान अर्थात् पद तथा अधिकार का संतुलित उपयोग तथा (३) यथोचित दक्षिणा या पारिश्रमिक। इन तीनों का ध्यान रखने से ही लोग समाज सेवा के अपने निर्धारित कार्यों को मनोयोगपूर्वक सम्पन्न कर सकेंगे तथा राष्ट्रिय समृद्धि में योगदान कर सकेंगे। वैदिक वर्णाश्रम मर्यादा के अनुसार समाज में तीन वृत्तियों का रहना नितान्त आवश्यक है। एक तो यह कि प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति हर समय कर्म के लिए उद्यत रहेगा। दूसरे जन-कल्याण के लिए सर्वस्व दान करते रहने के व्रत का पालन करेगा तथा तीसरे धन को महत्त्व न देकर कार्य और त्याग भावना को प्रश्रय देगा। स्वाभाविक रूप से वैयक्तिक सम्पत्ति और उत्तराधिकार में मनुष्य का ममत्व केन्दीय परिधि का कार्य करता है। वह स्वयं अर्जन के कारण सम्पत्ति का स्वामी है। पैतृक परम्परा से सम्पत्ति का अधिकार सन्तान को मिलता है—

रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः। ऋक् १/७३/१

वेद कहता है कि जहाँ प्रजाजनों को नित्य श्रम करना होगा।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। ऋक् ४/३३/११

वहाँ राष्ट्र में कोई भूखा तथा दरिद्र न हो, इसका ध्यान सम्राट् को भी रखना होगा—

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुः। ऋक् १०/११७/१

विश्वायुम्ना वृष्ण्या मानुषाणामस्मभ्यं दा हरितो मादयध्यै। ऋक् ६/१९/६

वेद व्यक्ति को जहाँ वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार देते हैं वहाँ उसका दुरुपयोग होने पर राष्ट्र कल्याण कार्यों में दान न देने पर सम्पत्ति को छीनने का अधिकार भी राज्य को देते हैं—

अहं दस्युभ्यः परिनृम्णमा ददे। ऋक् १०/४८/२

सम्राट् अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्। यजुर्वेद ६/२४

इसका तात्पर्य है कि राज्य द्वारा अयज्वा धनपतियों की सम्पत्ति छीन लिये जाने के इस राज्य नियम की विद्यमानता का परिणाम यह होगा कि सभी वैश्य और धनपति अपनी सम्पत्ति को अधिक से अधिक परिमाण में राष्ट्र के भले के लिए लगाने में प्रयत्नशील रहेंगे। जब कभी कोई धनपति वैश्य अनुचित स्वार्थपरायणता का प्रदर्शन करेगा तो इस राजनियम के आधार पर उसकी सम्पत्ति छीन ली जाया करेगी।[1]

इस प्रकार वैदिक वर्णव्यस्था में वर्ण की ही भाँति सम्पत्ति का अधिकार भी जन्म पर नहीं, योग्यता पर आश्रित है। वर्णाश्रम व्यवस्था में केवल किसी का पुत्र होने मात्र से ही कोई किसी सम्पत्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। उसे उसका अधिकार होने की योग्यता भी प्रमाणित करनी होगी। वर्णव्यवस्था में सम्पत्ति विशेष अवस्था में छीनी भी जा सकती है और उस पर राज्य की ओर से कई प्रकार से प्रतिबन्ध भी लगाये जा सकते हैं।[2]

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—भाग २—पृष्ठ ४६८
२. वही—पृष्ठ ४७५

वर्णाश्रम व्यवस्था में सम्पत्ति के विनिमय की बात भी लेखक ने उठाई है। जो व्यक्ति अकेला खाता है वह भोजन नहीं, पाप खाता है—

केवलाघो भवति केवलादी—ऋक् १०/११७/६

इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने से वे बुराइयाँ समाप्त हो जायेंगी जो पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पन्न हो जाती हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (यम) तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर विश्वास (नियम) का पालन करने से मनुष्य का चरित्र ऊँचा उठता है। वर्तमान युग में ऋषि दयानन्द तथा महात्मा गांधी ने इन पर विशेष बल दिया। वैदिक व्यवस्था में चारों वर्ण राष्ट्र के न्यासरक्षक या ट्रस्टी हैं, वे अपनी रुचि से वर्णों का चुनाव करके, उनके कर्तव्य कर्मों को जीवनभर पालन करके राष्ट्र के लिए अर्जित करेंगे। उनका, ज्ञान, बल, धन, कला, कौशल तथा सेवा कार्य राष्ट्र के भले के लिए खर्च होंगे, उनका निजी कुछ न होगा। पूँजीवादी तथा साम्यवादी विचारधारा के लोग देखें, वैदिक व्यवस्था सदुपयोगवाद पर आधारित है। सम्पत्ति का अर्जन जहाँ वैयक्तिक आधार पर है वहाँ उसका स्वामित्व सदुपयोगवाद पर आधारित है। यही एक विभाजक रेखा है जो वर्णाश्रम पद्धति को पूँजीवादी पद्धति से पृथक् करती है।[1]

वर्णाश्रम पद्धति क्योंकि प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति की समर्थक है और साम्यवाद शासन में प्रजाओं की स्वतन्त्र समिति का महत्त्व नहीं मानता, अतः वह पूँजीवाद के समान ही जड़ साम्यवाद से भी स्वयं को भिन्न मानकर चलती है। अतः लेखक की मान्यता है कि राष्ट्रों की प्रचलित समाज व्यवस्थाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था के तत्त्वों का जितना समावेश होता जायेगा वे राष्ट्र की जनता का उतना ही अधिक सुख कल्याण बढ़ाने वाली बनती जायेंगी।[2]

इस प्रकार लेखक ने संविधान, समाज-कल्याण तथा प्रतिरक्षा को केन्द्र बनाकर ऐसे समग्र राजनीतिशास्त्र का प्रतिपादन किया है जो एक ओर वैदिककाल के इतिहास को समझने में सहायक होता है तो दूसरी ओर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन से मेल ही नहीं खाता अपितु दिशाबोध भी कराता है। विश्व की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में वेदों में बिखरी हुई सामग्री का यह आकलन इस तथ्य को सबलता के साथ प्रस्तुत करता है कि वेदों में निर्दिष्ट राजनीतिक चिन्तन प्रौढ़ तथा मानवमात्र के लिए उपयोगी तथा हितकारी है, किसी भी जन, किसी भी राज्य तथा किसी भी व्यवस्था की आदर्श संरचना के लिए कसौटी है। 'प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्र' के प्रणेता इस ग्रन्थ से भरपूर लाभ उठाकर महाभारतोत्तर समाज का मध्यकाल तक क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने की दिशा में यदि अग्रसर होंगे तो यह पुस्तक उनके लिए ज्योतिस्तम्भ का कार्य करेगी। प्राचीन युग में राजशास्त्र धर्मशास्त्र के ही उपयोगी अंग के रूप में विकसित होता रहा, अतः पाश्चात्य पद्धति का राजशास्त्र

१. समाज का कायाकल्प—पृष्ठ १२८
२. समाज का कायाकल्प—पृष्ठ १५३

स्वतन्त्र रूप से विकसित नहीं हो सका। मध्यकाल में राजधर्मशास्त्र के लेखकों ने मनु, बृहस्पति, पराशर, विशालाक्ष, शुक्र, भरद्वाज, भीष्म, कौटिल्य तथा कामन्दक का उल्लेख करते हुए धर्मशास्त्र के अंग के रूप में ही राजधर्म पर विचार किया। विद्वानों का मत है कि राजशास्त्र के विषय पर निबन्ध साहित्य का निर्माण ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से हुआ है। कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र के दादा गोविन्दचन्द्र के महासन्धि विग्रहिक श्री लक्ष्मीधर भट्ट का कृत्यकल्पतरु इस प्रकार की अद्यतन उपलब्ध पहली रचना है। इस कृति का एक प्रधान काण्ड राजधर्म काण्ड है। इसके २१ अध्यायों में उन्होंने राजा, अभिषेक, राजगुण, अमात्य, दुर्ग, कोश, दण्ड, मित्र, राष्ट्रगठन तथा राज्यकल्याण हेतु सम्पन्न होने वाले कृत्यों का उल्लेख किया है। लक्ष्मीधर संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे पर खेद है कि इन्होंने एक भी वेद-मन्त्र उद्धृत नहीं किया। धर्मसूत्र, महाभारत, रामायण तथा गौतम, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, विष्णु, नारद और मनु के सन्दर्भों से ही राज्यव्यवस्था पर प्रकाश डाला। यही स्थिति देवणभट्टकृत स्मृति चन्द्रिका (१३वीं शती) आदि ग्रन्थों की भी है। इन ग्रन्थों की एक बड़ी सीमा यह भी है कि इनमें अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का आश्रय नहीं लिया गया है। हाँ चण्डेश्वर ने १४वीं शती में मिथिला में 'राजनीतिरत्नाकार' की रचना कर राजधर्म को धर्मशास्त्र की गोदी से निकालकर स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके मतानुसार राजनीतिशास्त्र स्वयं में स्वतन्त्र तथा पूर्ण विषय है पर इस निबन्ध के लिए उन्होंने भी धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत तथा नीति ग्रन्थों से ही सामग्री का चयन किया है, वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का वह भी उपयोग नहीं कर सके। इनके परवर्ती मित्रमिश्र ने वीर मित्रोदय में फिर धर्मशास्त्र और राजनीति के शुद्ध स्वरूप पर बल दिया तथा राजधर्म को आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्ड के कृत्यों से पृथक् कर 'नीतिमयूख' के रूप में राजनीतिशास्त्र की रचना की। इस सारी सामग्री के आधार पर महाभारत, मनुस्मृति, अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र का सहारा लेकर लिखे गए मध्यकालीन राजधर्मशास्त्र को हम शुद्ध आधुनिक ढंग का राजनितिशास्त्र नहीं कह सकते। मनु आदि स्मृतिकारों की विवेचना करते हुए आधुनिक विचारक डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर जैसे लोग कहते तो हैं कि मनु यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि किसी भी व्यक्ति का जो कुछ भी धर्म मनु के द्वारा वर्णित है, वह सब वेद में कहा गया है, वेदों में अनेक स्थलों में यह उल्लेख मिलता है कि जिस प्रकार देवों ने किया है उसी प्रकार हम कर रहे हैं। यहाँ देवताओं से अभिप्राय प्राकृतिक प्राण देवताओं से है।[1] किन्तु व्यावहारिक स्तर पर मनु में भी वेद-मन्त्रों के उल्लेख कितने हैं ?

प्रसन्नता की बात है कि शताब्दियों के इतिहास में पहली बार आचार्य प्रियव्रत जी ने 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' ग्रन्थ लिखकर इस बड़े अभाव की पूर्ति की है। इनसे पूर्व वैदिक परम्परा के लोगों में श्री मधुसूदन झा ने 'देवासुरख्याति' में वर्ण

१. प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन—पृष्ठ ३७४

चतुष्टय पर वैज्ञानिक दृष्टि से लिखा था पर समाज के सावयव रूप की जैसी विवेचना आचार्य जी ने 'समाज का कायाकल्प' तथा विवेच्य ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में की है, उनसे पूर्व किसी विद्वान् ने नहीं की। डा॰ भगवानदासकृत 'सांइस आफ सोसल आर्गेनाइजेशन' में अधिक बल इसी बात पर दिया गया है कि प्लेटो को मनु की व्यवस्था का ज्ञान था। अतः पाश्चात्य राजशास्त्र के प्रवर्त्तक भारतीय विचारों से प्रभावित रहे हैं। स्मृतियों द्वारा समर्थित वर्णव्यवस्था के प्लेटो बहुत निकट है। डा॰ जायसवाल और डा॰ अल्तेकर भी स्मृति ग्रन्थों के नवीन व्याख्यान करने में निपुण हैं। यू॰ एन॰ घोषाल के ग्रन्थ 'हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज' में भी मनु आदि स्मृतिकारों की सामग्री का ही उपयोग किया गया है। हाँ, इन लोगों ने कहीं-कहीं कुछ वेद-मन्त्रों का उपयोग किया है, वैदिक राजतन्त्र के सावयव रूप की प्रतिष्ठा में मुख्य रूप से। किन्तु जे॰ जे॰ अनजारिया ने 'पोलिटिकल ओबलिगेशन्स इन हिन्दू स्टेट' में इनके विपरीत विचार व्यक्त किये हैं। उनका कथन है कि वैदिक युग में व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्य के अधिकार में किसी प्रकार का समन्वय नहीं दिखाई देता। श्री पी॰ वी॰ काने ने धर्मशास्त्र के इतिहास में लिखा कि यह यत्न पूरे मध्यकाल तक इसलिए नहीं हुआ क्योंकि १६वीं शताब्दी तक पाश्चात्य देशों में भी प्रजातन्त्र का अभाव था। यह एक पलायनवादी उत्तर है। ऐसी स्थिति में वैदिक युग में प्रजातन्त्र की परिकल्पना करना सहज कार्य नहीं था। आचार्य जी ने इन सभी समस्याओं पर अपने ग्रन्थ में विचार किया है तथा वेद-मन्त्रों से परिपुष्ट भारतीय राजनीतिशास्त्र की स्वतन्त्र रूप में रचना की है। राष्ट्र, प्रशासन, समाज व्यवस्था, आर्थिक समस्या, प्रशासकीय संगठन, अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध, युद्ध, शान्ति, युद्धनीति, न्यायव्यवस्था तथा सम्पत्ति विनिमय, दाय, पुत्रपरिवर्तन तथा सम्पत्ति अधिग्रहण जैसे विषयों पर भी वेद-मन्त्रों का साक्ष्य देकर यह सिद्ध कर दिया है कि वेद द्वारा प्रदत्त राजधर्म सांगोपांग, निर्दोष, हितकर तथा सर्वसुखकारी है। आचार्य प्रियव्रत भारतीय राजनीतिशास्त्र प्रणेताओं में 'वैदिक राजनीतिशास्त्र' के प्रवर्त्तक आचार्य हैं। उन्होंने वेद-मन्त्रों के अनुसार उन राजनीतिक तत्त्वों की खोज की है जिन्हें पाश्चात्य राजशास्त्र की मौलिक देन समझा जाता है।

वैदिक संस्कृति और राजनीति की मूल रूपरेखा आचार्य प्रियव्रत जी ने इसी ग्रन्थ में प्रस्तुत की है। 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' ग्रन्थ की एक तरह यह भूमिका है। अथर्ववेद के भूमिसूक्त को आधार बनाकर राष्ट्र के स्वरूप, राष्ट्रोन्नति के मूलतत्त्व तथा उन्नत समाजव्यवस्था की वैदिक झाँकी प्रस्तुत करना ही ग्रन्थकार का उद्देश्य है। लेखक ने वेद, वेदांग, वेद के भाष्यकार, वेदार्थ शैली के मूल सिद्धान्त, वेद का काल, ऋषि, देवता, छन्द तथा वेद मानवधर्म का मूल स्रोत जैसे विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। महर्षि दयानन्द ही वेदों के ऐसे व्याख्याता हैं जो वेद को मानवमात्र का पथप्रदर्शक शाश्वत धर्मग्रन्थ मानते हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम यह उद्घोष किया था कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और विद्याओं का मूल वेद में ही विद्यमान है। आचार्य प्रियव्रत जी ने स्वामी जी के इसी कार्य और सिद्धान्त को आगे बढ़ाया। आचार्य जी

का कथन है कि वेद केवल भारतीयों का ही धर्मग्रन्थ नहीं है। वेद का उपदेश तो सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने मनुष्यमात्र का कल्याण करने के लिए दिया था। वेद में किसी देश विशेष और जाति विशेष के लोगों को सम्बोधित नहीं किया गया है। उसमें तो मनुष्यमात्र को सम्बोधन किया गया है। उसके उपदेश धरती के सब मनुष्यों के लिए एक समान हैं। वेद की दृष्टि में न तो भारतीय, एशियाई, योरोपीयन, अफ्रीकन का कोई भेद है और न ही काले गोरे और पीले भूरे का कोई भेद है। उसकी दृष्टि में धरती के सब मनुष्य अमर परमात्मा की सन्तान होने के कारण (विश्वे अमृतस्य पुत्राः, ऋग् १०.१३.१) आपस में भाई-भाई हैं और धरती माता पर विचरने वाले इन सब भाइयों के लिए वेद का उपदेश एक समान है। वेद किसी जाति विशेष और देश विशेष के लोगों को सम्बोधन न कर मानव मात्र को सम्बोधन करता है कि हे मानव तू ऐसा कर और ऐसा न कर। इसलिए वेद वस्तुतः मानव का धर्मग्रन्थ है और वेद की संस्कृति मानव की संस्कृति है। वेद को भारतीय आर्यों का धर्मग्रन्थ और उसकी संस्कृति को भारतीय संस्कृति तो इस कारण कह दिया जाता है कि भारतीय आर्यों ने वेद और उसकी संस्कृति को विशेष रूप से सँभालकर रखा है।

यह वह सूत्र है जो आचार्य प्रियव्रत जी की व्याख्या का मूलाधार रहा है। निश्चय ही मध्यकालीन भाष्यकारों ने इस दृष्टि की उपयोगिता नहीं समझी थी और उसका ही दुष्परिणाम था कि वेद जन जीवन से कटकर कर्मकाण्ड तक ही सीमित हो गया था। महर्षि दयानन्द और उनके अनुयाइयों ने वेद की गंगा को इस संकीर्ण घाटी से निकालकर प्रशस्त जीवन मैदान में उतारा और विश्व के सामने वेदों की सार्वभौमता प्रतिष्ठित की। मन्त्रों की इतनी सुन्दर आध्यात्मिक, राष्ट्रिय और समाजोपयोगी तर्क-संगत सुचिन्तित व्याख्या भूमिसूक्त के प्राचीन टीकाकारों के यहाँ उपलब्ध नहीं होती। व्याकरण की टिप्पणियों से संवलित होने के कारण वेद के विद्यार्थियों के लिए इस पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

व्याख्या करते हुए परम्परागत भ्रान्तियों का निराकरण इस पुस्तक की अन्य विशेषता है। उदाहरण के लिए 'तवेमे पृथिवी पञ्च मानवा' मन्त्र में पञ्चमानव का अर्थ चार वर्ण और पाँचवाँ निषाद करते हुए निषाद का यास्काचार्य द्वारा प्रस्तुत अर्थ पाप में रत मानव (निषाण्णमस्मिन् पापकमिति) नहीं करते। क्योंकि वेद में पंच जनाः पंचमानवाः के ऐसे वर्णन मिलते हैं जहाँ पापी अर्थ संगत नहीं बैठता। जैसे पंचजनाः मम होत्रं जुषध्वम् (ऋग् ८/६२/७) आचार्य जी का कथन है कि 'पाँचों प्रकार के लोग मेरे यज्ञ में आकर बैठें।' कोई गृहस्थ यजमान अपने यज्ञ में पापी पुरुष को बुलाना नहीं चाहेगा। एक स्थान पर सम्राट् का वर्णन करते हुए वेद में कहा है, यत् पांचजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत, अस्तृणात् बर्हणा विपोऽर्यो मानस्य सक्षयः (ऋग् ८.६६.६) अर्थात् जब पाँचों जनों से बनी प्रजा सम्राट् (इन्द्र) की पुकार लगाती है तो सम्राट् उनके हिंसक पशुओं को मार देता है और इस प्रकार वह स्वामी सम्राट् बुद्धिमान पुरुषों के मान का आश्रय बनता है अर्थात् उससे मान पाता है। पापी दुष्ट लोग सम्राट् को

नहीं बुलाया करते। वे तो उससे बचा करते हैं। वेद से और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे पता लगेगा कि पंचजनाः के पाँचवें जन का अर्थ पापी नहीं लिया जा सकता।'[1] आचार्य जी व्याख्या करते हुए आगे कहते हैं, 'हमारे राष्ट्र में एक पाँचवें प्रकार के लोग और रहते हैं। वे लोग वे हैं जो अपने किसी विचार भेद के कारण वेद प्रतिपादित धर्म को तथा उसमें प्रतिपादित चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते पर ये लोग इन सिद्धान्तों को न स्वीकार करते हुए भी स्वयं अच्छे लोग हैं, राज्य के सर्वहितकारी नियमों का पालन करते हैं और राष्ट्र की सार्वजनिक उन्नति में सहयोग देते हैं। ये लोग भी हमारे राष्ट्र के अंग हैं, इनहें भी हमारे राष्ट्र में रहने की पूरी स्वतन्त्रता है।'[2] विचार स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन करने वाला यह अर्थ अत्यन्त सार्थक और सटीक है।

इसी प्रकार पुराने भाष्यकार तथा पौराणिक अवतारवाद के समर्थक विद्वानों ने 'वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय' मन्त्र का निहितार्थ वराह अवतार का प्रतिपादन माना है पर आचार्य जी ने ऐसे अर्थों को उलजलूल मानते हुए ऋषि दयानन्द की अर्थ प्रणाली पर निरुक्त के 'वराहः मेघः) के आधार पर सर्वथा नया अर्थ किया है। सूकर का अर्थ वह उत्तम रीति से कर्म करने वाले जन करते हैं। सुकराय ही वैदिक नियमानुसार दीर्घ उकार होकर 'सूकर' बन गया है। आचार्य जी अर्थ करते हैं कि 'हे मातृभूमि ! तुम मेघ से मिली रहती हो। तुम्हारे अधिवासियों के निर्मल जीवन और निर्दोष राज्यप्रबन्ध के कारण भगवान् की तुम पर सदा कृपा रहती है और उस कृपा के कारण सदा ठीक समय पर आकर बादल उचित मात्रा में तुम पर बरसते हैं और उनकी वर्षा से तुम पर यथेष्ट मात्रा में भाँति-भाँति की खेतियें होती हैं। जो लोग सूकर अर्थात् उत्तम रीति से कर्म करने वाले होते हैं, जिनके सब काम तरीके से व्यवस्थापूर्वक होते हैं, जिनके सब कामों में निर्मलता रहती है तथा जो स्वयं पवित्र बनकर अन्य राष्ट्रवासियों को भी पवित्र बनाने का प्रयत्न (मृगाय-शुद्धाय शुद्धाचरण शुद्धिकर्मेच मृगो मार्ष्टेः शुद्धिकर्मणः) करते रहते हैं, उन लोगों को तुम प्राप्त होती हो—उन्हें तुमसे मिलने वाली समृद्धि और सुखमंगदल प्राप्त होते हैं।'[3] आचार्य जी का अर्थ सर्वथा नया और उपयुक्त है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि 'वेद का राष्ट्रिय गीत' राष्ट्र और राष्ट्रनिवासियों को समृद्ध, पवित्र, सदाचारसम्पन्न जीवन की प्रेरणा देने वाली मन्त्रों की उपयोगी व्याख्यासम्पन्न कृति है। उसमें वैज्ञानिक दृष्टि कूट-कूटकर भरी हुई है, तभी वह 'संविदाना दिवाकवे' का अर्थ करते हुए कहते हैं कि पृथिवी सूर्य के चारों ओर भ्रमण करती है।'[4]

निस्सन्देह आज ऐसी ही विमल तथा सर्वजनोपयोगी व्याख्याओं की आवश्यकता

१. वेद का राष्ट्रिय गीत—पृष्ठ ५०
२. वही —पृष्ठ ५०
३. वही —पृष्ठ ११३
४. वही—पृष्ठ १४२

है। वेद का स्वच्छ, निर्भ्रान्त तथा विश्वजनोपयोगी अर्थ उसके सार्वभौम रूप की प्रतिष्ठा के लिए नितान्त आवश्यक है।

इस कृति का प्रथम प्रकाशन १९५५ में गुरुकुल स्वाध्याय मंजरी के २४वें पुष्प के रूप में हुआ था। वर्षों से यह पुस्तक अप्राप्त थी। देशभर से लोगों की माँग आ रही थी कि यह पुस्तक पुनः प्रकाशित हो। मैं गुरुकुल के कुलपति डा० धर्मपाल जी आर्य को विशेष धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को पुनः प्रकाशित करने का संकल्प लिया और उसके लिए आवश्यक धन जुटाकर सारस्वत यज्ञ को सम्पन्न कराया। विश्वविद्यालय के कुलसचिव डा० जयदेव वेदालंकार तथा वित्ताधिकारी श्री जयसिंह गुप्त भी साधुवाद के पात्र हैं। प्रकाशन कार्य में सक्रिय रुचि लेकर डा० जगदीश विद्यालंकार ने विचारशील पाठकों के हाथों में इस उत्तम कृति को पहुँचाने में मदद की, वह भी साधुवाद के पात्र हैं।

अन्त में विश्वविद्यालय के मान्य परिद्रष्टा न्यायमूर्ति श्री महावीरसिंह जी तथा कुलाधिपति प्रो० शेरसिंह जी के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जो विश्वविद्यालय की प्रभामण्डित छवि को गारिमा प्रदान करने के लिए निरन्तर चेष्टाशील हैं।

आशा है, वेदप्रेमी पाठक आचार्य जी की इस कृति को उसी उत्साह और उमंग से अपनाएँगे जिस उत्साह और उमंग से वे उनकी अन्य रचनाओं को पढ़ते-पढ़ाते रहे हैं।

फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी
बोधरात्रि, संवत् २०५०
१० मार्च, १९९४
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

डा० विष्णुदत्त राकेश
पीएच० डी०, डी० लिट्०
अधिष्ठाता मानविकी संकाय तथा निदेशक
स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र

भूमिका

प्राचीन भारतीय आर्यों का वेदों के सम्बन्ध में विश्वास

भारतीय आर्य लोगों का बहुत पुराना—शायद इतना पुराना जितनी पुरानी कि स्वयं सृष्टि है—विश्वास है कि करुणामय भगवान् ने मनुष्य-जाति के कल्याणार्थ, उसे अभ्युदय और निःश्रेयस—ऐहिक और पारलौकिक चरम सुख—की प्राप्ति का सत्य और सरल मार्ग दिखाने के लिये सृष्टि के आरम्भ में वेदों का प्रकाश किया था और ये वेद अखिल विद्या-विज्ञानों के भण्डार हैं। ब्राह्मण और उपनिषदें, दर्शन और स्मृति-ग्रन्थ, पुराण तथा रामायण और महाभारत, सब-के-सब वेदों के इस परम महत्त्व की ऊंचे स्वर से घोषणा कर रहे हैं। एक शब्द में, आर्य जाति का समग्र साहित्य वेदों की महिमा के गीत गा रहा है। आर्यों के विगत इतिहास में कुछ-एक को छोड़ कर, कोई ऐसा नाम लेने योग्य नेता या विचारक नहीं हुआ जिस ने वेदों के इस महत्त्व को मानने से इन्कार किया हो।

वेद और शतपथ ब्राह्मण

ब्राह्मण-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण की वेदों के सम्बन्ध में राय है कि "ऋग्वेद आदि चारों वेद परमात्मा ने इस प्रकार अनायास उत्पन्न कर दिये हैं जिस प्रकार कि श्वास-प्रश्वास की क्रिया अनायास होती रहती है[1]।" वेदों का ईश्वर-कर्तृत्व बताने के लिये शतपथ-ब्राह्मणकार रूपक से वेदों को ईश्वर का निःश्वसित अर्थात् श्वास ही कह देता है। वेदों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शतपथ-ब्राह्मण के कर्ता महर्षि याज्ञवल्क्य एक दूसरे स्थान पर लिखते हैं—"उस प्रजापति परमात्मा ने श्रम किया, तप किया, और इस अपने तप द्वारा उस ने त्रयी-विद्या रूप ब्रह्म को, वेद को, सब से प्रथम उत्पन्न किया[2]।" इस प्रकार शतपथ-ब्राह्मण-कार की सम्मति में वेद सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को परमात्मा द्वारा सब से पहले दिया गया ज्ञान है।

---

१. एवं अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्।
एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥ श० १४। ५। ४। १०॥

२. स (प्रजापतिः) श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्।
श० ६। १। १। ८॥

एक दूसरी जगह यही ग्रन्थ कहता है—"सृष्टि के स्वामी प्रजापति ने सब भूतों (सृष्टि) को देखा और कहा—त्रयी-विद्या में, चारों वेदों में[१], सब भूत आ जाते हैं अर्थात् वेदों में सब भूतों का ज्ञान है, इस लिये त्रयी-विद्या को ही आत्मा की उन्नति और पूर्णता के लिये देता हूँ[२]।"

इसी ब्राह्मण में अन्यत्र लिखा है—"प्रजापति ने सब भूतों को देखा। उसने सब भूतों को त्रयी-विद्या में, चारों वेदों में, पाया। त्रयी-विद्या में ही सब छन्द, स्तोम, प्राण और देवों का आत्मा पाया अर्थात् त्रयी-विद्या में इन सब का ज्ञान निहित देखा। त्रयी मरणधर्मा मनुष्यों के लिये है[३]।" इतना ही नहीं, शतपथ ब्राह्मण की सम्मति में वेदों में जो ज्ञान दिया गया है वह पूर्ण सत्य है। वेदों में त्रैकालिक सत्यों का उपदेश दिया गया है। इसलिये वेद सत्य-रूप हैं। शतपथ के शब्द हैं—"सो जो कुछ सत्य है वह त्रयी-विद्या है[४]।" अर्थात् वेद में सत्य ही सत्य है, सत्य से भिन्न उस में कुछ भी नहीं है। और क्योंकि वेद में सत्य का ही प्रतिपादन और उपदेश किया गया है इस लिये मनुष्य को ऊंचा उठाने के लिये वेद के अध्ययन और तदनुकूल आचरण से बढ़ कर और कोई वस्तु नहीं हो सकती। शतपथ अपने कवितामय ढङ्ग में कहता है—"त्रयी-विद्या ही अन्न है[५]।" शतपथ ब्राह्मण के कर्ता की सम्मति में वेद के अध्ययन से बढ़ कर और कोई मानसिक और आध्यात्मिक भोजन नहीं हो सकता।

---

१. चारों वेदों का नाम ही त्रयी-विद्या है। इस सम्बन्ध में इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ६३ पर संख्या १ की टिप्पणि देखिये। शतपथ के अभी ऊपर उद्धृत वाक्य में चारों वेदों का नाम आया ही है।

२. स ऐक्षत प्रजापतिः। त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि। हन्त त्रयीमेव विद्यामात्मानमभिसंस्करवै इति। श० १०। ४। २। २२॥

३. अथ सर्वाणि भूतानि पर्यैक्षत्। स त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्। अत्र हि सर्वेषां छन्दसामात्मा, सर्वेषां स्तोमानाम्, सर्वेषां प्राणानाम्, सर्वेषां देवानाम्। एतद्वै अस्ति एतद्ध्यमृतम्। यद्ध्यमृतं तद्ध्यस्ति। एतदु तद्यन्मर्त्यम्। श० १०। ४। २। २१॥

४. तद्यत्सत्यम् त्रयी सा विद्या। श० ६। ५। १। १८॥

५. अन्नं वै त्रयी विद्या। श० ६। ३। ३। १४॥ ताण्डय ब्राह्मण में भी सामवेद के सम्बन्ध में यही बात कही गई है। वहां सामवेद को देवों अर्थात् विद्वान् पुरुषों का अन्न कहा गया है। भाव यह है कि सामवेद के अध्ययन और तदनुसार आचरण से मनुष्य देव बन जाता है। ताण्डय ब्राह्मण का वाक्य है—"साम

वेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण

तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक कथा आती है कि "भरद्वाज ऋषि ने तीन जन्मों में आजन्म ब्रह्मचर्य धारण कर के वेदों का ही अध्ययन किया। जब वह वृद्ध हो कर मृत्यु-शय्या पर पड़ा था तब इन्द्र ने उस से कहा कि अगर मैं तुम्हें चौथा जन्म और दे दूं तो तुम क्या करोगे? भारद्वाज ने उत्तर दिया कि उस जीवन में भी मैं आजन्म ब्रह्मचारी रह कर वेदों का ही स्वाध्याय करूंगा। इस पर इन्द्र ने उसे तीन बड़े-बड़े अज्ञात पहाड़ से दिखाये और हर-एक से एक-एक मुट्ठी ले कर कहा—भरद्वाज! आओ, देखो, ये वेद हैं। ये अनन्त हैं। तू तो तीनों जन्मों में भी इतना थोड़ा सा ही पढ़ पाया है। अधिकांश तो तेरे लिये अज्ञात ही पड़ा है। आओ इसे जानो। इस में सब विद्यायें हैं[1]।" इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण की सम्मति में वेद में अनन्त विद्या-विज्ञान भरे हुए हैं। यही ब्राह्मण एक स्थान पर ऋग्वेद और सामवेद की प्रशंसा करता हुआ, इन वेदों में पाये जाने वाले महान् ज्ञान को दृष्टि में रख कर कहता है—"ऋग्वेद और सामवेद सरस्वती के झरने हैं[2]।" जैसे पर्वत से निकलने वाले झरनों से पानी की असीम धारायें प्रवाहित हो कर प्यासे और सन्तप्त प्राणियों की प्यास बुझाती और उन्हें शान्ति प्रदान करती रहती हैं उसी प्रकार ऋग्वेद और सामवेद से सरस्वती की, भांति-भांति के ज्ञान की, असीम धारायें प्रवाहित होती हैं और वे जिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा को बुझा कर उन्हें पूर्ण शान्ति

देवानामन्नम्" (तां० ६। ४। १३)। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में भी सामवेद को जिज्ञासुओं के स्वाध्याय का अन्न कहा गया है। ब्राह्मण का वाक्य है—"स (प्रजापतिः) अब्रवीदेकं वा वेदमन्नाद्यमसृक्षि सामैव" (जै०उ०ब्रा०१। ११। ३), अर्थात् प्रजापति परमात्मा ने सामवेद को स्वाध्याय करने वालों का अन्न बनाया है। ताण्ड्य और जैमिनीय ब्राह्मणों का सामवेद-सम्बन्धी यह कथन चारों ही वेदों का उपलक्षण है।

१. भरद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच, भरद्वाज यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमेतेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपानिवाज्ञातानिव दर्शयांचकार। तेषां ह एकैकस्मान्मुष्टिमाददे। स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य। वेदा वै एते। अनन्ता वै वेदाः। एतद्वै त्रिभिरायुभिरन्ववोचेथाः। अथ त इतरदननूक्तमेव। एहि इमं विद्धि। अयं वै सर्वा विद्या इति। तै० ३। १०। ११। ३-४॥

२. ऋक्सामे वै सारस्वतावुत्सौ। तै० १। ४। ४। ६॥

प्रदान करती हैं। ऋग्वेद और सामवेद तो उपलक्षणमात्र हैं, संकेतमात्र हैं, चारों वेद ही सरस्वती के अस्फुट स्रवने हैं। वेदों में ऊंचे से ऊंचा आध्यात्मिक ज्ञान भी दिया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का इस सम्बन्ध में कहना है—"जो वेद को नहीं जानता है वह उस महान् परमात्मा को नहीं जान सकता है[१]।" ब्राह्मणकार की सम्मति में परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने का उपाय वेद का गहरा स्वाध्याय और मनन ही है।

वेद और छान्दोग्य ब्राह्मण

वेदों के मन्त्रों का एक अति प्रसिद्ध नाम 'छन्दः' भी है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में मन्त्रों के इस 'छन्दः' नाम की बड़ी सुन्दर व्याख्या की गई है। छन्दः शब्द संस्कृत की जिस धातु[२] से बनता है उस का अर्थ ढकना होता है। इस धात्वर्थ को ध्यान में रख कर ब्राह्मणकारों ने अपनी व्याख्यायें की हैं। इस शब्द की व्याख्या करते हुए छान्दोग्य ब्राह्मण कहता है—"देवों को मृत्यु से भय लगा। वे त्रयी-विद्या अर्थात् वेदों में प्रविष्ट हो गये और उन्होंने वेदों के छन्दों (मन्त्रों) से अपने आप को ढक लिया। छन्दों का छन्दपना यही है कि देवों ने मृत्यु से बचने के लिये इन से अपने आप को आच्छादित कर लिया, ढक लिया[३]।" इस शब्द की यही व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में भी की गई है। शतपथ के शब्द हैं—"मृत्यु से डरते हुए देवों ने क्योंकि इन से अपने आप को आच्छादित कर लिया, ढक लिया, यही छन्दों का छन्दपना है[४]।" ब्राह्मणकारों की इस प्रकार की कवितामयी आलंकारिक व्याख्याओं का सीधी भाषा में भाव यह है कि वेदमन्त्रों में जो ज्ञान और उपदेश दिया गया है उस के अनुसार जीवन बिताने से मनुष्य मृत्यु के भय से पार हो जाता है, उसे अमरता के जीवन की कुञ्जी मिल जाती है और उस का जीवन दिव्य

---

१. नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्। तै० ३। १२। ६। ७॥ कठोपनिषद् के "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (कठ० उ० २। १५), इस वाक्य में भी प्रकारान्तर से इसी भाव को प्रकट किया गया है कि वेदों में परमात्मा-सम्बन्धी ऊंचा आध्यात्मिक ज्ञान दिया गया है।

२. छद अपवारणे। छदि संवरणे।

३. देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशँस्ते छन्दोभिरच्छादयन् यदेभिरच्छादयन् तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। छा० ३। ४। २॥

४. यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतः तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। श० ४। ५। १। १॥

जीवन बन जाता है। इस प्रकार इन ब्राह्मण-ग्रन्थों की सम्मति में वेद वे ग्रन्थ हैं जिन में मनुष्य के जीवन को दिव्य बना कर उसे मृत्यु के भय से पार उतारने और अमरता की ओर ले जाने वाले उपदेश दिये गये हैं।

वेद और उपनिषद्

भारतीय साहित्य में उपनिषदों का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है उस के सम्बन्ध में यहां अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। उपनिषदों की तुलना के दूसरे ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य में तो हैं ही नहीं, संसार की किसी अन्य भाषा के साहित्य में भी इन की तुलना के ग्रन्थ नहीं मिल सकते। विश्व-साहित्य में उपनिषद् अपने ढंग के अकेले हैं। उपनिषदों में भारतीय अध्यात्म-चिन्तना अपनी चरम सीमा तक पहुंची है। भारत और भारत से बाहर के अनेक विद्वानों ने उपनिषदों की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने उपनिषदों के अध्यात्म-विज्ञान पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं। शोपनहार जैसे प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक विद्वान् ने उपनिषदों को जीवन में और जीवन की समाप्ति पर मृत्यु-समय में शान्ति देने वाला माना है। शङ्कराचार्य जैसे भारतीय दार्शनिकों ने अपने दर्शन-शास्त्र का भवन उपनिषदों की आधार-शिला पर ही खड़ा करने का प्रयत्न किया है। भारतीय परम्परा में उपनिषदों को वेदान्त कहा जाता है। इन में वेद के अन्त अर्थात् अन्तिम सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है ऐसा समझा जाता है। उपनिषदों के इस वेदान्त नाम से ही वेदों और उपनिषदों के सम्बन्ध पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ जाता है। शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों की वेद के सम्बन्ध में जो सम्मति है उसे अभी ऊपर दिखाया गया है। ये ब्राह्मण वेदों की ही व्याख्यायें हैं। उदाहरण के लिये, शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद की व्याख्या है। उपनिषदें प्रायः इन ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही एक भाग हैं। जैसे, प्रसिद्ध बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग है और छान्दोग्य उपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मण का भाग है। अन्य उपनिषदें भी प्रायः ब्राह्मणों के ही भाग हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों से अलग कर के उपनिषदों को पृथक् ग्रन्थों के रूप में प्रचलित कर दिया गया है। इस लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों की वेद की महत्ता के सम्बन्ध में जो सम्मति है वही सम्मति वेद की महत्ता के सम्बन्ध में उपनिषदों की भी है। ब्राह्मणकारों ने वेदों की व्याख्या करते हुए वेदों के जो अध्यात्म-विद्या-विषयक सिद्धान्त समझे हैं उन्हीं को उन्होंने अपनी भाषा में अपने ग्रन्थों के उपनिषद्-नामक प्रकरणों में अंकित किया है। इस प्रकार उपनिषदें वेद के सिद्धान्तों की ही व्याख्यायें हैं और वेद की ही महिमा का गान करती हैं। प्रसिद्ध ईश-उपनिषद् तो कहीं-कहीं थोड़े शाब्दिक परिवर्तन के साथ यजुर्वेद का

सारा-का-सारा चालीसवाँ अध्याय ही है । वेद और उपनिषदों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है । उपनिषदों की सम्मति में वेदों का अन्तिम प्रयोजन आध्यात्म-विद्या का उपदेश कर के ब्रह्म का साक्षात्कार कराना है । कठोपनिषद् का प्रसिद्ध वाक्य है कि "सारे वेद प्राप्त करने योग्य जिस ब्रह्म का वर्णन करते हैं, जिसे प्राप्त करने के लिये सब प्रकार की तपस्यायें की जाती हैं और जिसे ही प्राप्त करना चाहने वाले अभ्यासी लोग ब्रह्मचर्य का सेवन करते हैं, उस प्राप्त करने योग्य ओम्-पद-वाच्य ब्रह्म का मैं संक्षेप में प्रवचन करता हूँ[१] ।" उपनिषद् ने यहां स्पष्ट कहा है कि वेद ब्रह्म का उपदेश करने वाले ग्रन्थ हैं । इस प्रकार उपनिषदों के अनुसार वेदों में ऊंचा आध्यात्मिक ज्ञान भरा हुआ है । और स्वयं उपनिषदें भी वेदों के आध्यात्मिक ज्ञान का ऋषियों द्वारा अपनी भाषा में व्याख्यानमात्र हैं ।

वेद और मनु

महाराज मनु आर्यों के प्रसिद्ध धर्मशास्त्रकार (Law-giver) हुए हैं । उन के महान् ग्रन्थ मनुस्मृति की आर्यों में बहुत भारी प्रतिष्ठा है । उन का यह ग्रन्थ आर्यों के धर्म अर्थात् कानून के ग्रन्थों में सब से अधिक आदरणीय और प्रामाणिक माना जाता है । महाराज मनु के इस महान् ग्रन्थ की मनुष्य के वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और राजनीतिक तथा ऐहलौकिक और पारलौकिक जीवन के सम्बन्ध में अत्यधिक उपयोगिता को अनुभव करने के कारण प्राचीन आर्यों की धारणा रही है कि "मनु महाराज जो कुछ कह गये हैं वह ओषधियों की ओषधि है[२] ।"

भारतीय समाज में तो मनु महाराज का असीम आदर है ही, पाश्चात्य जगत् के अनेक विद्वानों ने भी मनु महाराज के ग्रन्थ की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है और उस में प्रतिपादित सिद्धान्तों को मानव-जाति के लिये परम उपयोगी बताया है । उदाहरण के लिये रूस के एक भारी विद्वान् औसपैंस्की ने "ए न्यू मौडल आफ् दि यूनीवर्स" (संसार का एक नया संगठन) नामक ग्रन्थ लिखा है । यह ग्रन्थ रूस के एकाधिपति शासक स्टैलिन के शासनकाल में लिखा गया है । स्टैलिन के विचारों से भिन्न प्रकार के विचार रखने के कारण जिस प्रकार ट्रौटस्की आदि प्रसिद्ध रूसियों को रूस छोड़ कर दूसरे देशों में भाग जाना पड़ा उसी प्रकार

---

१. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति, यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ कठ० उ० २ । १५ ॥

२. मनुर्वै यत्किञ्चिदवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः ॥ छान्दोग्य ब्राह्मण ।

औसपैंस्की को भी रूस छोड़ कर भाग जाना पड़ा। औसपैंस्की ने अपने इस ग्रन्थ के एक अध्याय में मनुस्मृति के श्लोकों का उद्धरण दे कर प्रतिपादित किया है कि मनु की वर्णाश्रम-व्यवस्था मनुष्य-समाज का सर्वश्रेष्ठ संघटन है। वर्णाश्रम-व्यवस्था कम्यूनिज्म (साम्यवाद) और कैपिटलिज्म (पूंजीवाद) दोनों के दोषों से तो रहित है, परन्तु दोनों के गुण उस में समाविष्ट हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्था में अनेक ऐसे सुन्दर तत्त्व विद्यमान हैं जो साम्यवाद और पूंजीवाद दोनों में ही नहीं हैं। गुण-कर्म पर आश्रित वर्णाश्रम-व्यवस्था से बढ़ कर और कोई श्रेष्ठ व्यवस्था मानव-समाज की नहीं सोची जा सकती। जब तक संसार में फिर से मनु की वर्णाश्रम-व्यवस्था की स्थापना नहीं होती तब तक अन्य किसी व्यवस्था से मनुष्य-जाति का पूर्ण और सच्चा कल्याण नहीं हो सकता[१]।

ये मनु महाराज भी वेद को परमेश्वर द्वारा प्रणीत और सब प्रकार के ज्ञान का आकर मानते हैं। वेद परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं इस का प्रतिपादन करते हुए मनु महाराज कहते हैं—

"सनातन वेदों को परमात्मा ने सृष्टि के आरंभ में अग्नि आदि ऋषियों पर प्रकट किया ताकि सब प्रकार के यज्ञों (व्यवहारों) की सिद्धि हो सके[२]।" भगवान् मनु वेदों की सर्व-विद्या-प्रतिपादकता का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

"परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में वेदों के शब्दों से ही सब चीजों और प्राणियों के नाम और कर्म तथा लौकिक व्यवस्थाओं की रचना की है[३]।"

इतना ही नहीं, मनु महाराज की सम्मति है कि धर्म के शुद्ध और वास्तविक स्वरूप को वेद के अध्ययन से ही जाना जा सकता है। वे कहते हैं—"सम्पूर्ण वेद धर्म के मूल अर्थात् प्रमाण हैं[४]।" "जो लोग धर्म को जानना चाहते हैं उन के लिये वेद परम प्रमाण हैं[५]।" मनु महाराज ने जहां धर्म की चार कसौटियें बताई हैं वहां सब से प्रधान और प्रामाणिक कसौटी वेद को बताया है[६]।" वेदों की

---

१. Auspensky's—A New Model of the Universe.

२. अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्-यजुः-साम-लक्षणम्॥ मनु० १। २३॥

३. सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद-शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु० १। २१॥

४. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। मनु० २। ६॥

५. धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। मनु० २। १३॥

६. मनु० २। ६, १२॥

महिमा बताते हुए भगवान् मनु वेद में निहित ज्ञान की ओर संकेत करते हुए अपने ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में लिखते हैं—

"चारों वर्ण, चारों आश्रम, तीनों लोक (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ), भूत, भविष्य और वर्तमान में होने वाली सारी चीजें, ये सब वेद से ही जाने जाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध (इन के सम्बन्ध का सम्पूर्ण ज्ञान) वेद से ही जाने जाते हैं। सनातन वेदशास्त्र ही (अपने उपदेशों द्वारा) सब भूतों का पालन कर रहा है इस लिये मनुष्य का उसे सिद्ध करना—भलीभांति जानना—ही मुख्य कर्त्तव्य है। निश्चय ही वेदशास्त्र को जानने वाला व्यक्ति सेनापत्य अर्थात् सेनाओं का सञ्चालन (Command of armies), राज्य अर्थात् राज्य-शासन का सञ्चालन (Governance of a country), दण्ड-नेतृत्व अर्थात् न्याय-व्यवस्था का संचालन (Administration of Justice) और सर्व-लोकाधिपत्य अर्थात् सारी धरती के राज्य का संचालन (Governance of the whole world) कर सकता है[1] (अर्थात् वेद में राजनीति-शास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान भरा हुआ है)।"

इस प्रकार मनु महाराज की सम्मति में वेद सब विद्याओं का महान् आगार हैं। इस लिये वे कहते हैं कि "वेद पितृ-कोटि के और देव-कोटि के मनुष्यों तथा साधारण कोटि के मनुष्यों के सनातन चक्षु हैं। कोई मनुष्य वैसे ग्रन्थ नहीं बना सकता। वेद में जितना ज्ञान है उसे नापा नहीं जा सकता[2]।" इस लिये मनु महाराज की सम्मति में जो "द्विज वेद तो पढ़ता नहीं और अन्य ग्रन्थों में परिश्रम करता रहता है वह शूद्र हो जाता है[3]।" मनु की सम्मति में द्विजों को वेद पढ़ने के साथ-साथ अन्य ग्रन्थ पढ़ने चाहिये। सब प्रकार के ज्ञान का

---

१. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पंचमः। वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्। तस्मादेतत् परम्मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च। सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ मनु० १२। ९७-१०० ॥

२. पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ मनु० १२। ९४ ॥

३. योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ मनु० २। १६८ ॥

समृद्ध होने के कारण मनु महाराज की वेद में इतनी श्रद्धा है कि उन्होंने वेद की निन्दा करने वाले को नास्तिक[1] ही कह दिया है। मनु की सम्मति में वेद का अध्ययन और उस के अध्ययन से प्राप्त होने वाला कर्मयोग अर्थात् कर्मानुष्ठान बहुत चाहने योग्य वस्तु है[2]। ये हैं वेद के सम्बन्ध में मनु महाराज के उद्गार!

वेद और वेदान्त-दर्शन तथा शङ्कराचार्य

इतना ही नहीं, भारतीय आर्यों के मन में वेदों का महत्त्व कितना अधिक था, वेदों को वे किस प्रकार अनेक विद्या-विज्ञानों का गम्भीर रत्ननिधि समझते थे, इसे समझने में सहायता देने के लिये वेदान्तदर्शन-शांकरभाष्य से कुछ पंक्तियें उद्धृत की जाती हैं। दार्शनिक लोग ईश्वर-सिद्धि के लिये सृष्टि-कर्तृत्व की युक्ति दिया करते हैं। जिस प्रकार एक घड़ी स्वयं नहीं बन सकती, उस की जटिल और सूक्ष्म रचना हमें किसी रचयिता का अनुमान करने के लिये बाधित करती है, उसी प्रकार यह विश्व-ब्रह्माण्ड भी अपने आप नहीं बन सकता, इस की जटिल और सूक्ष्म रचना भी हमें किसी निर्माता का अनुमान करने के लिये बाधित करती है। वेदान्तदर्शन के प्रथमाध्याय के दूसरे सूत्र "जन्माद्यस्य यतः[3]" में महर्षि व्यास ब्रह्म (ईश्वर) की सिद्धि के लिये इसी सृष्टि-कर्तृत्व की युक्ति का आश्रय लेते हैं। पर वेदान्त के रचयिता को मानो इतने से सन्तोष नहीं होता। वे ब्रह्म की सिद्धि के लिये एक दूसरी युक्ति देते हैं। वह है वेदों का कर्तृत्व (Authorship of the Vedas)। इस के लिये वेदान्त के लेखक अगला सूत्र बनाते हैं—"शास्त्रयोनित्वात्", अर्थात् "वेद जैसी ज्ञान की भण्डार पुस्तकें अपने आप नहीं बन सकतीं, इस लिये कोई उन का कर्त्ता होना चाहिये और वह कर्त्ता है ब्रह्म।"

इस सूत्र के शांकर-भाष्य की कुछ पंक्तियें देखने योग्य हैं। भारतीय पण्डित-समाज में शङ्कराचार्य की जो प्रतिष्ठा है वह अद्वितीय है। उन का

---

१. योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ मनु० २।११॥

२. कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥ मनु० २।२॥

३. सूत्र का शब्दार्थ यह है कि "जिस से इस जगत् की उत्पत्ति आदि होती है वह ब्रह्म है।" सूत्र का आदि शब्द जगत् की स्थिति और प्रलय की ओर भी निर्देश करता है। भाव यह है कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्त-कारण ब्रह्म (परमेश्वर) है।

संस्कृत भाषा पर अगाध अधिकार था। उन्होंने अपने ग्रन्थों में जो भाव-गम्भीर, सरस, सुन्दर और प्रवाही संस्कृत लिखी है उस से उत्कृष्ट संस्कृत लिखी नहीं जा सकती। उन का तर्क भी अद्वितीय था। उन के ग्रन्थों का भारतीय पण्डित-मण्डली पर इतना गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है कि यदि यह कह दिया जाये कि शङ्कराचार्य का भारतीय पण्डित-समाज पर अखण्ड साम्राज्य है तो इस में बहुत अत्युक्ति न होगी। विरले विद्वानों को उन के सिद्धान्तों के प्रतिवाद में खड़े होने का साहस हुआ है। भारतीय पण्डित-समाज ही शङ्कर का लोहा नहीं मानता है, विदेशी विद्वान भी शङ्कर की विद्वत्ता का महान् आदर करते हैं। अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक विलियम जेम्स अपने समय के मनोविज्ञान-शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने एक जगह लिखा है कि शङ्कर संसार के अद्वैतवादी दार्शनिकों के सम्राट्[१] हैं। जेम्स की सम्मति में संसार के किसी चैतन्याद्वैतवादी और जडा-द्वैतवादी दार्शनिक का अद्वैतवाद शङ्कर के अद्वैतवाद की तुलना नहीं कर सकता। जर्मनी के महान् दार्शनिक काण्ट के समकक्ष तो शङ्कराचार्य को माना ही जाता है। अनेक विद्वानों की राय में शङ्कर काण्ट से भी ऊंचे दार्शनिक थे। ऐसे उद्भट प्रतिभाशाली महान् दार्शनिक आचार्य शङ्कर वेदान्त-दर्शन के इस सूत्र पर भाष्य करते हुए वेदों के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"ऋग्वेदादि वेद-शास्त्र अनेक विद्याओं से युक्त हैं। दीपक की भांति सब पदार्थों का बोध कराने वाले हैं। इन में इतना अधिक ज्ञान भरा हुआ है कि ये सर्वज्ञ जैसे दीखते हैं। इन का कारण ब्रह्म ही हो सकता है। ऐसे सर्वज्ञता के लक्षण से युक्त ऋग्वेदादि शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ से भिन्न किसी अन्य से नहीं हो सकती। हम संसार में देखते हैं कि पाणिनि आदि ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में जितना ज्ञान होता है उस से कहीं अधिक ज्ञान उन के मस्तक में रहता है। तभी वे वैसे ग्रन्थ लिख पाते हैं। ऋग्वेदादि का तो कहना ही क्या? वे तो सब प्रकार के ज्ञान के समुद्र हैं। उन की उत्पत्ति तो सर्वज्ञ से ही हो सकती है। अतः सर्वज्ञ ब्रह्म ही ऋग्वेदादि का कारण है। पुरुष के श्वास-प्रश्वास की तरह अनायास ही ब्रह्म से वेदों की उत्पत्ति हुई है[२]।"

---

१. Meaning of Truth (मीनिंग आफ् ट्रुथ) नामक ग्रन्थ में विलियम जेम्स।

२. महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादि-

वेद और मीमांसा-दर्शन

भारतीय साहित्य में महर्षि जैमिनि के मीमांसा-दर्शन का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस में वैदिक साहित्य के कर्मकाण्ड की मीमांसा की गई है। और कर्मकाण्ड के विधायक ब्राह्मण ग्रन्थों का कर्मकाण्ड में समन्वय किस प्रकार होता है तथा ब्राह्मणों के वाक्यों का अर्थ किस प्रकार किया जाना चाहिये इस सम्बन्ध में बड़ी मार्मिक विवेचना की गई है। किसी ग्रन्थ के किन्हीं सन्दर्भों का अर्थ किस प्रकार करना चाहिये इस विषय में मीमांसा-दर्शन में जो सिद्धान्त निश्चित किये गये हैं उन की बड़े-बड़े कानून-शास्त्रियों तक ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। कर्म किस प्रकार फल देता है इस सम्बन्ध में भी मीमांसा-दर्शन का विवेचन बड़ा मार्मिक है। मीमांसा-दर्शन के कर्ता महर्षि जैमिनि बहुत ऊंची कोटि के तार्किक थे। इन महर्षि जैमिनि ने भी अपने इस मीमांसा-दर्शन में वेद की महिमा को मुक्त-कण्ठ से स्वीकार किया है। वे वेद को पौरुषेय नहीं मानते। उन की सम्मति में वेद ज्ञान से भरी हुई इतनी ऊंची रचना है कि वह किसी मनुष्य का बनाया हुआ हो ही नहीं सकता। वे वेद को नित्य और अपौरुषेय मानते हैं। उन की सम्मति में वेद के स्वाध्याय से ही धर्म का असली बोध हो सकता है। वेद के स्वाध्याय के अतिरिक्त और किसी तरह धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। उन के शब्दों में, "वेद की प्रेरणा, वेद की आज्ञा, जो अर्थ, जो कर्तव्य बताती है वही धर्म है[1]।" यह है वेद के सम्बन्ध में मीमांसा-दर्शन की सम्मति। मीमांसा-दर्शन के सम्बन्ध में प्रायः विद्वानों का मत है कि यह दर्शन परमेश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करता है। ऋषि दयानन्द जैसे विचारकों का मत है कि यह बात नहीं है कि मीमांसा-दर्शन ईश्वर की सत्ता

लक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेः ज्ञेयैकदेशार्थमपि, स ततोऽप्यधिकतर-विज्ञान इति। किमु वक्तव्यम्, अनेकशाखाभेदभिन्नस्य देव-तिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्य अप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवत् यस्मान्महतो भूताद् योनेः संभवः।

१. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। मीमांसा दर्शन १।१।२॥

संस्कृत भाषा के कोषकार भी धर्म का यही अर्थ करते रहे हैं कि वेद की विधि अर्थात् आज्ञा का नाम ही धर्म है। उदाहरण के लिये संस्कृत के सुप्रसिद्ध कोष अमरकोष में धर्म का यही अर्थ किया गया है—"श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी, धर्मस्तु तद्विधिः।" (अमरकोष, का० १। व० ५। श्लो० ३)।

को ही स्वीकार नहीं करता है, बात यह है कि ईश्वर की सत्ता पर विचार करना मीमांसा-दर्शन का विषय ही नहीं था, उस का विषय तो कर्म की विवेचना करना था, इस लिये उस में ईश्वर के सम्बन्ध में विचार नहीं किया गया है। मीमांसा-दर्शन में ईश्वर पर विचार न होने मात्र से यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि यह दर्शन ईश्वर की सत्ता ही स्वीकार नहीं करता है। वेद को धर्म का स्रोत मान कर यह दर्शन भी एक प्रकार से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लेता है। यदि यह मान भी लिया जाये कि यह दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है तो भी वेद के सम्बन्ध में इस दर्शन की जो मान्यता है वह आश्चर्यकरी है। जो दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं है वह वेद को नित्य, अपौरुषेय, और धर्म का स्रोत स्वीकार करता है! वेद की कितनी महिमा है!

वेद और वैशेषिक-दर्शन

वैशेषिक-दर्शन का भारतीय तत्त्वचिन्ता के ग्रन्थों में बहुत ऊंचा स्थान है। इस दर्शन में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, मन और आत्मा इन नौ पदार्थों की व्याख्या और विवेचना की गई है। इन नौ पदार्थों में सारी सृष्टि का समावेश हो जाता है। यह दर्शन आर्यों के तत्त्वज्ञान का बड़ा महान ग्रन्थ है। पण्डित-प्रवर गुरुदत्त एम० ए० जैसे वैज्ञानिक की सम्मति में इस दर्शन में भौतिक विज्ञान के बड़े सूक्ष्म सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इस दर्शन के कर्ता महर्षि कणाद के भाव भी वेद के सम्बन्ध में उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के अन्य आचार्यों और महर्षियों के हैं। वैशेषिक-दर्शन की सम्मति में वेद कोई साधारण पुस्तक नहीं है, "वेदों के प्रत्येक वाक्य की रचना बुद्धिपूर्वक है[1]।" वेदों में जो कुछ कहा गया है वह बुद्धिपूर्वक है, युक्तियुक्त और तर्कसंगत है। दूसरे शब्दों में जो कुछ वेदों में कहा गया है वह पूर्ण सत्य है, सोलहों आने सही है। महर्षि कणाद के इस कथन का यह स्पष्ट तात्पर्य निकलता है कि यदि वेद का कोई अर्थ बुद्धिपूर्वक और तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है तो वह वेद का अर्थ समझने वाले भाष्यकार का दोष है, वेद का दोष नहीं है। वहां भाष्यकार ने वेद का अर्थ ठीक नहीं समझा है। वैशेषिक-दर्शन भी वेद को ईश्वर की रचना मानता है और क्योंकि वेद सर्वज्ञ परमेश्वर की रचना है इसीलिये वह वेद को प्रमाण मानता है। वैशेषिक के इस सम्बन्ध में अपने शब्द हैं—"उस का अर्थात् ईश्वर का वचन होने के कारण वेद का प्रामाण्य है[2]।"

---

१. बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। वै० ६।१।१॥

२. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वै० १।१।३॥

वेद और योग-दर्शन

योग-दर्शन आर्य-साहित्य का एक अद्भुत ग्रन्थ है। योग-दर्शन के रचयिता महर्षि पतञ्जलि हैं। अपने आत्मा को निष्पाप बना कर परमात्मा का साक्षात्कार किस प्रकार किया जा सकता है और मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है यह बताना इस दर्शन का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। योग-दर्शन की तुलना का दूसरा ग्रन्थ न संस्कृत-साहित्य में है और न संसार की किसी अन्य भाषा में है। यह अपने ढङ्ग का अद्वितीय ग्रन्थ है। यह दर्शन मनोविज्ञान का निराला ग्रन्थ है। मन और उस की भिन्न-भिन्न वृत्तियों का जितना सूक्ष्म विवेचन इस दर्शन में किया गया है और मन की उन वृत्तियों को वश में करने के जैसे उपाय इस दर्शन में बताये गये हैं वैसा विवेचन और वैसे उपाय किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिल सकते। हमारे आत्मा में लग जाने वाले पापरूपी रोगों की जैसी अचूक चिकित्सा इस दर्शन में बताई गई है वह इसी दर्शन का हिस्सा है। वह कहीं और नहीं मिल सकती। ऐसे उद्भट प्रतिभाशाली मस्तिष्क के धनी थे महर्षि पतञ्जलि। इन महर्षि पतञ्जलि ने योग-दर्शन में परमात्मा का वर्णन करते हुए उसे सर्वज्ञ माना है और कहा है कि परमात्मा में निरतिशय ज्ञान है, उस में इतना ज्ञान है कि वहां ज्ञान की हद हो गई है, उस से अधिक ज्ञान और किसी में हो ही नहीं सकता। इस प्रकार परमात्मा को निरतिशय ज्ञान वाला सर्वज्ञ[1] सिद्ध कर के महर्षि पतञ्जलि आगे कहते हैं कि "वह परमात्मा हमारे पूर्वज गुरुओं का भी गुरु है[2]।" जगत् में ज्ञान की धारा उसी परम गुरु से प्रवाहित हुई है। हम भाषा और ज्ञान अपने माता-पिता तथा अध्यापक आदि गुरुओं से सीखते हैं। इन गुरुओं से बिना सीखे हम कोई भाषा नहीं सीख सकते थे और कोई ज्ञान नहीं जान सकते थे। इन हमारे गुरुओं ने अपने गुरुओं से भाषा और ज्ञान सीखा, उन्होंने अपने गुरुओं से और उन के गुरुओं ने अपने गुरुओं से। इस प्रकार यह गुरुओं की परम्परा ऊपर ही ऊपर चलती चली जाती है। सृष्टि के आदि में जो हमारे परम्परा-गुरु थे उन को भाषा और ज्ञान किस ने सिखाया? उन से पहले तो उन्हें सिखाने वाला और कोई मनुष्य गुरु था नहीं। आदि सृष्टि के मनुष्य तो सब से पहले मनुष्य थे। उन्हें भाषा और ज्ञान सिखाने वाला गुरु कौन था? बिना गुरु के सिखाये तो कोई मनुष्य भाषा और ज्ञान सीख नहीं सकता। तब आदि सृष्टि के हमारे गुरुओं का

१. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। यो० १। २५॥

२. स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। यो० १। २६॥

गुरु कौन था ? योग-दर्शनकार कहते हैं कि वह परम गुरु परमात्मा हैं। परमात्मा हमारे आदि गुरु हैं। उन्होंने सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों के हृदय में वेदों का प्रकाश कर के उन्हें भाषा और ज्ञान सिखाया। उस के पश्चात् एक दूसरे को सिखाने वाले गुरुओं की परम्परा चल पड़ी। परमात्मा जो सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों को वेद का ज्ञान देते हैं उस में परमात्मा का क्या प्रयोजन है इसे बताते हुए योग दर्शन के भाष्यकार व्यास लिखते हैं—"वेदशास्त्र का उपदेश देने में परमात्मा का अपना निजी कोई लाभ न होने पर भी प्राणियों पर कृपा करना उपदेश देने में प्रयोजन है। ज्ञान और धर्मोपदेश के द्वारा कल्प, प्रलय और महाप्रलयों में संसारी पुरुषों का उद्धार करूंगा इस प्रयोजन से परमात्मा वेदशास्त्र का उपदेश देते हैं[1]।" इस प्रकार योग-दर्शन की सम्मति में वेद हम सब के परम गुरु सर्वज्ञ परमात्मा की रचना हैं और सत्य ज्ञान और धर्म का उपदेश देने के लिये भगवान ने सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों के हृदयों में वेद का प्रकाश किया था।

वेद और सांख्य-दर्शन

भारतीय विचार-जगत् में सांख्य-दर्शन भी बहुत ऊंचा स्थान रखता है। जगत् के मूल कारण प्रकृति से विकसित होते-होते यह दिखाई देने वाला जगत् और इस का सारा प्रपञ्च किस प्रकार उत्पन्न हो जाता है, आत्मा का स्वरूप क्या है, प्रकृति के साथ आत्मा का सम्बन्ध किस प्रकार का है, इत्यादि सूक्ष्म विषयों पर इस दर्शन में विचार किया गया है। इस दर्शन के रचयिता महर्षि कपिल माने जाते हैं। यह दर्शन भी वेदों की वैसी ही प्रतिष्ठा करता है और उन का वैसा ही महत्त्व स्वीकार करता है जैसा कि अन्य दर्शन और शास्त्र करते हैं। इस दर्शन में भी वेद को नित्य तथा अपौरुषेय स्वीकार किया गया है। इस दर्शन की भी यही धारणा है कि "वेद पौरुषेय नहीं है क्यों कि उस का बनाने वाला कोई पुरुष नहीं हो सकता[2]।" परिणामतः नित्य और अपौरुषेय वेद के बनाने वाले नित्य और सर्वज्ञाननिधि भगवान् ही हो सकते हैं।

वेद परमात्मा की रचना है इस विषय में सांख्य-दर्शन और भी स्पष्ट शब्दों में कहता है—"क्योंकि वेद परमात्मा की अपनी निजशक्ति से प्रकट होता है इस

---

१. तस्यात्मानुग्रहाभावेपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्। ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। यो० व्या० भाष्य १। २५॥
२. न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्। सां० ५। ४६॥

लिये वेद स्वतः प्रमाण है[1]।" परमात्मा सर्वज्ञ हैं। वेद सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञान है। इस लिये वेद स्वतः प्रमाण है। वेद की प्रामाणिकता के लिये किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। सांख्य-दर्शन की सम्मति में सदा से "सिद्ध रूप वाले भगवान् का बोध वेद के स्वाध्याय से ही हो सकता है और इसी लिये वेद के वाक्यों और उन के अर्थ का उपदेश किया गया है[2]।" इस प्रकार सांख्य की सम्मति में भगवान् के विशुद्ध रूप का बोध भी वेद के स्वाध्याय से ही हो सकता है और इस प्रयोजन के लिये भगवान् ने सृष्टि के आदि में मनुष्यों को उस का उपदेश किया था। फलतः भगवान् का ज्ञान और उन का साक्षात्कार कराना ही सांख्यकार की राय में वेद का प्रधान प्रयोजन है। इसी लिये सांख्यकार कहते हैं कि "श्रुति का विरोध कर के जो कुतर्क करता है उसे आत्म-लाभ, आत्म-ज्ञान, नहीं हो सकता[3]।" सांख्य के इस सूत्र में वेद का विरोध करने वाले को कुतर्क करने वाला तो कहा ही है, साथ ही उस के लिये "अपसद" शब्द का प्रयोग भी किया गया है। अपसद का अर्थ होता है नीच। वेद के विरोध में कुतर्क करने वाले के लिये सांख्यकार इतना कठोर शब्द प्रयुक्त करते हैं। वेद के लिये सांख्यकार के मन में जो सन्मान है वह इस से सूचित है।

अनेक विचारकों का मत है कि सांख्य-दर्शन परमात्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। ऋषि दयानन्द जैसे विचारकों का मत इस से भिन्न है। उन का कहना है कि सांख्य-दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय उपादान-कारण प्रकृति से जगत् का विकास किस प्रकार होता है यह है। इसलिये वहां जगत् के निमित्त-कारण परमात्मा का विशेष विचार नहीं किया गया है। इतने से ही सांख्य ईश्वर की सत्ता ही स्वीकार नहीं करता है यह नहीं कहा जा सकता। ऊपर उद्धृत सूत्र सांख्य की निरीश्वरता का स्पष्ट खण्डन करते हैं। इस के अतिरिक्त अन्य भी ऐसे निर्देश सांख्य-दर्शन के भीतर पाये जाते हैं जिन से ध्वनित होता है कि वह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। उदाहरण के लिये, सांख्य-दर्शन में कहा गया है कि "समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में आत्मा की ब्रह्मरूपता हो जाती है[4]।" इस से स्पष्ट है कि सांख्य ब्रह्म या परमात्मा की सत्ता से तो इन्कार करता ही नहीं है प्रत्युत साफ शब्दों में उस की सत्ता को स्वीकार करता है। पर यदि यह मान भी लिया जाये कि

---

१. निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। सां० ५। ५१॥
२. सिद्धरूपबोद्धृत्वाद् वाक्यार्थोपदेशः। सां० १। ९८॥
३. श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः। सां० ६। ३४॥
४. समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता। सां० ५। ११६॥

सांख्य ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है तो यह कितने आश्चर्य की बात है कि जो दर्शन ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने को तैयार नहीं है वह वेद की नित्यता और अपौरुषेयत्व को स्वीकार करता है ! उस की दृष्टि में वेद का कितना अधिक गौरव है !

वेद और व्याकरण-महाभाष्य

ऊपर हम ने महर्षि पतञ्जलि के सम्बन्ध में कहा है कि उन्होंने योग-दर्शन लिख कर आत्मा पर लग जाने वाले पाप-रूपी रोगों की चिकित्सा की है। जिस प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने हमारे पाप-रूपी रोगों की चिकित्सा की है उसी प्रकार उन्होंने हमारे वाणी के रोगों की चिकित्सा भी की है। महर्षि पतञ्जलि के समय भारत में बोलचाल की भाषा संस्कृत थी। भाषा बोलने का प्रयोजन यह होता है कि हम अपने मन के भावों को सुनने वालों पर ठीक-ठीक व्यक्त कर सकें। हमारी वाक्य-रचना जितनी शुद्ध होगी, हमारे शब्दों का चुनाव जितना ठीक होगा उतनी ही अच्छी तरह हम अपने विचारों और भावों को सुनने वालों पर प्रकट कर सकेंगे। हमारी वाक्य-रचना और शब्दों का चुनाव जितने अशुद्ध होंगे सुनने वालों पर हमारे विचारों और भावों का प्रकाश उतना ही अपूर्ण रहेगा। इस प्रकार शुद्ध भाषा लिखना और बोलना न आना वाणी का दोष या रोग है। संस्कृत भाषा शुद्ध कैसे लिखी और बोली जा सकती है यह बताने के लिये महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण-महाभाष्य नाम का महान् ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी की विस्तृत व्याख्या है। इस ग्रन्थ के बिना पाणिनि की अष्टाध्यायी को कोई समझ ही नहीं सकता था। पाणिनि और पतञ्जलि के संस्कृत व्याकरण के ये ग्रन्थ अद्भुत और अद्वितीय हैं। इस प्रकार के व्याकरण के ग्रन्थ संसार की किसी भाषा में नहीं हैं। ये ग्रन्थ कैसे अद्भुत हैं इसका अनुमान लगाने के लिये पाठकों के सम्मुख हम एक बात रखते हैं। कल्पना कीजिये कि अंग्रेजी भाषा को बोलने और जानने वाले सब लोग इकट्ठे कर के समुद्र में डुबो दिये जाते हैं और अंग्रेजी की सब पुस्तकें आग में जला दी जाती हैं, केवल अंग्रेजी की एक अच्छी सी व्याकरण की पुस्तक और उस व्याकरण को जानने वाला एक विद्वान् बचा लिया जाता है, तो उस अंग्रेजी के व्याकरण को जानने वाले विद्वान् में यह शक्ति नहीं है कि उस व्याकरण की पुस्तक की सहायता से वह नष्ट हो गये समग्र अंग्रेजी साहित्य के सारे शब्दों को फिर से बना सके। संसार की किसी भी भाषा के व्याकरण में यह शक्ति नहीं है। संस्कृत के व्याकरण में यह शक्ति है। यदि सब संस्कृत जानने वाले नष्ट हो जायें और संस्कृत भाषा का सारा साहित्य

भी नष्ट कर दिया जाये, केवल संस्कृत-व्याकरण को जानने वाला एक विद्वान् बचा रह जाये और पाणिनि की अष्टाध्यायी और धातु-पाठ तथा अष्टाध्यायी पर पतञ्जलि का महाभाष्य ये व्याकरण के ग्रन्थ बचे रह जायें, तो संस्कृत-व्याकरण में यह शक्ति है कि उस के द्वारा वह व्याकरणज्ञ विद्वान् लुप्त हुए-हुए समग्र संस्कृत साहित्य के सारे के सारे शब्दों को इस प्रकार घड़ कर हमारे सामने रख देगा जिस प्रकार सिक्के बनाने वाला व्यक्ति अपने सांचों में से रुपये, अठन्नी, चवन्नी, दुवन्नी और इकन्नियें ढाल-ढाल कर फैंकता जाता है। इतना ही नहीं, भविष्य में बोले जाने वाले शब्दों को भी वह घड़ कर रख सकता है। यह है संस्कृत-व्याकरण का अनुपम आश्चर्यपूर्ण अलौकिक निरालापन ! ऐसे व्याकरण के कर्ता हैं महर्षि पाणिनि और उन के भाष्यकार महर्षि पतञ्जलि। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भारत की वैज्ञानिक प्रतिभा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है। पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतञ्जलि के महाभाष्य जैसा दूसरा ग्रन्थ संसार में नहीं लिखा गया। इस से पाणिनि और पतञ्जलि के मस्तिष्क की अलौकिकता का अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसे अलौकिक मस्तिष्क के धनी महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में वेद के गीत गाते हुए लिखा है कि "वेद का एक शब्द भी अच्छी तरह समझा हुआ और अच्छी तरह क्रिया में लाया हुआ हमारे संसार को स्वर्ग बना सकता है और उस स्वर्ग में हमारी कामनाओं को पूर्ण करने वाली कामधेनु बन सकता है[१]।" यदि कोई सारे वेद को समझ कर उस के अनुसार आचरण करने लगे तो उस के कल्याण-मङ्गल का तो कहना ही क्या, कोई यदि वेद के एक मण्डल, काण्ड या अध्याय को ही समझ कर उस के अनुसार आचरण करने लगे तो उस के भी कल्याण-मङ्गल का क्या कहना, कोई यदि वेद के एक सूक्त या अध्याय को ही अच्छी तरह समझ कर उस के अनुसार चलने लगे तो उस के भी कल्याण-मङ्गल का क्या कहना, कोई यदि वेद के एक मन्त्र को ही भली-भांति समझ कर उस के अनुसार अपना व्यवहार बना ले तो उस के भी कल्याण-मङ्गल का क्या कहना, महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि वेद की तो यह महिमा है कि यदि कोई वेद के किसी एक मन्त्र के एक ही शब्द को भी ठीक प्रकार समझ ले और उस के उपदेश के अनुसार अपना आचरण बना ले तो उस का जीवन स्वर्ग का जीवन बन सकता है और उस की सब कामनायें पूरी हो सकती हैं। महर्षि पतञ्जलि वेदों को इतने ऊंचे कल्याणकारी ज्ञान से भरे हुए ग्रन्थ मानते हैं। अन्य सभी ऋषियों और आचार्यों की भांति महर्षि पतञ्जलि भी

१. एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति। व्या० महा०॥

वेद को ईश्वर का बनाया हुआ, अपौरुषेय और नित्य मानते हैं। उन के मत में "वेद के मन्त्रों में जो वर्णानुपूर्वी है, वेद-मन्त्रों के अक्षरों का जो क्रम है, वह वैसा का वैसा नित्य और अनादि है[1]।" फलतः परमात्मा के ज्ञान में अनादिकाल से मन्त्रों और उन के अक्षरों का क्रम उसी प्रकार से चला आ रहा है। प्रत्येक कल्प के आरम्भ में परमात्मा वेद-मन्त्रों को ऋषियों के हृदय में उसी रूप में प्रकाशित करते हैं। यह है महर्षि पतञ्जलि की वेदों के सम्बन्ध में निष्ठा!

वेद और यास्क

महर्षि यास्क के महान् ग्रन्थ निरुक्त की संस्कृत-साहित्य में बड़ी भारी प्रतिष्ठा है। यह ग्रन्थ अपने ढंग का निराला है। वेदों को समझने के लिये यह ग्रन्थ कुञ्जी का काम देता है। इस ग्रन्थ में वैदिक भाषा की रचना का वर्णन करते हुए वेदों के अध्ययन-सम्बन्धी नियमों का बड़ा मार्मिक वर्णन किया गया है। वैदिक शब्दों के अर्थ किस प्रकार करने चाहियें इस बात को हजारों वैदिक शब्दों की निरुक्ति और व्याख्या कर के समझाया गया है। प्रसङ्ग से सैंकड़ों वेदमन्त्रों के अर्थ पर विचार किया गया है। वेदों में वर्णित अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं पर विस्तृत विचार किया गया है। इस ग्रन्थ का गम्भीर अध्ययन किये बिना कोई भी व्यक्ति वेद को समझने की क्षमता प्राप्त नहीं कर कर सकता। इतना महत्त्वपूर्ण यास्काचार्य का यह ग्रन्थ है। यास्क की वेदों के सम्बन्ध में जो सम्मति है उसे भी सुन लीजिये। यास्क कहते हैं—"सृष्टि के आरम्भ में ऐसे ऋषि उत्पन्न हुए थे जो साक्षात्कृतधर्मा थे अर्थात् जिन्हें परमात्मा की प्रेरणा से वेद-मन्त्रों और उन के अर्थों का साक्षात्कार अर्थात् दर्शन हुआ था। ये साक्षात्कृतधर्मा ऋषि अपने पीछे आने वाले असाक्षात्कृतधर्मा ऋषियों को, उन ऋषियों को जिन्हें परमात्मा द्वारा वेद-मन्त्रों और उन के अर्थों का बोध नहीं हुआ था, अपने उपदेश द्वारा वेदमन्त्रों को सिखाते रहे। पश्चात् इन पीछे आने वाले ऋषियों ने वेद को समझने के लिये वेद को तथा निरुक्त और वेदाङ्गों को ग्रन्थ-रूप में संगृहीत किया[2]।" इस प्रकार यास्क की सम्मति में वेद सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों को परमात्मा द्वारा दिया हुआ ज्ञान है। आदि ऋषियों ने वेदमन्त्रों का साक्षात्कार किया था, निर्माण

१. वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नित्या। महाभाष्य ५।२।२६॥

२. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्त्संप्रादुः। उपदेशेन म्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। निरु० १। १

नहीं। साक्षात्कार पहले से ही विद्यमान वस्तु का हुआ करता है। वेदमन्त्र परमात्मा के नित्य ज्ञान में पहले से ही विद्यमान थे उन्हीं का साक्षात्कार ऋषियों ने किया, उन मन्त्रों को स्वयं नहीं बनाया। इसी बात को यास्क एक और स्थान पर इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—"ऋषि उसे कहते हैं जो दर्शन करे। औपमन्यव आचार्य ने कहा है कि ऋषियों ने वेदमन्त्रों को देखा इस कारण वे ऋषि कहलाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ में भी कहा है कि तप करते हुए इन को स्वयंभू वेद प्राप्त हुआ इस से वे ऋषि हो गये, यही ऋषियों का ऋषित्व है[१]।" वेद स्वयंभू है। परमात्मा के ज्ञान में नित्य रहने के कारण वेद सदा से स्वयं विद्यमान है। किसी ने उसे बनाया नहीं है। वह अपौरुषेय है। ऋषियों ने तपस्या कर के वेद को केवल देखा है, प्राप्त किया है, जाना है। वेद को देखना, प्राप्त करना, जानना ही ऋषियों का ऋषित्व है। ऋषियों ने वेदमन्त्रों को स्वयं नहीं बनाया है। वेद तो स्वयंभू है—अपौरुषेय है। वह परमात्मा के ज्ञान में नित्य विद्यमान है। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा इस स्वयंभू वेद को ऋषियों पर प्रकट कर देते हैं। बाद में भी जो ऋषि तपस्वी हो कर वेदमन्त्रों के भावों को समझना चाहते हैं परमात्मा की कृपा से उन पर भी मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित हो जाता है। इस प्रकार यास्क के मत में वेद परमात्मा का ज्ञान है। ऋषि लोग तो केवल उस के प्रचारक और व्याख्याकार एवं भाष्यकार-मात्र हैं।

परमात्मा ने ऋषियों को वेदमन्त्रों का ज्ञान किस लिये दिया इस सम्बन्ध में यास्क कहते हैं—"वेद में जो मन्त्र हैं वे अनेक प्रकार के कर्मों की सिद्धि कराने वाले हैं[२]।" वेद सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञान होने के कारण पूर्ण और नित्य है। और इसी लिये वह असंदिग्ध और सत्य ज्ञान का भण्डार है। अतः वेदमन्त्रों में जो ज्ञान दिया गया है वह इस प्रकार का है कि उस के द्वारा हमारे सब प्रकार के कर्मों की सिद्धि हो सकती है। वेदमन्त्रों में दिये गये ज्ञान के अनुसार चल कर

१. ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वम् इति विज्ञायते। निरु० २। ११॥
ब्रह्म=वेदः। स्वयम्भु=अपौरुषेयः, परमात्मनो ज्ञाने नित्यं वर्तमानः। ऋषि-शब्दो दर्शनार्थाद् दृशिधातोर्गत्यर्थाद् ऋषीधातोर्वा निरुच्यते। गतेश्च ज्ञान-प्राप्ती इत्यप्यर्थौ भवत इति प्रसिद्धमेव॥ ऋषि शब्द दर्शनार्थक दृश् धातु से उस के दकार का लोप हो कर बनता है। गति अर्थ वाली ऋष धातु से भी यह शब्द बनता है। संस्कृत में गति के ज्ञान और प्राप्ति अर्थ भी होते हैं।

२. कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे। निरु० १। २॥

हम इस लोक और परलोक के सब सुखों को प्राप्त कर सकते हैं। वेदज्ञान के विना मनुष्य अपने कर्मों से यह फल प्राप्त नहीं कर सकता था। क्योंकि "मनुष्य का ज्ञान तो अनित्य है[१]।" मनुष्य का अपना ज्ञान अपूर्ण और परिवर्तनशील है और इसी लिये वह असंदिग्ध और स्थिर सत्य नहीं हो सकता। ऐसे संदिग्ध ज्ञान के आधार पर किये गये कर्म भी इस लोक और परलोक में सच्चे सुख की सिद्धि नहीं करा सकते। इस कारण यास्क के मत में पूर्ण और नित्य ज्ञान वाले परमात्मा द्वारा सृष्टि के आरम्भ में वेद का उपदेश दिये जाने की आवश्यकता है। यास्क के मत में वेदमन्त्र मन्त्र कहलाते ही इस कारण हैं कि "उन के मनन से भांति-भांति का ज्ञान सीखा जाता है[२]।" यास्क के इस वाक्य पर निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गाचार्य ने लिखा है—"क्योंकि मन्त्रों से आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधियाज्ञिक अर्थों को वेद के अध्येता लोग मनन द्वारा प्राप्त करते हैं यही मन्त्रों का मन्त्रपन है[३]।" इस प्रकार वेदमन्त्र आध्यात्मिक और आधिदैविक आदि अनेक प्रकार का ज्ञान देते हैं। यही वेदमन्त्रों की विशेषता है। वेद मनुष्य-जीवन के लिये उपयोगी सब प्रकार का ज्ञान तो सिखाते ही हैं परन्तु उन का अन्तिम तात्पर्य परमात्मा का ज्ञान दे कर उस का साक्षात्कार कराना है। वेद में जो अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि विभिन्न देवताओं के वर्णन आते हैं वे भी वस्तुतः परमात्मा का ही वर्णन करते हैं। यास्क कहते हैं—"परमात्मा-रूप देवता में महान् ऐश्वर्य होने के कारण भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति द्वारा एक आत्मा (परमात्मा) की ही अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है। एक आत्मा (परमात्मा) के ही अन्य देव अङ्ग हो जाते हैं[४]।" इस प्रकार यास्काचार्य की सम्मति में वेद का मुख्य तात्पर्य अध्यात्म-विद्या का उपदेश करना है। इसी लिये यास्क ने निरुक्त के प्रथम बारह

---

१. पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्। निरु० १। २॥

२. मन्त्रा मननात्। निरु० ७। १२॥

३. तेभ्यः (मन्त्रेभ्यः) हि अध्यात्माधिदैवाधियज्ञादिमन्तारो मन्यन्ते तदेषां मन्त्रत्वम्। निरु० दुर्गवृत्तिः ७। १२॥

४. महाभाग्याद् देवतायाः, एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। निरु० ७। ४॥ यास्क के इस वाक्य में जो बात कही गई है वही बात स्वयं वेद के "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्" (ऋग्० १। १६४। ४६) और "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वु वायुस्तदु चन्द्रमाः" (यजुः० ३२। १) आदि मन्त्रों में भी कही गई है।

अध्यायों में जहां प्रधानतः मन्त्रों के आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थ किये हैं वहां अन्तिम तेरहवें अध्याय में नमूने के रूप में आध्यात्मिक अर्थों को भी दिखाया है।

इस प्रकार आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विषयों का ऊंचा ज्ञान देने वाले वेद का अध्ययन करने और उस को समझने का क्या उपाय है? किस योग्यता का व्यक्ति वेद के रहस्य को समझ सकता है? यास्क कहते हैं— "इस प्रकार यह मन्त्रों का अर्थ-चिन्तन-विषयक ऊहापोह कर के दिखा दिया है। श्रुति से अर्थात् स्वयं वेद के प्रमाणों से अथवा अनेक शास्त्रों के श्रवण द्वारा प्राप्त योग्यता से, और, तर्क से मन्त्रों का अर्थ करना चाहिये। पृथक्-पृथक् मन्त्रों का निर्वचन नहीं करना चाहिये, प्रकरण को देख कर उन का निर्वचन अर्थात् अर्थ करना चाहिये। जो व्यक्ति ऋषि नहीं है अथवा तपस्वी नहीं है उसे मन्त्रों में के अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। शास्त्रों के आर-पार को समझने वाले विद्वानों में जो जितनी अधिक विद्याओं को जानता है वह उतना ही अधिक प्रशंसनीय होता है अर्थात् वह वेद को उतना ही अधिक अच्छी तरह समझ सकता है, यह पहले ही कह चुके हैं। जब ऋषियों की परम्परा उठने लगी तब मनुष्यों ने देवों से कहा कि अब हमारे लिये ऋषि कौन होगा? तब देवों ने मनुष्यों को यह तर्क-रूप ऋषि दे दिया। जो कि मन्त्रार्थ-चिन्तन-विषयक ऊहापोह-रूप है और मन्त्रार्थ-चिन्तकों द्वारा धारण किया जाता है। इस लिये वेद का स्वाध्याय करने वाला तर्क द्वारा ऊहापोह कर के जो कुछ अर्थ निश्चय करता है वह अर्थ तर्क ऋषि द्वारा बताया हुआ होने के कारण आर्ष अर्थ होता है[१]।" किस योग्यता का व्यक्ति वेदार्थ करने का अधिकारी होता है और वेदार्थ किस प्रकार करना चाहिये इस सम्बन्ध में यास्क की ये पंक्तियें अत्यन्त स्पष्ट हैं। इन की और व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। यास्क के मत में वेद-मन्त्रों का अर्थ तर्कानुमोदित, बुद्धिसंगत, होना चाहिये। जो अर्थ तर्कानुमोदित नहीं है वह ठीक नहीं है। वहां वेद का दोष नहीं है, भाष्यकार का दोष है। वेद में तो जो कुछ

१. इत्ययं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः। अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः। न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति इत्युक्तं पुरस्तात्। मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद् यदेव किंचानूचानोऽभ्यूहत्यार्षन्तद् भवति। निरु० १३। १२॥

कहा गया है वह तर्कानुमोदित और बुद्धिसंगत ही कहा गया है। इसी विषय में यास्क एक और जगह कहते हैं—"यह वेद-विद्या ऐसी है जिस का बोध या ज्ञान श्रुति अर्थात् वेद के प्रमाणों तथा अनेक शास्त्रों के श्रवण, अध्ययन और मनन द्वारा होता है। तप द्वारा उस वेद-विद्या का पार जानने की इच्छा करनी चाहिये[1]।" जो तपःपूत पवित्र जीवन वाला नहीं है वह वेद के रहस्य को नहीं समझ सकता। ये हैं वेद के सम्बन्ध में महर्षि यास्क के उद्गार!

वेद और सायण

सायणाचार्य भारतवर्ष के भारी विद्वानों में से एक हुए हैं। इन्होंने ऋग्वेदादि चारों वेदों का भाष्य किया है। वेदों के ब्राह्मणों पर भी भाष्य लिखा है। आरण्यक-ग्रन्थों पर भी भाष्य लिखा है। और भी कई ग्रन्थ इन्होंने लिखे हैं। दर्शन-शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ सर्व-दर्शन-संग्रह इन्हीं का लिखा हुआ समझा जाता है। वेदान्त का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ पञ्चदशी संन्यासी होने पर सायण ने ही लिखा है। सायण ने जो कुछ लिखा है वह इतना विशाल है और उस में उन का इतना व्यापक पाण्डित्य दिखाई देता है कि उन के समय के उन के प्रशंसक उन्हें "सर्वज्ञ[2]" कहने लग पड़े थे। इन सायणाचार्य ने अपने वेदभाष्य की भूमिका में सिद्ध किया है कि वेद किसी आदमी के बनाये हुए नहीं हैं, वे अपौरुषेय हैं। परमात्मा के ज्ञान में उन की नित्य सत्ता है। परमात्मा ही उन का प्रकाश करते हैं। सायणाचार्य ने अपने वेदभाष्य की भूमिका में मीमांसा-दर्शन के आधार पर यह भी सिद्ध किया है कि वेद में इतिहास[3] नहीं है। वेद में जो नाम ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं वे वस्तुतः किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। वेद में उन शब्दों का दूसरा अर्थ होता है। वेद के उन शब्दों का ऐतिहासिक नामों के साथ ध्वनि-साम्य-मात्र है। वेद के वे शब्द ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों से स्वतन्त्र हैं और अपना पृथक् अर्थ रखते हैं। नित्य वेद में अनित्य ऐतिहासिक व्यक्तियों का

---

१. सेयं विद्या श्रुतिमतिबुद्धिः। तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यम्। निरु० १३।१३॥

२. ते तपस्तेजसां राशिमासीनं परमासने।
सर्वज्ञं सायणाचार्यं पर्यपृच्छन् सभासदः॥
अधीताः सकला वेदास्ते च दृष्टार्थगोचराः।
त्वत्प्रणीतेन तद्भाष्यप्रदीपेन प्रथीयसा॥
(यज्ञतन्त्रसुधानिधि की भूमिका के १३, १४ श्लोक)।

३. देखो, सायण, ऋग्वेदभाष्यभूमिका।

उल्लेख हो ही नहीं सकता । सायणाचार्य ने अपने वेदों, ब्राह्मणों और आरण्यकों के भाष्यों के आरम्भ में सब जगह एक श्लोक लिखा है जिस का अर्थ इस प्रकार है—"वेद जिस के निःश्वास के समान हैं, जिस ने वेदों से अर्थात् वेदों के ज्ञान के अनुसार सारे जगत् की रचना की है, विद्याओं के तीर्थ अर्थात् प्रवर्तक उस महेश्वर परमात्मा की मैं वन्दना करता हूँ[१] ।" इस श्लोक से सायणाचार्य का स्पष्ट मन्तव्य प्रकट होता है कि वेद परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं, परमात्मा इतनी आसानी से वेदों को प्रकट कर देते हैं जितनी आसानी से श्वास-प्रश्वास की क्रिया होती रहती है, वेद में जगत् का ज्ञान भरा हुआ है और वेद का ज्ञान दे कर भगवान् विद्याओं का प्रवाह चला देते हैं। सायणाचार्य की दृष्टि में वेद का यह गौरव है।

वेद और गीता

गीता का महत्त्व सर्वप्रसिद्ध है । गीता भारतीय साहित्य का अनमोल रत्न है। गीता की तुलना का दूसरा ग्रन्थ संसार के साहित्य में नहीं है । निष्काम हो कर अनासक्ति-पूर्वक केवल कर्तव्य-बुद्धि से काम करने के जिस कर्मयोग के सिद्धान्त का प्रतिपादन गीता में किया गया है वह अद्भुत चीज़ है । संसार के किसी अन्य ग्रन्थ में इस विषय का इतना सूक्ष्म, सरल, विस्तृत और सरस विवेचन नहीं किया गया है। यह गीता की अपनी निराली चीज़ है। प्रसंग से और भी अनेक दार्शनिक तत्त्वों का वर्णन गीता में किया गया है । गीता के प्रतिपाद्य विषयों में जितनी दार्शनिक गम्भीरता है उस के प्रतिपादन की शैली में उतनी ही सरस सुबोधता है। इन दोनों बातों के कारण गीता जितनी लोकप्रिय हुई है उतने लोकप्रिय बहुत कम ग्रन्थ हुए हैं। भारत में तो गीता का पाठ साधारण साक्षर व्यक्ति से लेकर दिग्गज पण्डितों तक में समान रूप से होता है। गीता पर संस्कृत में तो बड़ी-बड़ी टीकायें और भाष्य लिखे ही गये हैं, भारत की अन्य लोकभाषाओं में भी उस पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। संसार की प्रायः सभी प्रसिद्ध भाषाओं में गीता के अनुवाद हो चुके हैं । अनेक विदेशी विद्वानों ने भी गीता की मुक्तकण्ठ से महिमा गाई है । अमरीका के इमरसन जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् गीता का नित्य पाठ करते रहे हैं। भारतीय परम्परा में गीता को उपनिषदों का सार[२] कहा जाता है और स्वयं

१. यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ सायण, ऋग्वेदभाष्य-प्रस्तावना ॥

२. सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सो सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ गीतामाहात्म्य ॥

गीता को एक उपनिषद् समझा जाता है। गीता इतना महत्त्वशाली ग्रन्थ है। यह गीता भी उसी प्रकार वेद की महिमा के गीत गाती है जिस प्रकार आर्यों के दूसरे ग्रन्थ गाते हैं। गीता की सम्मति में "कर्तव्य-कर्मों का बोध वेद के द्वारा होता है और वह वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है[१]।" वेद ज्ञान-विज्ञान के इतने ऊंचे और श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं कि गीता में भगवान् कृष्ण वेदों की महत्ता को और परमात्मा से उन की उत्पत्ति को बताने के लिये वेदों को अपना रूप ही कह डालते हैं। वे कहते हैं—"जानने योग्य पवित्र तत्त्व, ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मैं ही हूँ[२]।" एक दूसरे स्थान पर भगवान् कृष्ण कहते हैं—"वेदों में साम-वेद मैं ही हूँ[३]।" वेदों से सामान्य जीवन के लिये उपयोगी कर्म-कलाप का ज्ञान तो प्राप्त होता ही है, परमात्मा के स्वरूप का बोध भी वेद के अध्ययन से ही होता है। भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं—"जिस अविनाशी परमात्मा का वेद के वेत्ता ही वर्णन कर सकते हैं, वीतराग यति लोग जिस में प्रवेश पाते हैं, जिसे प्राप्त करने की इच्छा से जिज्ञासु-जन ब्रह्मचर्य का सेवन करते हैं, उस प्राप्त करने योग्य परमात्मा का संक्षेप से प्रवचन करूंगा[४]।" इस सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण पुनः कहते हैं—"सब वेदों के द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ, मैं वेदान्तकृत् हूँ अर्थात् वेदों और उन में प्रति-पादित सिद्धान्तों का रचयिता मैं ही हूँ और वेदों का पूर्ण ज्ञाता मैं ही हूँ[५]।" गीता के भगवान् कृष्ण परमात्मा का अवतार हैं या नहीं और परमात्मा को अवतार लेने की आवश्यकता भी है या नहीं, यह दूसरा प्रश्न है। परमात्मा को अवतार ले कर मनुष्य-शरीर धारण करने की आवश्यकता पड़ती है इस बात को युक्ति से सिद्ध नहीं किया जा सकता। गीता में से ही अवतारवाद के विरोधी[६] प्रसंग भी दिखाये जा सकते हैं। फिर भी गीता के लेखक ने भगवान् कृष्ण को परमात्मा के रूप में ही उपस्थित किया है। और जैसा ऊपर के उद्धरणों में दिखाया गया है

---

१. कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। गीता ३। १५॥

२. पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥ गीता ९। १७॥

३. वेदानां सामवेदोऽस्मि। गीता० १०। २२॥

४. यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ गीता ८। ११॥

५. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्। गीता १५। १५॥

६. अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम॥ गीता ७। २४॥

वे गीता के भगवान् कृष्ण वेदों को परमात्मा से उत्पन्न मानते हैं, उन्हें सब कर्मों का सम्यक् ज्ञान देने वाले तथा ब्रह्म-विद्या का उपदेश करने वाले ग्रन्थ मानते हैं। वे वेद इतनी ऊँची कोटि के ज्ञान के ग्रन्थ हैं कि भगवान् कृष्ण इन्हें अपना रूप ही बताते हैं। गीता की सम्मति में वेदों का इतना अधिक महत्त्व है।

वेद और महाभारत

महाभारत भी संस्कृत-साहित्य के अमूल्य रत्नों में से एक है। महाभारत काव्य भी है, इतिहास भी है और तत्त्व-ज्ञान का ग्रन्थ भी है। कौरव और पाण्डवों की कथा का सहारा ले कर महाभारत में प्रसंग से अनेक इतिहासों का उल्लेख किया गया है और मनुष्य के वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली विभिन्न समस्याओं का समाधान करते हुए तत्त्वज्ञान-विषयक अनेक विषयों का भी सूक्ष्म विवेचन किया गया है। वर्णाश्रम-धर्म, राज-धर्म, जगत् की उत्पत्ति और प्रलय, प्रकृति, जीव और परमात्मा का स्वरूप, विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त, आदि कोई भी ऐसा विषय नहीं है जिस का सूक्ष्म विवेचन महाभारत में न हो। महाभारत अपने समय का एक विश्वकोश है। एक लाख से अधिक श्लोकों के इस विशाल ग्रन्थ में संस्कृत-वाङ्मय में पाई जाने वाली लगभग सभी बातों का उल्लेख पाया जाता है। स्वयं महाभारत में

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ गीता ९। ११॥

गीता के इन श्लोकों में भगवान् कृष्ण के ही मुख से परमात्मा के अवतारवाद के सिद्धान्त का विरोध किया गया है। दोनों श्लोकों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—"मैं तो अव्यक्त हूँ, इन्द्रियों से कभी भी न दिखाई देने वाला हूँ, बुद्धिहीन लोग मुझे व्यक्ति में, इन्द्रियों से दिखाई पड़ने की अवस्था में, आया हुआ मानते हैं, वे मेरे विकाररहित श्रेष्ठ स्वरूप को नहीं जानते हैं।" "मूर्ख लोग मुझे मनुष्य-शरीर में आया हुआ जानते हैं, मेरा सब भूतों का महेश्वर, स्वामी, जो श्रेष्ठ स्वरूप है उसे वे नहीं जानते।" गीता का कृष्ण लेखक द्वारा कल्पित पात्र है और लेखक ने उसे परमात्मा का प्रतिनिधि बना कर उस के मुंह से गीता कहलवाई है यदि ऐसा समझ लिया जाये तो कृष्ण के परमात्मा प्रतीत होने की व्याख्या हो जाती है। उस अवस्था में गीता में अवतारवाद नहीं रहता। तथा यह चीज़ गीता के कवि लेखक की एक काव्यमयी कल्पना-मात्र रह जाती है।

अपने सम्बन्ध में कहा गया है कि "जो कुछ यहां है वही अन्य ग्रन्थों में मिलेगा और जो कुछ यहां नहीं है वह कहीं भी नहीं मिलेगा[१]।" महाभारत का शान्तिपर्व राजनीति-शास्त्र और अध्यात्म-शास्त्र का एक अद्भुत ग्रन्थ है। महाभारत में प्रसंग से वेदों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में महाभारत का मन्तव्य है कि "ऋषियों ने दिन-रात तप कर के वेदों को प्राप्त किया। वेद की वाणी स्वयम्भू परमात्मा द्वारा दी गई ऐसी विद्या है जिस का न आदि है न नाश अर्थात् जो नित्य है। ऋषियों के नामों को, वेदों में वर्णित सृष्टियों को, भूतों के नाना रूपों को और विभिन्न कर्मों के प्रवर्तन को, वह ईश्वर सृष्टि के आदि में वेद के शब्दों से ही बनाता है[२]।" इस प्रकार महाभारत के मत में वेद परमात्मा द्वारा सृष्टि के आरम्भ में दिया गया ज्ञान है। वेद परमात्मा का ज्ञान होने के कारण परमात्मा की भांति ही नित्य है। वेद ऋषियों के बनाये हुए नहीं हैं। ऋषियों ने तो तप द्वारा वेदों को परमात्मा से प्राप्त किया है। ऋषियों के नाम वेदों के शब्द ले कर ही रखे गये हैं। वेदों में भूतों के नाना रूपों और सृष्टियों का वर्णन है। सब कर्तव्य-कर्मों का परिज्ञान भी वेद से ही होता है। यह है वेदों के सम्बन्ध में महाभारत की सम्मति। अभी ऊपर वेदों के सम्बन्ध में गीता की सम्मति का उल्लेख किया गया है। गीता महाभारत का ही एक अंश है। गीता ने वेदों के विषय में जो कुछ कहा है वह भी महाभारत का ही एक कथन समझना चाहिये।

वेद और रामायण

भारतीय आर्यों की दृष्टि में वेद किस प्रकार आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान के आकर समझे जाते रहे हैं, पाठक इसे ऊपर के पृष्ठों में देखते आ रहे हैं। आर्यों की दृष्टि में वेदों के इस प्रकार ऊंचे ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ होने के कारण प्राचीन आर्यों की शिक्षा-पद्धति में वेदों का सदा महत्त्वपूर्ण स्थान रहता रहा है। आर्यों की गुरुकुल और परिषद् नामक शिक्षा-संस्थाओं में जहां अन्य भांति-भांति की विद्याओं और शास्त्रों के अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था रहती

---

१. यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्। महा० स्वर्गारोहण पर्व ५।५०॥

२. ऋषयस्तपसा वेदानध्यैषन्त दिवानिशम्।
अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा॥
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्॥
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः। महा शान्तिपर्व २३२।२४-२६॥

थी वहां उन के पाठ्यक्रम में साङ्गोपाङ्ग वेद के अध्ययन की व्यवस्था भी आवश्यक रूप से रहती थी। मनुस्मृति और दूसरे धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचारियों के पाठ्यक्रम में वेदों के पठन-पाठन को आवश्यक अंग के रूप में रखा गया है। इस कारण विद्यार्थियों के विद्याध्ययन आरम्भ करने के संस्कार का नाम ही वेदारम्भ-संस्कार पड़ गया था। और बहुत बार विद्याध्ययन की समाप्ति को वेदाध्ययन की समाप्ति ही कहा जाता था। तैत्तिरीय उपनिषद् में जहां गुरुकुल में विद्याध्ययन समाप्त कर के जाते हुए ब्रह्मचारी को आचार्य की ओर से दीक्षान्त-भाषण के रूप में अन्तिम विदाई का उपदेश दिलाया गया है वहां यही कहा गया गया है कि "वेद को पढ़ा कर आचार्य शिष्य को उपदेश करता है[1]।" जहां कहीं भी अध्ययनाध्यापन के वर्णन का प्रसंग आर्य-साहित्य में आया है वहीं वेदों के पठन-पाठन का वर्णन अवश्य हुआ है। छान्दोग्य[2] उपनिषद् में जहां महर्षि सनत्कुमार ने नारद से पूछा है कि उस ने क्या-क्या पढ़ा है तो जहां नारद ने अन्य अनेक विद्याओं के पढ़ चुकने का वर्णन किया है वहां चारों वेदों के अध्ययन की बात भी कही है। और तो और, हमारे नाटकों और काव्यों तक में कवियों ने जहां अपने काव्य के नायकों की शिक्षा का वर्णन किया है वहां उन्होंने अपने नायकों को जहां अन्य अनेक विद्याओं और शास्त्रों का ज्ञाता बताया है वहां उन्हें वेद-वेदाङ्ग का ज्ञाता भी बताया है।

उदाहरण के लिये महर्षि वाल्मीकि के प्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य रामायण को लीजिये। वाल्मीकि ने महाराज रामचन्द्र और उन के भाइयों तथा हनुमान् आदि को वेदों का पूर्ण ज्ञाता बताया है। रामायण के प्रारम्भ में जहां वाल्मीकि ने नारद से किसी ऐसे आदर्श महापुरुष के विषय में पूछा है जिस के चरित्र को लेकर वे अपने अमर काव्य की रचना कर सकें वहां नारद ने वाल्मीकि को यह बताते हुए कि ऐसे महापुरुष रामचन्द्र हैं, रामचन्द्र के अनेक गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि वे "वेद-वेदाङ्ग के तत्त्व को जानने वाले हैं, धनुर्वेद के पारंगत हैं और सभी शास्त्रों के तत्त्व को समझते हैं[3]।" फिर आगे चारों भाइयों

---

१. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। तै० उप० ७।११।१॥

२ स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां भूतविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि। छा० उ० ७।१।२॥

३. वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्॥ वा०रा०बालकाण्ड १।१४, १५॥

की शिक्षा का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं कि "सारे ही भाई वेदों के ज्ञाता थे, शूरवीर थे और लोक-हित की बातों में लगे रहते थे[१] ।" जब रावण सीता को उठा कर ले गया है और राम-लक्ष्मण सीता को खोजते हुए ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव के पास पहुँचते हैं तो सुग्रीव ने राम-लक्ष्मण का भाव जानने के लिये हनुमान् को उन के पास भेजा है। हनुमान् की बात सुन कर उस की योग्यता के सम्बन्ध में रामचन्द्र लक्ष्मण से कहते हैं—"जो ऋग्वेद को नहीं पढ़ा है, जिसने यजुर्वेद को नहीं सीखा और जो सामवेद को नहीं जानता वह इस प्रकार की बात नहीं कह सकता[२] ।" इस प्रकार आर्यों में वेद की इतनी अधिक प्रतिष्ठा रही है कि उन के कवि भी अपने काव्यों के नायकों के और-और गुणों के वर्णन के अतिरिक्त उन्हें वेदों का ज्ञाता बताना भी आवश्यक समझते रहे हैं ।

वेद और गौतम बुद्ध

आजकल का बौद्ध धर्म नास्तिक धर्म है। यह धर्म आत्मा और परमात्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। और न ही यह धर्म वेद को मानता है। भ्रान्ति से यह समझा जाता है कि इस धर्म के प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध भी नास्तिक थे—वे भी आत्मा, परमात्मा और वेद को नहीं मानते थे। यदि बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का बारीकी से अध्ययन किया जाये तो पता चलेगा कि महात्मा बुद्ध सच्चे आस्तिक थे। वे आत्मा और परमात्मा में भी विश्वास रखते थे और वेद को भी मानते थे। अपने समय के अन्य आर्यों की भांति ही उन के इन विषयों के विचार आस्तिकता के थे। महात्मा बुद्ध ने सदाचार के जिन सिद्धान्तों पर बल दिया है वे सब आर्य-शास्त्रों में विद्यमान हैं। उस समय के आर्य धर्म के यज्ञों में पशु-हिंसा की कुरीति आ घुसी थी। यज्ञों में पशु-हिंसा की प्रथा सर्वथा वेद-विरुद्ध है। महात्मा बुद्ध ने इस कुरीति के विरुद्ध आवाज उठाई थी। इस प्रकार वे आर्य धर्म के एक सुधारक-मात्र थे। पीछे आ कर उन के अनुयायियों ने उन के धर्म को एक नया और आर्य-धर्म-विरोधी रूप दे दिया तथा उन्हें और उन के धर्म को नास्तिक बना दिया। महात्मा बुद्ध वास्तव में आस्तिक और आर्यधर्मावलम्बी ही थे इस बात के समर्थन में अनेक विद्वानों ने प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं। पौराणिक हिन्दु बुद्ध को विष्णु का अवतार मानते हैं। इस से भी सूचित होता है कि महात्मा बुद्ध

---

१. सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः। वा० रा० बालकाण्ड १८। २५॥

२. नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥ वा० रा० किष्किन्धाकाण्ड ३। २८॥

आर्यधर्मावलम्बी ही थे।

महात्मा बुद्ध के आत्मा-परमात्मा-विषयक मन्तव्यों पर विचार करने का तो यहां अवसर नहीं है। वे वेद के विरोधी नहीं थे, प्रत्युत वेद में श्रद्धा रखते थे और वेद को ऊंचा धर्म सिखाने वाला ग्रन्थ मानते थे इस सम्बन्ध में बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ "सुत्त निपात" से कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। इस ग्रन्थ में महात्मा बुद्ध कहते हैं—

"श्रमण और ब्राह्मणों के जितने वेद हैं उन सब को जान कर और उन्हें पार कर के जो सब वेदनाओं के विषय में वीतराग हो जाता है वह वेदपारग कहलाता है[1]।" "यज्ञों में अग्निहोत्र मुख के समान प्रधान है और छन्द अर्थात् वेद का मुख सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र है[2]।" "इन्द्रियों के अधीन हो कर अपनी इच्छा से कुछ लोग काम तथा तप करते हुए ऊंची-नीची अवस्था को प्राप्त करते हैं, किन्तु जो विद्वान् वेदों के द्वारा धर्म का ज्ञान प्राप्त करता है उस की ऐसी डांवाडोल अवस्था नहीं होती[3]।" "जो वेद को जानने वाला है, जिसने अपने को सधा रखा है, जो बहुश्रुत है और धर्म का निश्चयपूर्वक जानने वाला है, वह निश्चय से स्वयं ज्ञानी बन कर अन्य श्रोताओं को जो सीखने के अधिकारी हैं ज्ञान दे सकता है[4]।" "जो वेद को जानने वाला, ध्यानपरायण, उत्तम स्मृति वाला, ज्ञानी, बहुतों को शरण देने वाला हो, जो पुण्य की कामना वाला यज्ञ करे वह उसी को भोजन आदि खिलाये[5]।" "जिस ने उस वेदज्ञ ब्राह्मण को जान लिया जिस के पास कुछ

---

१. वेदानि विचेय्य केवलानि समणानं यानि प अत्थि ब्राह्मणानम्।
सब्बा वेदनासु वीतरागो सब्बं वेदमतिच्च वेदगू सो। सु० नि० श्लोक ५२६॥

२. अग्गिहुतमुखा यज्ञाः सावित्री छन्दसो मुखम्। सु० नि० ५६६॥
(अग्निहोत्रमुखा यज्ञाः सावित्री छन्दसो मुखम्)॥

३. स्वयं समादाय वतानि जन्तु उच्चावचं गच्छति सञ्ञसत्तो।
विद्वा च वेदेहि समेच्च धम्मं न उच्चावचं गच्छति भूरिपञ्ञो॥ सु० नि० ७९२॥
(विद्वांश्च वेदैः समेत्य धर्मं न उच्चावचं गच्छति भूरिप्रज्ञः)

४. एवं पि यो वेदगू भावितत्तो बहुस्सुतो होति अवेध धम्मो।
सोखो परे निज्झपये पजानं सोतावधानूपनिसूपपन्ने॥ सु० नि० ३२२॥

५. यो वेदगू ज्ञानरतो सतीमा सम्बोधि पत्तो सरनं बहूनाम्।
कालेन तं हि हव्यं पवेच्छे यो ब्राह्मणो पुण्यपेक्खो यजेथ॥ सु० नि० ५०३॥
(यो वेदज्ञो ध्यानरतः स्मृतिमान् सम्बोधप्राप्तः शरणं बहूनाम्।
कालेन तं हि हव्यं प्रवेशयेन् यो ब्राह्मणः पुण्यप्रेक्षो यजेत॥)

धन नहीं और जो सांसारिक कामनाओं में आसक्त नहीं, वह आकांक्षारहित सच-मुच इस संसार-सागर के पार पहुंच जाता है[१]।" "वेद को जानने वाला विद्वान् इस संसार में जन्म व मृत्यु में आसक्ति का परित्याग कर के और तृष्णा तथा पाप-रहित हो कर जन्म और वृद्धावस्था आदि से पार हो जाता है ऐसा मैं कहता हूँ[२]।" "वेद को जानने वाला सांसारिक दृष्टि और असत्य विचार आदि से कभी अहङ्कार को प्राप्त नहीं होता, केवल कर्म और श्रवण आदि किसी से भी वह प्रेरित नहीं होता, वह किसी प्रकार के भ्रम में नहीं पड़ता[३]।" सुत्त-निपात में एक कथा आती है कि सुन्दरिक भरद्वाज अपना यज्ञ समाप्त कर के किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण को यज्ञशेष खिलाना चाहता था। उस ने संन्यासी गौतम बुद्ध को देखा। गौतम बुद्ध से उस ने उन की जाति पूछी। बुद्ध ने उत्तर दिया कि जाति नहीं पूछनी चाहिये, मैं ब्राह्मण हूँ। भरद्वाज को उपदेश देते हुए महात्मा बुद्ध ने कहा—"वेद को जानने वाला जिस की आहुति को प्राप्त करे उस का यज्ञ सफल होता है, ऐसा मैं कहता हूँ[४]।" इस पर भरद्वाज ने कहा—"सचमुच मेरा यज्ञ सफल हो गया जिसे आप जैसे वेदज्ञ महापुरुष के दर्शन हो गये। यदि आप जैसे के दर्शन न होते तो मेरे यज्ञशेष (पुरोडाश) को कोई और सामान्य व्यक्ति खा जाता[५]।"

---

१. यं ब्राह्मणं वेदगुं अभिजञ्ञा अकिंचनं कामभवे असत्तम्।
अद्धाहि सो ओघमिमम् अतारि तिण्णो च पारम् अखिलो अकङ्खो ॥सु०नि०१०५६॥
(यं ब्राह्मणं वेदज्ञम् अभिज्ञातवान् अकिंचनं कामभवे असक्तम्।
अद्धाहि स ओघमिमम् अतारीत् तीर्णश्च पारम् अखिलः अकांक्षः ॥)

२. विद्वा च सो वेदगू नरो इध भवाभवे सङ्गम् इमं विसज्जा।
सो वीततण्हो अनिघो निरासो अतारि सो जातिजरांति ब्रूमीति ॥ सु०नि०१०६०॥
(विद्वांश्च स वेदज्ञो नरः इह भवाभवे सङ्गमिमं विसृज्य।
स वीततृष्णोनघो निराशीः अतारीत्स जाति-जरामिति ब्रवीमि ॥)

३. न वेदगू दिट्ठिया न मुतिया स मानम् एति न हि तन्मयो सो।
न कम्मुना नोपि सुतेन नेयो अनूपनीतो सो निवेसनूसु ॥ सु० नि० ८४६ ॥
(न वेदज्ञो दृष्ट्या न मिथ्या स मानमेति न हि तन्मयः सः।
न कर्मणा नापि श्रुतेन नेयः अनूपनीतः स निवेशनेषु ॥)

४. यदन्तगु वेदगु यञ्ञ काले यस्साहुतिं लभे तस्स इज्झेति ब्रूमि। सु० नि० ४५८ ॥

५. अद्धा हि तस्स हुतम् इज्झे यं तादिसं वेदगुम् अद्दसामं।
तुम्हादिसानं हि अदस्सनेन अञ्ञो जनो भुंजति पुरळासम् ॥ सु० नि० ४५९ ॥
(पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति के बौद्धमत और वैदिकधर्म से)।

महात्मा बुद्ध के इन वाक्यों को पढ़ने के पश्चात् किसी को यह सन्देह नहीं रह सकता कि उन की वेद के सम्बन्ध में क्या सम्मति थी। वे वेद के विरोधी तो थे ही नहीं। प्रत्युत स्वयं वेद के ज्ञाता थे। वेदज्ञ विद्वानों की प्रशंसा किया करते थे। वेद की शिक्षाओं को सब प्रकार की वेदनाओं (विषयानुभूतियों) को जीतने में सहायता देने वाली और वीतराग (इन्द्रियजयी) बनाने वाली मानते थे। वेद के धर्म को पाप-पुण्य में फंसी हुई डांवाडोल स्थिति से पार करने वाला मानते थे। वेद का जानने वाला ही श्रोताओं को सही ज्ञान दे सकता है, ऐसा मानते थे। वेद के ज्ञाता का भोजनादि से सत्कार करने का उपदेश दिया करते थे। वेदज्ञ ब्राह्मणों को संसार-सागर से पार पहुंचाने वाला मानते थे। वेद को जानने वाला जन्म-मृत्यु के बन्धन तथा सब प्रकार की तृष्णाओं और पापों से रहित हो जाता है ऐसा बताते थे। वेद को जानने वाला असत्य विचार और अहङ्कार से रहित हो जाता है तथा वह कभी भ्रम में नहीं पड़ता ऐसा समझते थे। हिंसारहित वैदिक यज्ञों में उन की श्रद्धा थी। दैनिक अग्निहोत्र को वे प्रधान यज्ञ मानते थे (क्योंकि दैनिक अग्निहोत्र में किसी प्राणी की हिंसा नहीं की जाती)। सुन्दरिक भरद्वाज की कथा से स्पष्ट है कि वे अपने को वेदज्ञ ब्राह्मण मानते थे और यज्ञशेष खाने का अधिकारी समझते थे। और इसी लिये भरद्वाज ने उन्हें यज्ञशेष खिला कर अपने यज्ञ को सफल माना।

इस प्रकार पुराने आर्य ऋषि-मुनियों की भांति महात्मा गौतम बुद्ध भी—जो कि एक आर्य धर्म-सुधारक ही थे—वेद में गहरी श्रद्धा और आदर-बुद्धि रखते थे। यह दुःख की बात है कि उन के पिछले अनुयायिओं ने उन को एक आर्य-धर्म-विरोधी नास्तिक का रूप दे डाला।

वेद के सम्बन्ध में स्वयं वेद की अपनी सम्मति

आर्य शास्त्रों में आर्य ऋषियों और आचार्यों ने वेद की यह जो महिमा गाई है उस की पुष्टि स्वयं वेद करते हैं। वेद स्वयं कहते हैं कि वे परमात्मा द्वारा सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों पर प्रकट किये गये ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद तीनों में एक-एक पुरुष-सूक्त आता है। इन पुरुष-सूक्तों में भगवान् द्वारा सब प्रकार की सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए इन पुरुष-सूक्तों में कहा गया है कि "सब के पूजनीय, सृष्टि-काल में सब कुछ देने वाले और प्रलय-काल में सब कुछ नष्ट कर देने वाले उस परमात्मा से ऋग्वेद उत्पन्न हुआ, सामवेद उत्पन्न हुआ, उसी से छन्द अर्थात् अथर्ववेद

उत्पन्न हुआ और उसी से यजुर्वेद उत्पन्न हुआ [१]।" अथर्ववेद के दसवें काण्ड का सातवां और आठवां सूक्त प्रत्येक ४४ मन्त्रों का सूक्त है। इन दोनों बड़े-बड़े सूक्तों में परमात्मा का स्कम्भ नाम से वर्णन किया गया है। स्कम्भ का मोटा शब्दार्थ होता है स्तम्भ। स्तम्भ जैसे किसी मकान की छत को थामे रहता है, धारण किये रहता है, उसी प्रकार परमात्मा भी सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को थामे हुए है, धारण किये हुए है, इस अभिप्राय से इन सूक्तों में भगवान् को स्कम्भ नाम से कहा गया है। इन सूक्तों में स्कम्भ का अभिप्राय है सर्वाधार परब्रह्म। इन सूक्तों में ऊंची अध्यात्म-विद्या भरी हुई है। भगवान् की अनेक विभूतियों का वर्णन इन सूक्तों में किया गया है। इस स्थल पर भी चारों वेदों की उत्पत्ति परमात्मा से ही बताई गई है। वेदों की उत्पत्ति परमात्मा से बताने के लिये बड़ा सुन्दर अलङ्कार बांधा गया है। भगवान् एक स्कम्भ अर्थात् स्तम्भ हैं। जब कोई स्तम्भ बनाया जाता है तो उसे छील कर और रगड़ कर उस की छाल और लकड़ी के टुकड़े उस से अलग किये जाते हैं, उस की छाल पर छोटे-छोटे रोम [२] हुआ करते हैं वे भी छिलकों के साथ उस से अलग कर दिये जाते हैं, स्तम्भ का सिरा या मुख भी रहता है। भगवान् भी एक स्तम्भ हैं। मन्त्र में प्रश्न किया गया है कि ऋषियों द्वारा "जिस से ऋग्वेद के मन्त्र छील कर निकाले गये हैं, यजुर्वेद जिस से रगड़ कर निकाला गया है, सामवेद के मन्त्र जिस के रोमों के समान हैं और अथर्ववेद जिस का सिरा या मुख है, उस स्कम्भ को बताओ कि वह कौन सा है [३]?" मन्त्र में "कौन सा" के लिये "कतमः" पद का प्रयोग हुआ है। "कतमः" का अर्थ "सब से अधिक आनन्दवान्" भी होता है। इस प्रकार इस प्रश्न में ही उत्तर भी आ गया कि वह स्कम्भ आनन्दस्वरूप सर्वाधार परब्रह्म ही है। स्तम्भ के अलङ्कार के कारण मन्त्र में वेदों की उत्पत्ति के लिये छील कर निकालना और रगड़ कर

१. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥ ऋग्० १०।६०।६॥
यजु० ३१।७॥ अथर्व० १६।६।१३॥

२. वृक्षों की त्वचा या छाल पर छोटे-छोटे रोम भी हुआ करते हैं। कई वृक्षों की छाल में, विशेषकर हरी टहनी की छाल में, ये रोम बड़े स्पष्ट दिखाई दिया करते हैं।

३ यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
अथर्व० १०।७।२०॥

निकालना इन क्रियाओं के प्रयोग किये गये हैं। वेद भगवान् के ज्ञानरूप हैं और भगवान् में नित्य रहते हैं इस बात को सूचित करने के लिये वेद-राशि के एक अंश सामवेद और अथर्ववेद को स्तम्भ के रोम और मुख या सिरे के रूप में ही वर्णित कर दिया गया है। सहृदय साहित्य-सेवी जन इस अलङ्कार के सौन्दर्य को अनुभव कर सकते हैं। इस प्रकार इस प्रसंग में भी वेद ने स्पष्ट कहा है कि चारों वेद परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। इन्हीं सूक्तों में एक दूसरी जगह कहा है कि "अपूर्व गुणों वाले उस स्कम्भ नामक सर्वाधार परमात्मा ने वेद की वाणियों को प्रेरित किया है, मनुष्यों के हित के लिये प्रदान किया है, वे वेदवाणियें यथार्थ बात बताती हैं[1]।" यहां भी वही बात कही गई है कि वेद परमात्मा द्वारा उत्पन्न हुए हैं और उन में मनुष्योपयोगी सत्य ज्ञान का उपदेश दिया गया है। अथर्ववेद के पांचवें काण्ड का ग्यारहवां सूक्त[2] भी ब्रह्मविद्या का सूक्त है। इस सूक्त में परमात्मा के गुणों और विभूतियों का वर्णन करते हुए प्रसंग से बताया गया है कि उन कारुणिक भगवान् ने मनुष्यों के कल्याण के लिये अपनी वेदविद्या का उपदेश किया है और प्रत्येक ईश्वरोपासक का कर्तव्य है कि वह इस वेदविद्या का शक्तिभर प्रचार करता रहे। इस सूक्त में परमात्मा ने अपने "जातवेदाः" नाम की यह निरुक्ति की है कि "क्योंकि मुझ से वेद नामक मेरा काव्य उत्पन्न होता है इस लिये मेरा नाम जातवेदाः है[3]।" वेद के इस कथन में भी स्पष्ट कहा गया है कि वे परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का ७१ वां सूक्त वेद-विषयक ही है। इस सूक्त में वेदों की परमात्मा द्वारा उत्पत्ति का वर्णन करते हुए वेदों को भाषा और ज्ञान के आदि स्रोत के रूप में उपस्थित किया गया है और यह बताया गया है कि वेद के स्वाध्याय से लाभ उठाने का सही प्रकार कौन सा है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा है कि "हे महान् ज्ञान से युक्त वेदवाणी के स्वामी परमात्मन्! सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति के समय, आदिम ऋषियों ने जो विभिन्न पदार्थों के नामों को धारण करने वाली, बताने वाली, वेद की वाणियों को पहले-पहल प्रेरित किया, प्रचलित किया, वह वेदज्ञान आपने अपनी प्रेरणा या प्रेम से इन ऋषियों के हृदय में, बुद्धि में, इसलिये रख दिया और वह इन ऋषियों

१. अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्। अथर्व० १०। ८। ३३॥

२. इस अथर्व० ५। ११ सूक्त की विशद और विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक "वरुण की नौका" में देखिये।

३. काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः। अथर्व० ५। ११। २॥

के द्वारा अन्य मनुष्यों के लिये इस लिये प्रकट हुआ क्योंकि इन आदिम ऋषियों में श्रेष्ठत्व और निष्पापत्व था[१]।" फिर तीसरे मन्त्र में कहा है—"वेद-वाणी का पद और अर्थ के सम्बन्ध से प्राप्त होने वाला ज्ञान यज्ञ अर्थात् सब के पूजनीय परमात्मा द्वारा प्राप्त होता है। उस वेदवाणी को मनुष्यों ने ऋषियों में प्रविष्ट पाया है। उस वेदवाणी को धारण कर के ऋषियों ने बहुत स्थानों में कर दिया, फैला दिया। उस वेदवाणी को विविध पदार्थों के गुणों का वर्णन करने वाले गायत्री, अनुष्टुप् आदि सात छन्द प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् वेदवाणी की रचना गायत्री आदि सात छन्दों में हुई है[२]।" इन मन्त्रों में स्पष्ट कहा है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने आदिम ऋषियों को वेद का ज्ञान दिया। उन ऋषियों ने इस वेद-ज्ञान को बहुत जगह फैला दिया। अन्य मनुष्यों ने उन ऋषियों से ही वेद को सीखा। वेद के शब्दों से ही ऋषियों और अन्य मनुष्यों ने संसार के विभिन्न पदार्थों के नाम रखे। मनुष्यों ने पूजनीय परमात्मा द्वारा वेदवाणी को ऋषियों में प्रविष्ट पाया, मन्त्र के इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि ऋषि वेद के रचयिता नहीं थे, वे तो केवल परमात्मा द्वारा दिये हुए ज्ञान को प्रकट करने वाले थे। परमात्मा को सब मनुष्यों से प्रेम है। वे सब का कल्याण चाहते हैं। अपने इस प्रेम के कारण प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में वेद का उपदेश दिया है। यदि भगवान् वेद के द्वारा सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों को भाषा और ज्ञान न सिखाते तो कोई भी मनुष्य भाषा नहीं सीख सकता था और किसी प्रकार का ज्ञान-संग्रह भी नहीं कर सकता था। क्योंकि यह स्थिर नियम है कि मनुष्य सिखाये बिना भाषा और ज्ञान नहीं सीख सकता। परमात्मा ने आदि सृष्टि में आदिम अग्नि आदि चार सर्वश्रेष्ठ और सर्वपवित्र ऋषियों को वेद द्वारा भाषा और ज्ञान सिखाया। उन ऋषियों ने अन्य मनुष्यों को वेद की भाषा और ज्ञान सिखाये। फिर भाषा और ज्ञान की परम्परा चल पड़ी। फिर बहुत कालान्तर में वैदिक भाषा की विकृति, पुनः उस विकृति की विकृतियों द्वारा धरती पर अनेक भाषायें बन गईं। इस प्रकार हम सब के आदि गुरु परमात्मा हैं। इसी अभिप्राय से

१. बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥ ऋग्० १०।७१।१॥

२. यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥ ऋग्० १०।७१।३॥

ये दोनों मन्त्र जिस सूक्त के हैं उस सारे सूक्त की विशद और विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक "वेदोद्यान के चुने हुए फूल" में देखिये।

योग-दर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि "परमात्मा हमारे पूर्वज गुरुओं का भी गुरु है[1]।"

परमात्मा वेद का ज्ञान दे कर हम मनुष्यों का क्या कल्याण करना चाहते हैं ? इस सम्बन्ध में अथर्ववेद का एक मन्त्र देखिये। मन्त्र में परमात्मा कहते हैं—"हे मनुष्यो ! तुम्हारे लिये मैंने वरदान देने वाली वेद-माता की स्तुति कर दी है, वह मैंने तुम्हारे आगे प्रस्तुत कर दी है। वह वेद-माता चेष्टाशील द्विजों को पवित्र करने वाली है। आयु अर्थात् दीर्घ जीवन, प्राण, सन्तान, पशु, कीर्ति, धन-सम्पत्ति और ब्रह्मवर्चस् अर्थात् ब्राह्मणों के तेज अर्थात् विद्या-बल रूप वरों को यह वेद-माता प्रदान करती है। वेद-माता के स्वाध्याय द्वारा प्राप्त होने वाले इन आयु आदि सातों पदार्थों को मुझे देकर, उन्हें मदर्पण—ब्रह्मार्पण—कर के, ब्रह्मलोक को, मोक्ष को, प्राप्त करो[2]।" भगवान् ने वेद-माता का उपदेश इस लिये दिया है कि इस के अध्ययन से मनुष्य भांति-भांति के वरों को, मङ्गलों को, प्राप्त कर सकें। वे अपने आपको द्विज अर्थात् शिक्षित बना सकें। पवित्र और चेष्टाशील उद्यमी बना सकें। वेद-माता के स्वाध्याय और उस के अनुसार आचरण से जो वर, जो मंगल, प्राप्त हो सकते हैं उन का संक्षिप्त वर्गीकरण मन्त्र में आयु आदि सात पदार्थों में कर दिया गया है। संसार के सब मङ्गल इन सात मङ्गलों में आ जाते हैं। आठवां मङ्गल ब्रह्मलोक की प्राप्ति, परमात्मा का साक्षात्कार अर्थात् मोक्ष-पद की प्राप्ति होता है। वेद-माता द्वारा प्राप्त होने वाले इन आयु आदि सातों पदार्थों को ब्रह्मार्पण कर देने से ब्रह्मलोक की, मोक्ष की, प्राप्ति होती है। इन पदार्थों का सेवन हमें स्वार्थ-बुद्धि से नहीं करना चाहिये। इनका सेवन हमें ईश्वर की इच्छा-पूर्ति के लिये करना चाहिये। इन का उपयोग हमें प्रभु की इच्छानुसार धरती पर सत्य, न्याय, दया तथा ज्ञान आदि का ईश्वरीय राज्य स्थापित करने में करना चाहिये। इस से हमारा जीवन उपकारमय हो जायेगा। उपकारमय पवित्र जीवन का सीधा फल मोक्ष की प्राप्ति होगा। इस प्रकार ब्रह्म-प्राप्ति का प्रधान उपाय भी इसी मन्त्र में बता दिया गया है। इस मन्त्र में जो कुछ कहा गया

---

१. स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। यो० १। २६॥

२. स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥
अथर्व० १९। ७१। १॥

इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक "वेदोद्यान के चुने हुए फूल" में देखिये।

है उस का सारांश यह है कि वेद में वह सब ज्ञान दिया गया है जिस से मनुष्य पवित्र, चेष्टाशील और उद्यमी बनता हुआ दीर्घ जीवन आदि सातों पदयों को प्राप्त कर सकता है और अन्त में ब्रह्म की प्राप्ति भी कर सकता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की इस लोक की चहुंमुखी उन्नति करने के लिये आवश्यक सब भौतिक ज्ञान-विज्ञानों का उपदेश तो वेद में दिया ही गया है, परमात्मा के साक्षात्कार के लिये आवश्यक ऊंचा आध्यात्मिक ज्ञान भी वेद में सिखाया गया है। वेद का अन्तिम ध्येय ब्रह्म-साक्षात्कार, परमात्मा के दर्शन, कराना ही है। अथर्ववेद में स्कम्भ-सूक्त में कहा है—"अपूर्व गुणों वाले परमात्मा द्वारा दी गई वेद की वाणियें सत्य ज्ञान का उपदेश करती हुई अन्त में जहां पहुंचती हैं वह महान् ब्रह्म ही है[1]।" वेदमें सूक्त के सूक्त[2] भरे हुए हैं जिन में ऊंचा आध्यात्मिक ज्ञान दिया गया है। वेद-मन्त्रों के आधि-भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन प्रकार के अर्थ हुआ करते हैं। अपने आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थों में जहां वेद भौतिक ज्ञान-विज्ञान सिखाता है वहां अपने आध्यात्मिक अर्थ में सारा वेद ही अध्यात्म-विद्या का ग्रन्थ बन जाता है।

यह है वेद के सम्बन्ध में स्वयं वेद की अपनी सम्मति। और हमारे ऋषियों और आचार्यों ने वेद का गम्भीर अध्ययन कर के जो कुछ वेद अपने विषय में कहता है उसे अक्षरशः सत्य पाया है। तभी उन्होंने वेद के ज्ञान-विज्ञान का महान् निधि होने के सम्बन्ध में वे घोषणायें की हैं जिन का कुछ दिग्दर्शन ऊपर के पृष्ठों में कराया गया है।

वेद और उपवेद तथा वेद और अङ्ग-उपाङ्ग

भारतीय आर्यों ने दर्शन, विज्ञान और भाषा-विज्ञान के क्षेत्रों में जो उन्नति की थी वह सारी चार उपवेद, छः अङ्ग और छः उपाङ्ग इन तीन शीर्षकों के नीचे आ जाती है। इन तीनों को वेदों पर आश्रित माना जाता है। इन का वेदों पर आश्रित होना इन के नामों से ही सूचित होता है। इन के वेदों पर आश्रित होने का अभिप्राय यह है कि इन में जिन विषयों का वर्णन किया गया है वे सब मूल

---

१. अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥ अथर्व० १०। ८। ३३॥

२. वेद के अध्यात्म-विद्या-सम्बन्धी अनेक मन्त्रों और सूक्तों की विशद और विस्तृत व्याख्या हमारी "वेदोद्यान के चुने हुए फूल" और "वरुण की नौका" पुस्तकों में देखिये।

रूप में वेदों में विद्यमान हैं, उन्हीं की व्याख्या इन तीनों में की गई है ।

चार उपवेद निम्न हैं—

क. आयुर्वेद या वैद्यक-शास्त्र । इस उपवेद में मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा के उपायों और रोगी होने पर रोगों की चिकित्सा का वर्णन किया गया है। इस उपवेद में जिन विषयों का वर्णन आता है उन के नाम औषध-विज्ञान (Medicine), शरीर-विज्ञान (Physiology), स्वास्थ्यवृत्त (Hygiene), शल्य-क्रिया (Surgery), प्रत्यक्ष-शारीर (Anotomy), रसायन-शास्त्र (Chemistry) आदि हैं।

ख. अर्थवेद या शिल्प-शास्त्र । इस उपवेद में भांति-भांति के शिल्पों और कलाओं का वर्णन आता है ।

ग. गान्धर्ववेद । इस उपवेद में जिन विषयों का वर्णन आता है उन के नाम संगीतकला, नाट्यकला और नृत्यकला आदि हैं।

घ. धनुर्वेद । इस उपवेद में युद्ध-विद्या और शस्त्रों के निर्माण का वर्णन आता है।

छः अङ्ग इस प्रकार हैं—

क. शिक्षा। वर्णों के ठीक-ठीक उच्चारण की विद्या (Science of Phonetics and Orthoepy)।

ख. कल्प। इस के निम्न चार विभाग हैं—

(i) धर्मसूत्र। इस में वैयक्तिक, कौटुम्बिक और सार्वजनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले नियमों का वर्णन होता है। राजधर्म का वर्णन भी इसी में होता है। धर्मसूत्रों में विभिन्न नियमों (Principles of Law) का प्रतिपादन होता है।

(ii) श्रौतसूत्र । इस में वैदिक यज्ञों की क्रिया (Rules of Vedic Ceremonies) का वर्णन होता है।

(iii) गृह्यसूत्र । इस में गृहस्थ द्वारा अपने घर में किये जाने वाले यज्ञों की क्रिया (Rules of Domestic Ceremonies) का वर्णन होता है ।

(iv) शुल्बसूत्र। इस में भिन्न-भिन्न आकृतियों की यज्ञ-वेदियें बनाने के नियमों का वर्णन होता है । इसी प्रसंग से ज्यामिति-शास्त्र के सिद्धान्तों (Principles of Geometry) का वर्णन भी इन सूत्रों में आ जाता है ।

ग. व्याकरण (Grammar)।

घ. निघण्टु और निरुक्त। इस में वैदिक शब्दों के अर्थों और उन की रचना पर विचार होता है। यह कई अंशों में आजकल के भाषा-विज्ञान (Philology) के ढङ्ग का शास्त्र है। यद्यपि दोनों में बहुत अन्तर भी है।

ङ. छन्द। इस में कविता और पद्य-रचना के सिद्धान्तों (Prosody) पर विचार होता है।

च. ज्योतिष (इसी में गणित-शास्त्र भी सम्मिलित है) (Astronomy and Mathematics)।

छः उपाङ्ग ये हैं—

(१) न्याय, (२) वैशेषिक, (३) सांख्य, (४) योग, (५) मीमांसा और (६) वेदान्त, ये छः दर्शन। इन छहों दर्शनों में जिन विषयों का वर्णन हुआ है उन के आधुनिक पाश्चात्य नाम तर्क-शास्त्र (Logic), मनोविज्ञान (Psychology), आचार-शास्त्र (Ethics), आत्म-परमात्म-तत्त्व-विचार (Metaphysics) और भौतिक-विज्ञान (Physics) आदि हैं।

ये उपवेद, अङ्ग और उपाङ्ग किसी एक-आध पुस्तक के नाम नहीं हैं। एक-एक शीर्षक के नीचे पचासों और सैंकड़ों ग्रन्थ आ जाते हैं। इन नामों के नीचे बड़ा भारी साहित्य आ जाता है। आर्य-साहित्य की ये तीनों श्रेणियें, जैसा अभी ऊपर कहा जा चुका है, वेद पर आधारित मानी जाती हैं। इस का अर्थ यह है कि भारतीय आर्य-विचारक वेदों में प्रायः उन सब विज्ञानों का मूल मानते हैं जिन्हें कि अब तक का सभ्य संसार जान पाया है।

वेद और मध्यकालीन भाष्यकार

वेदों का इतना महत्त्व होने पर भी सैंकड़ों शताब्दियों पूर्व स्वयं भारतवर्ष में ही, जो कि सदा से वैदिक सचाइयों का परीक्षा-क्षेत्र और लीलाभूमि रहा है, किन्हीं अज्ञात कारणों से वेदों का गम्भीर स्वाध्याय बन्द हो गया। इन सैंकड़ों—बल्कि हज़ारों—शताब्दियों में वेदों का जो स्वाध्याय होता रहा वह बहुत ही उथले ढंग का और वेदों के वास्तविक अभिप्राय को अधिकाधिक छिपाने वाला ही होता था। इस प्रकार के स्वाध्याय के परिणामस्वरूप सायण, महीधर और उव्वट आदि के जो भाष्य वेदों पर मिलते हैं उन्हें देख कर, शङ्कराचार्य और मनु आदि के ग्रन्थों के पढ़ने से उत्पन्न होने वाली यह धारणा कि वेद अनेक विद्या-विज्ञानों

से युक्त हैं, उन में संचित ज्ञान की दृष्टि से वे सर्वज्ञ जैसे हैं, प्रदीप की भांति सब पदार्थों को वे प्रकाशित करने वाले हैं और सर्व-ज्ञान के आगार हैं, शिथिल हो जाती है। सायण आदि के ये भाष्य अधिकांश में अर्थहीन याज्ञिक कर्म-काण्ड, पौराणिक किस्से-कहानियों और जादू-टोनों से भरे पड़े हैं। इन भाष्यों में वेद के महत्त्व के अनुरूप कुछ भी नहीं है। इन भाष्यों को पढ़ कर वेद पर श्रद्धा होनी तो दूर रही, उल्टा वेद निहायत मूर्खता की बातों से भरे हुए दीखने लगते हैं और उन पर अश्रद्धा होने लगती है। जिन नियमों के अनुसार इस काल में वेदों के अर्थ किये जाते रहे वे नियम वेदों का सही अभिप्राय समझने के लिये ठीक नियम न थे। इसीलिये ये भाष्यकार वेदों में उस प्रकार की विद्या-विज्ञान की कोई बात न दिखा सके जिस प्रकार की बातों का वेदों में होना मनु आदि प्राचीन विद्वान् देखते थे।

इन सायण आदि भाष्यकारों में एक भारी कमी और थी। वह यह कि ये लोग पौराणिक साहित्य से बहुत अधिक प्रभावित थे। पुराणों में वर्णित देव-माला और किस्से-कहानियें इन के दिमाग में घर किये हुए थीं। इसी लिये व्याकरण आदि शास्त्रों के पूर्ण पण्डित होने पर भी ये भाष्यकार वेद के आशय को न समझ सके। पौराणिकता की रंगत से रंगे हुए इन के मस्तक ने वेदों को भी पौराणिकता की रंगत में रंग दिया। इन्होंने अपने भाष्यों द्वारा वेदों को पुराणों में पाई जाने वाली देव-माला और किस्से-कहानियों से भर दिया। हमने ऊपर दिखाया है कि सायण ने अपने वेद-भाष्य की भूमिका में मीमांसा-सूत्रों के आधार पर वेद में किसी भी प्रकार का इतिहास होने का खण्डन किया है और कहा है कि नित्य वेद में अनित्य व्यक्तियों का इतिहास नहीं हो सकता। पर वेदभाष्य करते हुए सायणाचार्य अपनी इस प्रतिज्ञा की रक्षा नहीं कर सके। उन का वेदभाष्य किस्से-कहानियों से भरा पड़ा है। इस से यह प्रतीत होता है कि या तो सायण का वेदभाष्य सायण का अपना किया हुआ नहीं है, उन के नाम से किसी अन्य पण्डित का किया हुआ है, नहीं तो वे भूमिका में की गई अपनी स्थापना से विपरीत किस्से-कहानियों से भरा हुआ भाष्य कैसे करते? या फिर पौराणिक साहित्य के प्रभाव ने उन्हें इतना दबा लिया था कि उन में अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार निरैतिहासिक भाष्य करने की क्षमता ही नहीं रह गई थी। इस से सायण के वेद-भाष्य का जो मूल्य रह जाता है उसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यही हाल महीधर आदि के भाष्यों का भी है।

इन भाष्यकारों में एक और कमी थी। ये ऋषि-कोटि के तो थे नहीं कि इन्हें वेद का अर्थ प्रत्यक्ष हो जाता। जिन विद्या-विज्ञानों का वेदों में वर्णन आता

है उन अनेक विद्या-विज्ञानों को ये जानते नहीं थे। इस कारण ये वेद के ठीक अर्थ न कर सके। यास्काचार्य ने निरुक्त में कहा है कि "भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति[१]," अर्थात् जिसे जितनी अधिक विद्यायें आती होंगी वह उतना ही अधिक अच्छी तरह वेद को समझ सकेगा। इस कमी के कारण ये लोग वेद का सही अभिप्राय न समझ सके और वेद के ऐसे अर्थ कर गये जिन से वेद हास्यास्पद और अश्रद्धा का पात्र बन गया।

इन भाष्यकारों में एक भारी कमी और भी थी। ये विनियोग के पीछे चलते थे। मध्यकाल के कर्मकाण्डी याज्ञिक लोगों ने अपने कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में वेद-मन्त्रों का भांति-भांति के कर्मों में विनियोग किया है। दैनिक पञ्च-महायज्ञों तथा दर्श, पौर्णमास, सोमयाग, राजसूय, और वाजपेय आदि छोटे-बड़े यज्ञों में तो अनेक वेदमन्त्रों का विनियोग पुराने ऋषि भी करते रहे हैं। पर मध्य-काल के इन याज्ञिक लोगों ने अजमेध, गोमेध और नरमेध आदि यज्ञों में भी अनेक वेदमन्त्रों का विनियोग कर डाला और इन यज्ञों में विनियुक्त वेदमन्त्रों द्वारा बकरे, गौ और मनुष्य तक को मार कर उन के मांस से आहुति देने की नृशंस व्यवस्था बना डाली। इन यज्ञों में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं उन के अपने सीधे और सरल अर्थों से इस प्रकार के प्राणि-वध की पुष्टि नहीं होती। मन्त्रों का अर्थ विनियोग की पुष्टि नहीं करता। इस प्रकार मन्त्रों का विनियोग उन के अर्थ के विपरीत है। प्रत्युत दूसरे वेदमन्त्रों में दी गई प्राणि-हिंसा-निषेधविषयक आज्ञाओं के विपरीत भी यह विनियोग है। इतना ही नहीं। इन मध्यकाल के विनियोगकारों ने और भी अनेक विचित्र-विचित्र बातों के लिये वेदमन्त्रों का विनियोग किया है। उदाहरण के लिये इन विनियोगकारों ने बताया है कि यदि कोई व्यक्ति अपने छीने गये राज्य को वापिस प्राप्त करना चाहता है तो अमुक वेदमन्त्रों से अमुक प्रकार की विधि के साथ यज्ञ करे, यदि कोई किसी सभा में विजय प्राप्त करना चाहता है तो अमुक वेदमन्त्रों से यज्ञ करे, यदि कोई पति या पत्नी को वश में करना चाहता है तो अमुक वेदमन्त्रों से यज्ञ करे, यदि कोई सपत्नी अपनी सौतों पर विजय प्राप्त करना चाहती है तो अमुक वेदमन्त्रों से यज्ञ करे, यदि कोई किसी रोग से मुक्ति पाना चाहता है तो अमुक वेदमन्त्रों से यज्ञ करे, इत्यादि सैंकड़ों प्रकार के कामों के लिये वेदमन्त्रों का विनियोग इन विनियोगकारों ने किया है। और विनियोग की जो पद्धतियें बनाई हैं उन में

१. निरु० १। १४॥

कहीं उपवास कराया गया है, कहीं किसी वृक्ष की लकड़ी की या किसी और चीज की मणि (तावीज) बंधवाई गई है, कहीं दही और शहद में इन मणियों को कुछ दिन रखवा कर किसी विशेष तिथि में उस दही और शहद को खिलाया जाता है, कहीं कुछ कराया जाता है और कहीं कुछ। इस प्रकार ये विनियोग बिल्कुल जादू-टोना बन जाते हैं। जिन मन्त्रों का विनियोग इन क्रियाओं में किया जाता है उन में इस प्रकार की कोई बात नहीं होती। मन्त्रों के अर्थ विनियोग का साथ नहीं देते। पर विनियोग द्वारा मन्त्रों पर वे बातें थोप दी जाती हैं। जो पाठक मन्त्रों का स्वतन्त्र अर्थ करने की क्षमता नहीं रखता वह इन विनियोगों के कारण उन के वैसे ही जादू-टोने से भरे विहंगम अर्थ करने लगता है। सायण आदि पर इन विनियोगकारों का पूरा जादू था। वे इन विनियोगकारों के पीछे चलते थे। इसी लिये सायणादि के वेदभाष्य मन्त्रों के यज्ञों में पशुहिंसा-विषयक अर्थों और जादू-टोने की बातों से भरे पड़े हैं।

सायण ने अपने वेदभाष्य की भूमिका में वेदों को ईश्वर के निःश्वास—ईश्वर से उत्पन्न—माना है और कहा है कि परमात्मा ने वेदों के ज्ञान के अनुसार ही जगत् की रचना की है[१]। इस प्रकार वेदों को सारी सृष्टि के ज्ञान-विज्ञान का आगार मान कर भी सायण अपने वेदभाष्य में वैसा कुछ नहीं दिखा सके। इस का कारण जहां उन का पौराणिक देव-माला और किस्से-कहानियों से बुरी तरह प्रभावित रहना था वहां विनियोगकारों के प्रभाव में भी बुरी तरह रहना था। पुराणों के प्रभाव से उन के भाष्य ने वेद को निरर्थक किस्से-कहानियों से भर दिया और विनियोगकारों के प्रभाव से उन के भाष्य ने वेद को यज्ञों में बूचड़खानों का समर्थक तथा मूर्खताभरी जादू-टोनों की बातें कहने वाला बना दिया। नित्य और अपौरुषेय ईश्वरीय-ज्ञान रूप वेद में किसी का इतिहास तो हो ही नहीं सकता। अतः पुराणों के किस्से-कहानी वेदों पर थोपना तो बिल्कुल हास्यास्पद है। विनियोग भी वेद के अपने बनाये हुए नहीं हैं। वे वेद के बाद बनाये गये हैं। इस लिये वेद को विनियोग के पीछे नहीं चलाया जा सकता। विनियोग से स्वतन्त्र हो कर वेद-मन्त्रों के अर्थ का निश्चय करना होगा। विनियोग के पीछे वेद नहीं चलेगा, वेद के पीछे विनियोग को चलना होगा। वेद-मन्त्रों का स्वतन्त्र बुद्धि-संगत अर्थ कर के उन की शिक्षा को हृदयङ्गम करने और क्रियात्मक रूप देने के लिये किसी यज्ञादि का विधान कर के उस में वेदमन्त्रों का विनियोग कोई

---

१. यस्य निःश्वसित वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ सायण, ऋग्वेदभाष्यभूमिका ॥

करना चाहे तो कर सकता है। परन्तु वेदमन्त्रों का अर्थ किसी भी प्रकार के विनियोग से स्वतन्त्र है और विनियोग से बंधा हुआ नहीं है यह सदा स्मरण रखना होगा। सायण आदि मध्य-युग के भाष्यकार इस बात को नहीं समझ सके। उन की इस भयङ्कर भूल का परिणाम यह हुआ कि उन के हाथों में पड़ कर भारतीय संस्कृति और सभ्यता के मूल, ज्ञान के निधि वेद अश्रद्धा के पात्र, हास्यास्पद और तुच्छ बन गये।

वेद और विदेशी टीकाकार तथा उन का भारतीय शिक्षितों पर प्रभाव

ईसा की अठारहवीं सदी से पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान संस्कृत-साहित्य की ओर आकृष्ट होना आरम्भ हुआ। कितने ही विद्वानों ने संस्कृत पढ़ी और उस के विभिन्न अंगों के अनुवादों का प्रकाशन और उन पर अपनी समालोचनाओं का लिखना प्रारम्भ किया। वैदिक साहित्य पर भी अनेक विद्वान् लगे। वेदों के भारतीय पण्डितों के किये हुए जिस प्रकार के भाष्य और टीकायें इन लोगों के सामने आये उन के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया जा चुका है। पौराणिक कथाओं और याज्ञिक कर्म-काण्ड के अतिरिक्त इन भाष्यों में तत्त्व की बातें बहुत कम थीं। इन्हीं भाष्यों की सहायता से पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों के अनुवाद किये और उन पर अपनी समालोचनायें लिखीं। ये अनुवाद और समालोचनायें अधिकांश में वेदों के प्राचीन महत्त्व को कम करने वाली और उन के प्रति अरुचि उत्पन्न करने वाली थीं। अंग्रेजी शासन-काल में पाश्चात्य विद्वानों की ये पुस्तकें अंग्रेजी भाषा के द्वारा भारतीय लोगों को भी पढ़ने को मिलीं। संस्कृत भाषा का प्रचार प्रायः सर्वथा कम हो गया था। फिर वैदिक-भाषा का तो कहना ही क्या है। स्वयं भारतीयों को भी वेदों के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति की अपेक्षा होने लगी। उन लोगों से जो सम्मति मिली उस ने भारतीय नव-शिक्षितों के मनों में भी वेदों के प्रति अरुचि और अश्रद्धा के भाव पैदा कर दिये। पुराने ढर्रे के संस्कृत पढ़े-लिखे लोगों में यह सामर्थ्य न था कि इस पाश्चात्य-प्रभाव का विरोध और समाधान कर सकते।

ऋषि दयानन्द पुरानी आवाज़ फिर उठाते हैं

यह थी अवस्था वेद के स्वाध्याय की जब भारतवर्ष के रंगमंच पर ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। ऋषि दयानन्द उन महापुरुषों में से थे जो कभी युगों के पीछे उत्पन्न हुआ करते हैं। वे प्राचीन काल के महर्षियों की श्रेणी के महर्षि थे। वे संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने संस्कृत-साहित्य की

सब शाखा-प्रशाखाओं का गहरा आलोडन किया था। वेदों, उन के ब्राह्मणों और अङ्ग-उपाङ्गों पर तो उन का पूरा आधिपत्य था। वेद और वैदिक साहित्य का बड़ा भाग उन्हें कण्ठाग्र था। वेद के अध्ययन में सहायक व्याकरण और निरुक्त आदि शास्त्र उन की जिह्वा पर नाचते थे। उन की बुद्धि बड़ी प्रखर और पैनी थी जो कि वस्तु की तह में जा कर उस के असली रूप को पकड़ने की क्षमता रखती थी। उन की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे खरे-खोटे की पहिचान करने में बड़े दक्ष थे। उन का शरीर और मन तपस्या और ब्रह्मचर्य से सधा हुआ था। वे पहुंचे हुए योगी थे। अठारह-अठारह घण्टे की समाधि में बैठे हुए उन्हें लोगों ने देखा था। वे ईश्वर में श्रद्धा रखने वाले पूर्ण आस्तिक थे। उन का जीवन यम-नियमों[1] के सेवन से पूर्ण पवित्र बन चुका था। वे आजन्म ब्रह्मचारी थे। उन की तर्क-शक्ति, जिसे यास्क ने निरुक्त में ऋषि[2] कर के लिखा है, बड़ी प्रबल थी। इतनी तैयारी और साधना के अनन्तर ऋषि दयानन्द ने वेदों के स्वाध्याय और प्रचार को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था। इस प्रकार वेदों का स्वाध्याय कर के उस ने उन के महत्त्व का प्राचीन शंख फिर से फूंका। उसने फिर से गम्भीर घोषणा की कि वेदों में सब विद्याओं का मूल है। उसने फिर से आचार्य शङ्कर, महाराज मनु तथा दूसरे आचार्यों और ऋषि-मुनियों की आवाज़ में आवाज़ मिला कर कहा—वेद अनेक विद्यास्थानोपबृंहित, अनेक विद्या-विज्ञानों से युक्त, प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योती, सर्वज्ञकल्प और सर्व-ज्ञान के आकर हैं। लोगों ने कहा—सायण आदि पिछले भाष्यकार और पाश्चात्य विद्वान् जो रूप वेदों का दिखाते हैं वह तुम्हारी बात का विरोध करता है। उसने उत्तर दिया—ये लोग जिन नियमों का आश्रय ले कर वेदों को समझना चाहते हैं उन नियमों से वेदों के मर्म को नहीं समझा जा सकता। ये लोग मध्यकालीन भारतीय साहित्य के अनेक अंशों में बहुत निकृष्ट अंग पुराणों और याज्ञिक विनियोगपरक ग्रन्थों के पीछे चल कर वेदों को समझने का प्रयत्न करते हैं। ये लोग इन ग्रन्थों से प्रभावित हो कर मन्त्र में आये विशेष्य की अपनी एक पूर्व-कल्पित मूर्ति को सामने रखते हैं और उस के अनुसार विशेषण-शब्दों को तोड़ते और मरोड़ते हैं। इस से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। और भी कितनी ही बातों का, जिन्हें वेद का अर्थ करते हुए ध्यान में रखना चाहिये, ये लोग बिल्कुल ध्यान नहीं रखते हैं। इस कारण ये लोग वेद के मर्म

१. नियम=शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, ये पांच।
यम=अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पांच।

२. निरुक्त १३। १२॥

को समझने में असमर्थ रह गये हैं।

वेदार्थ-शैली के मूल सिद्धान्त

ऋषि दयानन्द ने ब्राह्मण, निरुक्त, महाभाष्य तथा दूसरे प्राचीन ग्रन्थों का गहरा स्वाध्याय कर के उन में पड़े हुए वेदार्थ-शैली के सूक्ष्म तत्त्वों को खोज निकाला। स्वयं वेद के गम्भीर पारायण ने वेदार्थशैली के इन तत्त्वों को पता लगाने में ऋषि दयानन्द की सहायता की। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में वेदार्थ करने की सही शैली के इन तत्त्वों की ओर स्थान-स्थान पर निर्देश किया गया है। उन के ग्रन्थों के स्वाध्याय से वेदार्थ-शैली के जो मुख्य-मुख्य सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१. वेद ईश्वरीय ज्ञान है इस बात को वेदार्थ करते हुए सदा ध्यान में रखना चाहिये।
२. वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण उन में कोई बात ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के विपरीत नहीं हो सकती। इस लिये वेदमन्त्रों का ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता जो ईश्वर के सत्य, न्याय, दया, संयम, पवित्रता और सर्वज्ञत्व आदि गुणों के विपरीत जाने वाली बातें बताता हो।
३. और इसी लिये वेद में कोई ऐसी बात भी नहीं हो सकती जो सृष्टि-क्रम के विरुद्ध हो। वेदमन्त्रों का ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता जो परमात्मा के सृष्टि-चक्र में काम कर रहे नियमों के विरुद्ध जाता हो। परमात्मा की सृष्टि में जो वैज्ञानिक नियम काम कर रहे हैं उन के प्रतिकूल अर्थ वेदमन्त्रों का नहीं हो सकता।
४. वेद का ज्ञान परमात्मा ने मनुष्यों को उन्नति करने में सहायता देने के लिये दिया है। इस लिये वेद के अर्थ ऐसे होने चाहियें जो मनुष्य को वैयक्तिक रूप में, कौटुम्बिक रूप में, सामाजिक रूप में, आर्थिक रूप में, राजनीतिक रूप में सहायता देने वाले हों।
५. वेद का अर्थ सचाई जानने के साधन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के अनुकूल होना चाहिये। वेद का अर्थ तर्कानुमोदित, युक्तियुक्त और बुद्धिसंगत होना चाहिये।
६. वेद नित्य परमात्मा का नित्य ज्ञान है। इसलिये उस में किन्हीं अनित्य व्यक्तियों का इतिहास नहीं हो सकता। अतः वेदों का अर्थ करते हुए उन में किसी भी प्रकार का इतिहास और किस्से-कहानियें नहीं खोजनी चाहियें। वेद तो त्रैकालिक सत्य सिद्धान्तों का ज्ञान देते हैं। इस के अनुसार ही वेदों का अर्थ

किया जाना चाहिये।

७. विनियोग-वाद से वेद को स्वतन्त्र रखना चाहिये। विनियोग पीछे की चीज है। वेद पहले है। विनियोग को सर्वथा भुला कर वेदमन्त्रों का अपना स्वतंत्र और स्वाभाविक अर्थ देखना चाहिये। मन्त्र के अपने स्वतन्त्र अर्थ से विनियोग की युक्ति-युक्तता परखनी चाहिये। विनियोग के आधार पर मन्त्र का अर्थ नहीं बदलना चाहिये।

८. मन्त्रों में आने वाले इन्द्र आदि विशेष्य-वाची पदों का, वर्णनीय वस्तु को बताने वाले पदों का, अर्थ उन के विशेषणों के आधार पर निश्चित करना चाहिये। पुराणों या दूसरे ग्रन्थों में कल्पित इन्द्रादि की मूर्ति के आधार पर मन्त्र के इन्द्रादि के विशेषण-शब्दों का अर्थ नहीं बदलना चाहिये। उदाहरण के लिये, यदि इस प्रकार विशेषणों के या उस के वर्णनों के आधार पर इन्द्र का अर्थ वेद में देखा जाये तो किन्हीं मन्त्रों में इन्द्र परमात्मा को कहता हुआ मिलेगा, किन्हीं में जीवात्मा को, किन्हीं में राजा को और किन्हीं में विद्युत् को कहता हुआ वह मिलेगा। और भी कई अर्थ इन्द्र के मिलेंगे। इस प्रकार इन्द्र अनेक अर्थों को देने लगेगा जिस से वेद में वर्णित अनेक विद्याओं की सूचना मिलेगी। यही बात अग्नि, वरुण आदि विशेष्य-पदों के सम्बन्ध में भी है। वेद के इन्द्रादि के लिये प्रयुक्त "देवता" शब्द से भ्रान्ति में नहीं पड़ना चाहिये। वेदमन्त्रों में वर्णित की जाने वाली वस्तु का, प्रतिपाद्य विषय का, पारिभाषिक नाम देवता है[१]।

९. वेद में अनेक विद्या-विज्ञानों का वर्णन है। इन विभिन्न विद्या-विज्ञानों को बताने के लिये वेदमन्त्रों के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भेद से अनेक अर्थ होते हैं। वेद के सीमित संख्या के मन्त्रों से अनेक विद्या-विज्ञानों का बोध तभी हो सकता है जब वेदमन्त्रों के अनेक अर्थ किये जायें। यह तभी हो सकता है जब वेद के शब्दों को रूढि न मान कर यौगिक माना जाये। इस लिये वेद का अर्थ यौगिकवाद के आधार पर किया जाना चाहिये। इस पद्धति से एक ही वेदमन्त्र क्षेत्र-भेद से अनेक अर्थ देने लगेगा। केवल इतना ध्यान रखना चाहिये कि एक अर्थ दूसरे अर्थ का विरोधी न हो। ऋषियों ने जो वेद को अनन्त[२] कहा है वह इसी यौगिकवाद की पद्धति से बन सकता है।

---

१. या तेनोच्यते सा देवता। ऋक्सर्वानुक्रमणी।

२. अनन्ता वै वेदाः। तै० ब्रा० ३। १०। ११। ३,४॥

१०. वेद के व्याख्याता को संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञाता तो होना ही चाहिये। संस्कृत-व्याकरण तथा निरुक्त आदि का उस का अध्ययन गहरा होना चाहिये। साथ ही उसे अन्य अनेक विद्याओं और शास्त्रों का ज्ञाता भी होना चाहिये। वेद में वर्णित अनेक विद्या-विज्ञानों को समझने के लिये व्याख्याता को जितनी अधिक विद्यायें आती होंगी उतना ही अधिक उसे लाभ रहेगा। आदिम ऋषियों को तो स्वयं परमात्मा ने वेद में वर्णित विद्या-विज्ञानों का साक्षात्कार करा दिया था। उस परम्परा से वेदों का पठन-पाठन विलुप्त हो गया। अब तो हम तर्क और शास्त्रों के ज्ञान के आधार पर ही वेद को समझने में समर्थ हो सकते हैं।

११. वेद का यदि ध्यानपूर्वक गम्भीरता से स्वाध्याय किया जाये तो पता लगता है कि बहुत स्थानों पर वेद ने अपने आशय को स्वयं स्पष्ट कर दिया है। वेद का अर्थ करने में वेद के इस प्रकार के स्थलों से भी पूरी सहायता लेनी चाहिये। वास्तव में वेद के इस प्रकार के स्थल वेद को समझने में सब से अधिक उपयोगी हैं। उदाहरण के लिये ऋग्वेद १।१६४।४६, यजुर्वेद ३२।१, ऋग्वेद १०।८२।३ और अथर्व० २।१।३ मन्त्रों में—"इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि उसी को कहते हैं, वही दिव्य गुणों वाला सुपर्ण और गरुत्मान् कहलाता है, उसी को यम और मातरिश्वा कहते हैं, उस एक को ही विप्र-गण बहुत नामों से कहते हैं[1];" "वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है और वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही आपः है और वही प्रजापति है[2];" "जो हमारा पिता है, उत्पन्न करने वाला है, जो सब को बनाने वाला सब स्थानों और लोकों को जानता है, जो सब देवों के नाम को धारण करने वाला एक ही है, उस पूछने योग्य, जानने योग्य, की ओर ही सब लोक जा रहे हैं, उसी की ओर संकेत कर रहे हैं[3];" "वही हमारा

---

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋग्० १।१६४।४६॥

२. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ यजु० ३२।१॥

३. यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥ ऋग्० १०।८२।३॥

पिता है, उत्पन्न करने वाला है और वही हमारा बन्धु है, वह सब स्थानों और लोकों को जानता है, जो सब देवों के नामों को धारण करने वाला एक ही है, उस पूछने योग्य, जानने योग्य, की ओर सब लोक जा रहे हैं, उसी की ओर संकेत कर रहे हैं[१];"—यह कह कर इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि वेद में इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि नाम उसी एक परब्रह्म के हैं। उसी एक के भिन्न-भिन्न गुणों और शक्तियों को बताने वाले ये अनेक नाम हैं। इस प्रकार बहु-देव-पूजावाद, जड-पूजावाद आदि वेद पर थोप दिये गये वादों का खण्डन स्वयं वेद कर देते हैं। वेद में तो एक परब्रह्म की ही पूजा और उपासना बताई गई है। इन्द्र आदि नाम किन्हीं अलग देवों के नहीं हैं जिन की अलग से पूजा करनी चाहिये। ये तो उस के भिन्न-भिन्न गुणों को बताने वाले उसी पर-ब्रह्म के नाम हैं। और इस प्रकार वेद की अपनी साक्षी के आधार पर वेद का आध्यात्मिक भाष्य एकेश्वरपरक किया जाना चाहिये।

१२. वेद के व्याख्याता को तपस्वी, संयमी, पवित्र जीवन वाला और ईश्वर का श्रद्धालु होना चाहिये। ये गुण व्याख्याता में ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न कर देते हैं जो वेद को समझने में बहुत अधिक सहायक होती है।

ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में वेदार्थ-शैली के इन मौलिक सिद्धान्तों की पुष्टि में वेदों, ब्राह्मणों, महाभाष्य और निरुक्त आदि से यथेष्ट प्रमाण दिये हैं। इन मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार यदि वेदों का स्वाध्याय और अर्थ किया जायेगा तो वे लौकिक और आत्मिक ज्ञान के खज़ाने दीखने लगेंगे।

वेदों का नये सिरे से अध्ययन आरम्भ होता है

विक्रम-सम्वत् १६२० के आरम्भ में ऋषि दयानन्द अपने गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द की कुटिया में विद्याध्ययन समाप्त कर के गुरु की आज्ञा से प्राचीन विशुद्ध वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिये कार्य-क्षेत्र में उतरे थे। सम्वत् १६४० के मध्य में ऋषि दयानन्द मोक्षधाम को सिधार गये। इस प्रकार कोई २०—२१ वर्ष तक ऋषि दयानन्द ने वैदिक धर्म के प्रचार का कार्य किया। इस समय के प्रारम्भिक दस वर्षों में उन के प्रचार-कार्य ने विशेष बल नहीं पकड़ा। ये दस वर्ष अभी

---

१. स नः पिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामध एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥ अथर्व० २।१।३॥

साधना और तैयारी के ही थे। पिछले दस वर्षों में ही ऋषि के प्रचार कार्य ने बल पकड़ा। इस दस साल के थोड़े से काल में ऋषि ने जो महान् कार्य किया है उसे देख कर दंग रह जाना पड़ता है। इस काल में ऋषि एक मिनट भी खाली नहीं रहे। इस काल में उन्होंने हजारों मील की यात्रा की। काश्मीर से कन्या-कुमारी तक और कच्छ की खाड़ी से बंगाल की खाड़ी तक, सारे भारत का अवगाहन कर डाला। हजारों व्याख्यान दिये और शास्त्रार्थ किये। डेरे पर आये हुए जिज्ञासुओं के जो शङ्का-समाधान किये उन की तो संख्या ही नहीं है। हजारों व्यक्तियों से जो पत्र-व्यवहार चलता रहा वह अलग है। सैंकड़ों आर्यसमाजों की स्थापना की और कई संस्थायें खोलीं। पचास के लगभग ग्रन्थ लिखे जिन में सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, यजुर्वेदभाष्य, और ऋग्वेदभाष्य आदि सैंकड़ों-सैंकड़ों और हजारों-हजारों पृष्ठों के ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं। स्वामी जी के सब ग्रन्थों की पृष्ठ-संख्या १५-२० हजार पृष्ठ से कम न होगी। यह सारा प्रचण्ड कार्य ऋषि दयानन्द ने इन्हीं पिछले दस वर्षों में किया। इन वर्षों में ऋषि ने वैदिकधर्म के प्रचार की धूम मचा दी। सर्वसाधारण जनता और विद्वन्मन्डली के आगे वेद के रहस्यों को खोल कर रखा। वेदार्थ करने की सही शैली लोगों के आगे प्रकट की और वेद का प्राचीन महत्त्व उन्हें समझाया। इस प्रकार इन दस वर्षों में निरन्तर ऋषि दयानन्द ने वेदों का जो शङ्खनाद किया उस से भारत का सारा वायुमण्डल गूंज उठा और वह नाद समुद्र पार कर के योरोप के वैदिक विद्वानों के कानों तक भी पहुंचा।

इस का परिणाम यह हुआ कि जो लहर लोगों के मनों में वेदों के लिये अरुचि उत्पन्न करती और उन्हें आदिम आर्यों (Primitive Aryans) के विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति में गाये गये गीत मात्र समझने के लिये प्रेरित करती थी, उसे एक जबरदस्त रुकावट मिली। अनेक लोग वेदों को नवीन रीति से—जो कि वस्तुतः अति प्राचीन थी—पढ़ने और विचारने लगे। इस नये अध्ययन से प्राचीन आर्य-विश्वास कि वेदों में सब सत्य विद्याओं का मूल है, पुष्ट होता हुआ प्रतीत हुआ। वेदों के अनेक स्थलों की नई और वैज्ञानिक व्याख्यायें होने लगीं। यद्यपि इस दिशा में अभी तक इतना कार्य नहीं हुआ है कि अविश्वासी पाश्चात्य संसार और उन के अनुयायी भारतीय वेदों के प्राचीन महत्त्व को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लें। पर फिर भी इस ओर जो कार्य हो रहा है, और उस में जो आशाजनक सफलता मिल रही है उस से विश्वास होता है कि वह समय बहुत अधिक दूर नहीं है, जब कि संसार फिर मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करेगा कि वेद

वास्तव में सर्वज्ञकल्प है—सर्वज्ञानाकर हैं—और सृष्टि के प्रारम्भ में परम कारुणिक भगवान् ने मनुष्यों के कल्याण के लिये ही उन का पवित्र प्रकाश किया था।

वेद और आधुनिक विद्वान्

अभी ऊपर की पंक्तियों में हमने देखा है कि विक्रम-सम्वत् १६३१ (ईसवी सन् १८७४) से सम्वत् १६४० (सन् १८८३) तक के अपने कार्यकाल में ऋषि दयानन्द ने अपने भाषणों और ग्रन्थों द्वारा वेदों की धूम मचा दी थी। उन का महान् और अद्वितीय ग्रन्थ ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका और वेद-विषयक कई छोटी पुस्तकें ईसवी सन् १८७८ तक प्रकाशित हो चुकी थीं। उन के ऋग्वेद-भाष्य और यजुर्वेदभाष्य का बहुत सा भाग भी सन् १८८३ तक उन के जीवनकाल में ही प्रकाशित हो चुका था। ये दोनों भाष्य उन की मृत्यु के बाद भी छपते रहे। यजुर्वेदभाष्य का छपना सन् १८८६ में समाप्त हुआ और ऋग्वेदभाष्य का छपना सन् १८६६ में। ऋषि दयानन्द के वेदविषयक इस महान् आन्दोलन से अनेक विद्वानों का ध्यान वेदों की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने वेदों का अध्ययन आरम्भ किया। इन में से कितने ही विद्वान् ऐसे हैं जो वेद में भांति-भांति के ज्ञान-विज्ञानों की सत्ता होने के सम्बन्ध में वही सम्मति रखते हैं जो सम्मति ऋषि दयानन्द की है। इस प्रकार के कुछ विद्वानों का यहां उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा।

वेद और सत्यव्रत सामश्रमी

पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी बंगाल में संस्कृत के एक बड़े प्रतिष्ठित विद्वान् हुए हैं। ये अंग्रेज़ी के भी अच्छे ज्ञाता थे। ये कलकत्ता की बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के प्रमुख कार्यकर्ताओं में थे। इन्होंने संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है और संस्कृत तथा बंगला में वेद-विषयक अनेक पुस्तकें लिखी हैं। अपने ढंग से आपने भी वेद को अपौरुषेय माना है। सन् १८६३ में प्रकाशित अपने त्रयी-परिचय नामक संस्कृत-ग्रन्थ में आपने लिखा है कि "वायु आदि की भांति वेद भी अनादि और अपौरुषेय हैं[1]।" इसी ग्रन्थ में आपने प्रसंग से कई स्थानों पर वेदों को सब विद्याओं[2] का खजाना स्वीकार किया है। वेद शब्द का

---

१. अत एव वाय्वादिवद् अनादिरपौरुषेयश्चेति स्तूयतेऽयम् (वेदः) इति वृद्धाः। त्रयी-परिचय ६ पृष्ठ॥

२. सर्वासामेव विद्यानां निधानानि इमे मन्त्राः। त्रयी-परिचय ५ पृष्ठ॥

अपना शब्दार्थ ही विद्या होता है यह दिखाते हुए वेद को आर्य-धर्म का मूल और सब विद्याओं[1] का निधान बताया है।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अपनी सन् १८६७ में प्रकाशित त्रयी-भाषा नामक बंगला पुस्तक की अंग्रेजी-भूमिका में वेदों में विविध ज्ञान-विज्ञान होने के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह पढ़ने योग्य है। उन के इस विषयक लेख का सारांश इस प्रकार है—"ये त्रयी-नामक चारों वेद आर्यों के ईश्वर और धर्मविषयक, व्यावहारिक, वैज्ञानिक, कर्तव्य-शास्त्र तथा समाजशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान के खज़ाने हैं[2]।" इसी प्रसङ्ग में उन्होंने आगे कहा है—"हमारी सम्मति में वैदिक युग में हमारे देश ने असाधारण उन्नति की थी। उन दिनों भूगर्भविद्या, गणित और ज्योतिषशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि को आधिदैविक विद्या और शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान तथा ईश्वर और धर्म-विज्ञान आदि को अध्यात्मविद्या कहते थे। यद्यपि इन वैज्ञानिक विषयों के ग्रन्थ अब विलुप्त हो चुके हैं तो भी वैदिक ग्रन्थों में इन विद्याओं के व्यापक ज्ञान के संकेत भरपूर मिलते हैं। वेदों के ये संकेत इस लिये समझ में नहीं आते कि भाष्यकारों को उल्लिखित विद्याओं का परिज्ञान नहीं था। वेदों के कुछ स्थलों के अध्ययन से तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन में इतना ऊंचा विज्ञान भरा हुआ है कि उस तक आज के अमरीका और योरोप के लोग भी नहीं पहुंच सके हैं। जब तक भाष्यकार को इन सब विद्याओं का ज्ञान नहीं होगा तब तक वह सन्तोषजनक भाष्य नहीं कर सकता। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जो व्यक्ति कृषि-विज्ञान, वाणिज्य, भूगर्भशास्त्र, गणित और ज्योतिष, जल-विद्या, अग्नि-विद्या, वनस्पति-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र, शरीर-विज्ञान और युद्ध-विद्या आदि विद्याओं को भलीभांति जानता है वही वेद का उपयुक्त भाष्यकार हो सकता है और उसी का वेदभाष्य प्रामाणिक हो सकता है[3]।"

१. अस्य आर्यधर्ममूलस्य सर्वविद्यानिधानस्य विद्यापरपर्यायस्य वेदस्य।
त्रयी-परिचय ८६ पृष्ठ॥

2. This fourfold Trayi is the repository of all Aryan knowledge, whether Theological, Practical, Scientific, Ethical and Social.
(त्रयीभाषा, भूमिका, पृष्ठ २)।

3. Our opinion is that in Vedic times our country had made extraordinary progress. In those days the sciences of Geology, Astronomy and Chemistry were called "Adhidaivik Vidya," and those of Physiology, Psychology and Theology "Adhyatm-Vidya." Though the works embodying the scientific knowledge of those times are entirely lost, there are

वेद और डाक्टर रेले

प्रसिद्ध महाराष्ट्रिय विद्वान् डा० वी० जी० रेले ने सन् १९३१ में वैदिक गौड्स (Vedic Gods) नामक एक बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में बड़ी मार्मिक ऊहापोह के साथ यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि वेद के इन्द्र, वरुण आदि देवता मानव-शरीर के भीतर विद्यमान भिन्न-भिन्न चक्रों, अङ्गों और मर्मस्थलों के वाचक हैं। इन इन्द्र आदि के वर्णन आलङ्कारिक भाषा में मानव-शरीर के ही विभिन्न संस्थानों का वर्णन करते हैं। रेले महोदय की सम्मति में सारा वेद शरीर-संस्थानों की रचना और उन की क्रियाओं के वर्णन से भरा हुआ है। डा० रेले अपने ग्रन्थ में एक जगह लिखते

---

sufficient indications in Vedic works of those sciences having been widely known in those days. It is needless to say that the reason why these indications are not understood now, is due to the imperfect interpretation of an expositor having no knowlegde of the sciences. The study of certain portions of the Vedas leads even to the conclusion that certain scientific researches had been carried in this country to such perfection that, not to speak of this moribund country, even America, the constant source of scientific discoveries, and the advanced countries of Europe have not yet attained it. It is this which makes it impossible for us to understand the real purport of such passages. In fact, a full and satisfactory interpreration of the Veda requires a perfact familiarity with all the sciences on the part of the expositor, and it is simply a misfortune to undertake its exposition without such familiarity. What sort of exposition can one give of a book containing such words as spoon, fork, towel, etc., who does not know the use of these things? And how can a treatise containing the names of instruments used in agriculture, which are familiar even to the children of farmers, be understood by those rich citizens who can believe that beams can be made of paddy wood? It is perfectly plain, therefore, that it is only one that has attained a thorough knowledge of Agriculture, Commerce, Geology, Astronomy, Hydrostatics, Igneology, Botany, Zoology, Physiology and the Science of war, can alone be a fit interpreter of the Vedas and that, it is only a commentary written by such an expositor that can alone give full satisfactoin and remove all doubts. (त्रयीभाषा, भूमिका, पृष्ठ ८-९) ।

हैं—"हमारा आजकल का नाडी-संस्थान की रचना-सम्बन्धी ज्ञान ऋग्वेद के जगत्-सम्बन्धी वर्णनों से इतना अधिक मिलता है कि मन में प्रश्न उठने लगता है कि वेद वास्तव में धर्म-ग्रन्थ है या नाडी-संस्थान की रचना और क्रिया-सम्बन्धी विज्ञान का ग्रन्थ है जिस विज्ञान के पूर्ण बोध के विना वेद के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विचार समझ में ही नहीं आ सकते। यदि यह सत्य है तो हमें मानना होगा कि प्राचीन ऋषि विज्ञान की सब शाखाओं में हमारी ही भांति उन्नत थे। वे वैज्ञानिक विषयों को हमारी अपेक्षा भी अधिक जानते थे, विशेषकर मानव-शरीर के नाडी-संस्थान के विषय को। ऋग्वेद के कितने ही मन्त्र हमें इस लिये समझ में नहीं आते कि हमारा आज का नाडी-संस्थान-सम्बन्धी ज्ञान अपूर्ण है। यह कठिनाई इस कारण और भी बढ़ जाती है कि वेद के ये शरीर-रचना और क्रिया-सम्बन्धी वर्णन सांकेतिक भाषा में हैं[१]।" इस प्रकार डा० रेले की सम्मति में वेद शरीर-विज्ञान का महान् ग्रन्थ है।

वेद और श्री पावगी

पूना के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् पावगी महोदय की सम्मति भी वेद के सम्बन्ध में देखने योग्य है। वेदों और प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं इतिहास के सम्बन्ध में पावगी महोदय का अध्ययन बड़ा विस्तृत था। इन्होंने वेदों और प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा इतिहास पर दो दर्जन से अधिक पुस्तकें लिखी

---

1. Our present anatomical knowledge of the nervous system tallies so accurately with the literal description of the world given in the Rig-Veda that a question arises in the mind whether the Vedas are really religious books or whether they are books on anatomy and physiology of the nervous system, without a thorough knowledge of which psychological deductions and philosophical speculations can not be correctly made. If this be true, we can surely assume that the Ancients were as far advanced in all branches of Science as we are now; perhaps they knew much more than we know of scientific subjects and specially of the nervous system of the human body, for the true significance of some passages and Riks of the Rig-Veda can not be made out because of our present imperfect knowledge of the nervous system and the difficulty is still more enhanced by the symbolical aspect which the description of the anatomical facts and physiological functions wears.

V. G. Rele's Vedic Gods, वैदिक गौड्स, पृष्ठ ३०।

हैं। भारतीय-साम्राज्य नाम से इन्होंने भारत का एक विस्तृत इतिहास मराठी भाषा में बीस भागों में लिखा है। लोकमान्य तिलक के इस मत का भी आपने युक्तियुक्त खण्डन किया है कि आर्यों का आदि-देश ध्रुव-प्रदेश था। श्री तिलक ने वेदों के आधार पर उत्तरीय ध्रुव को आर्यों का आदि-देश सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। श्री पावगी ने वेदों के आधार पर ही तिलक के इस मत का खण्डन कर के भारत के सप्त-सिन्धु प्रदेश को आर्यों का आदि देश सिद्ध किया है। यद्यपि पावगी महोदय वेद को ऋषियों की रचना मानते थे तो भी उन की सम्मति में ये ऋषि बहुत ऊंची कोटि के पहुंचे हुए सिद्ध लोग होते थे और उन्हें सचाइयों का प्रत्यक्ष भान होता था। और इसी लिये पावगी की सम्मति में वेदों में सब प्रकार का बहुत ऊंची कोटि का ज्ञान भरा हुआ है। उन्होंने "वैदिक भारत पार्लियामैण्टों की जननी है" नामक अपनी अंग्रेजी पुस्तक में वेदों के अनेक प्रमाण दे कर सिद्ध किया है कि उन में राज्यव्यवस्था, प्रजातन्त्र, पार्लियामैण्टीय शासनपद्धति आदि राजनीतिक विषयों का बड़ा ऊंचा ज्ञान दिया गया है। अपने इसी ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पावगी महोदय ने दिखाया है कि "वेद सब प्रकार के ज्ञान और स्वतन्त्रता की भावना के वास्तविक स्रोत हैं[1]"। इसी ग्रन्थ में एक दूसरे स्थान पर पावगी महोदय कहते हैं—"वेद ज्ञान का आदि स्रोत है, प्रेरणा का उद्गम है, दैवी ज्ञान और शाश्वत सत्य के उपदेशों से भरे हुए वाक्यों का खजाना है[2]।" इस प्रकार पावगी की सम्मति में वेद में सब प्रकार का ज्ञान-विज्ञान भरा हुआ है और वह ज्ञान परमात्मा की प्रेरणा से ऋषियों को प्राप्त हुआ था। अपनी "वैदिक फादर्स आफ् जियौलौजी[3]" नामक अंग्रेजी पुस्तक में पावगी ने लिखा है कि वेदों में भूगर्भविद्या-सम्बन्धी ऊंचे से ऊंचा ज्ञान पाया जाता है।

---

1. I have shown in brief, how the Vedas have justly been deemed to be the real source of all knowledge and of the spirit of independence.
(Pavagi's Vedic India Mother of Parliaments, 1930 ed. P. 76).

2. The Veda, moreover, is the fountain-head of knowledge, the prime source of inspiration, nay the grand repository of pithy passages of divine wisdom and even eternal truth.
(Vedic India Mother of Parliaments, 1930 ed. P. 136).

3. Vedic Fathers of Geology, सन् १६१२ का संस्करण।

वेद और श्री अरविन्द

योगी श्री अरविन्द की विद्वत्ता के सन्बन्ध में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। वे एक महान् विचारक और दार्शनिक थे। उन की विद्वत्ता आज जगत्प्रसिद्ध है। अंग्रेजी में उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उन का दिव्य-जीवन (Life Divine) नामक महान् ग्रन्थ दर्शन-शास्त्र का एक बहुत ऊंचा और मौलिक ग्रन्थ समझा जाता है। देश-विदेश के दर्शन-प्रेमियों में श्री अरविन्द का यह ग्रन्थ बड़े आदर और श्रद्धा के साथ पढ़ा जाता है। अनेक लोगों की सम्मति में श्री अरविन्द जैसे योगी और विचारक बहुत कम हुए हैं। उन के अनेक भक्तों की सम्मति में उन जैसा योगी और विचारक दूसरा हुआ ही नहीं। श्री अरविन्द का वेद का स्वाध्याय भी बड़ा गहरा था। उन्होंने वेद के भिन्न-भिन्न भाष्यकारों का तुलनात्मक अध्ययन किया था। और इस अध्ययन के परिणामस्वरूप वे इस निश्चय पर पहुंचे थे कि जो भाष्यकार वेद को केवल बर्बरतापूर्ण याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने वाला बना देते हैं वे वेद के रहस्य को नहीं समझ सके हैं। उन की सम्मति में ऋषि दयानन्द की वेदभाष्य की शैली सर्वोत्तम है। इसी शैली का आश्रय ले कर वेद के वास्तविक रहस्य को समझा जा सकता है। श्री अरविन्द ऋषि दयानन्द के जीवन और उन की वेदभाष्य-शैली पर मुग्ध थे। आचार्य रामदेव जी के सम्पादकत्व में गुरुकुल कांगड़ी से निकलने वाली अंग्रेजी पत्रिका "वैदिक मैगज़ीन" में सन् १९१५ में श्री अरविन्द ने एक लम्बा लेख ऋषि दयानन्द के जीवन और कार्य पर लिखा था और सन् १९१६ में उसी पत्रिका में उन का एक लम्बा लेख ऋषि दयानन्द के वेद-भाष्य पर निकला था। अब ये दोनों लेख सन् १९४० में प्रकाशित श्री अरविन्द की अंग्रेजी पुस्तक "बंकिम, तिलक और दयानन्द" में पुस्तकाकार में आ गये हैं। इन लेखों में श्री अरविन्द ने ऋषि दयानन्द के जीवन और वेद-भाष्य शैली की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है और यह प्रशंसा करते हुए उन्होंने एक प्रकार से कलम तोड़ दी है। ऋषि का भक्त कोई आर्यसमाजी भी वैसा नहीं लिख सकता था। यहां २६ पृष्ठों के उन लेखों की मार्मिक विवेचना को पूर्ण रूप से उद्धृत नहीं किया जा सकता। श्री अरविन्द की सम्मति के नमूने के रूप में वहां से दो-एक स्थलों का उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा। ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"स्वामी दयानन्द यह स्पष्ट रूप में जानते थे कि परमात्मा ने उन्हें किस कार्य के लिये भेजा है। अतः उन्होंने अपने आत्मा की अधिकार-सम्पन्न दिव्य दृष्टि से अपने साधनों और मार्ग का चुनाव किया। फिर उन्होंने अपने निश्चित विचार को एक जन्मसिद्ध

कार्यकर्त्ता की शक्तियुक्त कार्यकुशलता के साथ कार्य-रूप में परिणत किया । जब मैं परमात्मा के कारखाने के इस महाशक्तिशाली कारीगर की मूर्ति का ध्यान करता हूँ तो मेरे सम्मुख संघर्ष और संग्राम के, कार्य के, विजय के और विजयी परिश्रम के चित्र आने लगते हैं । मेरी सम्मति में वह प्रकाश के लिये लड़ने वाला योद्धा था, परमात्मा का राज्य स्थापित करने के लिये युद्ध करने वाला वीर था, मनुष्यों और संस्थाओं को घड़ कर बनाने वाला शिल्पी था, और प्रकृति द्वारा आत्मा के आगे रखी जाने वाली बाधाओं का अदम्य, निर्भीक विजेता था । उस के सारे जीवन की मुझ पर जो छाप पड़ती है वह यह है कि उस में आध्यात्मिक क्रियात्मकता थी । प्रायः परस्पर विरोधी समझे जाने वाली इन आध्यात्मिकता और क्रियात्मकता का एकत्र होना ही स्वामी दयानन्द की परिभाषा है[1] ।" ऋषि दयानन्द की वेदभाष्य-शैली के सम्बन्ध में श्री अरविन्द लिखते हैं—"वेद की अन्तिम और पूर्ण व्याख्या कुछ भी क्यों न हो, मेरा पूर्ण विश्वास है कि इस बात के लिये स्वामी दयानन्द का सदा आदर किया जायेगा कि उन्होंने वेदार्थ की सही शैली सब से पहले पता लगाई थी । घोर अव्यवस्था, पुराने अज्ञानान्धकार और युगों से चली आ रही मूर्खता के बीच में दयानन्द की ही दिव्य दृष्टि थी जिसने सचाई को देखा और जो सारगर्भित एवं महत्त्वपूर्ण वस्तु थी उसे पकड़ लिया । उन्होंने दीर्घ काल से बन्द पड़े द्वारों की कुञ्जी का पता लगा लिया और सत्य के अवरुद्ध झरनों पर से उन्हें बन्द कर के रखने वाली मुहरों को तोड़ डाला[2] ।" वेद में ज्ञान-

1. Here was one who knew definitely and clearly the work he was sent to do, chose his materials, determined his conditions with a sovereign clairvoyance of the spirit and executed his conception with the puissant mastery of the born worker. As I regard the figure of this formidable artisan in God's workshop, images crowd on me which are all of battle and work and conquest and triumphant labour. Here, I say to myself, was a very soldier of Light, a warrior in God's world, a sculptor of men and institutions, a bold and rugged victor of the difficulties which matter presents to spirit. And the whole sums itself up to me in a powerful impression of spiritual practicality. The combination of these two words, usually so divorced from each other in our conceptions, seems to me the very definition of Dayananda. (Shri Aurobindo's Bankim-Tilak-Dayanand, 1940 ed. P. 49- 50).

2. In the matter of Vedic interpretation I am convinced that whatever may

विज्ञान भरा हुआ है ऋषि दयानन्द के इस मन्तव्य के सम्बन्ध में श्री अरविन्द कहते हैं—"स्वामी दयानन्द के इस विचार में कोई विचित्र और मनमानी कल्पना नहीं है कि वेद में वैज्ञानिक सत्य और धार्मिक सत्य दोनों समाविष्ट हैं। मेरा तो अपना यह विश्वास है कि वेद में विज्ञान की ऐसी सचाइयां भी विद्यमान हैं जिन्हें आज का वैज्ञानिक जगत् बिल्कुल नहीं जानता। और इस अवस्था में यह कहना होगा कि दयानन्द ने वेद के ज्ञान की गहराई और व्यापकता के सम्बन्ध में अत्युक्ति न कर के कम ही कहा है[1]।"

ऋषि दयानन्द की वेदभाष्य-शैली के समर्थन में लिखते हुए श्री अरविन्द ने सायणाचार्य और वेद के राथ (Roth) और मैक्समूलर आदि योरोपीयन विद्वानों की वेद-विषयक भ्रान्त धारणाओं की भी कड़ी आलोचना की है। ऋषि दयानन्द ने वेद का अन्तिम ध्येय ब्रह्म का प्रतिपादन और उस का साक्षात्कार बताया है। श्री अरविन्द ने ऋग्वेद के कुछ अग्नि-सूक्तों का अंग्रेजी में "हिम्स् टू दी मिस्टिक् फायर" नाम से अनुवाद किया है। उन्होंने अपनी इस पुस्तक में अग्नि का अर्थ परमात्मा की ज्ञान-शक्ति[2] किया है। ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में अग्नि का आध्यात्मिक अर्थ ज्ञानस्वरूप परमात्मा किया है। दोनों के अर्थों का एक ही तात्पर्य है। इस पुस्तक की भूमिका में श्री अरविन्द ने स्पष्ट लिखा है कि "वेद का केन्द्रीय विचार सत्यस्वरूप, प्रकाशस्वरूप और अमृतस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति है[3]।" इसी

be the final complete interpretation, Dayananda will be honoured as the first discoverer of the right clues. Amidst the chaos and obscurity of old ignorance and age-long misunderstanding his was the eye of direct vision that pierced to the truth and fastened on that which was essential. He has found the keys of the doors that time had closed and rent asunder the seals of the imprisoned foutains. (Shri Aurobindo's Bankim-Tilak-Dayananda, 1940 ed. P. 71).

1. There is then nothing fantastic in Dayananda's idea that Veda contains truth of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that Veda contains other truths of a science the modern world does not at all possess, and in that case Dayananda has rather understated than overstated the depth and range of the Vedic wisdom. (Shri Aurobindo's Bankim-Tilak-Dayanand, 1940 ed. P. 67)
2. A Force of God instinct with Knowledge. (Hymns to the Mystic Fire, 1946 ed. P. XL.)
3. The thought around which all is centred is the seeking after Truth,

पुस्तक की भूमिका में श्री अरविन्द आगे लिखते हैं—"वेद के कुछ मुख्य-मुख्य देवताओं का स्वरूप (उन का परमात्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों के नाम होना) और पूर्वज ऋषियों की शिक्षा की अति संक्षिप्त और अपूर्ण रूपरेखा यहां दिखा दी है। इस प्रकार समझने पर ऋग्वेद धुन्धला, अस्पष्ट और बर्बरतापूर्ण सूक्तों का संग्रह-मात्र नहीं रह जाता। तब यह ऊंचा उठने की भावना भरने वाला मानव-जाति का संगीत बन जाता है। तब इस के मन्त्र आत्मा की अमरता की ओर उठने की कहानी के कथानकों का वर्णन करने वाले बन जाते हैं। इतना तो वेद में है ही। वेद में इस से और अधिक क्या हो सकता है, पुरातन विज्ञान, जो कि विस्मृत हो चुका है और जो प्राचीन आत्मिक और भौतिक ज्ञान की परम्परा थी, उस के सम्बन्ध में वेद में क्या कुछ है, इस का अन्वेषण करना अभी रहता है[1]।" इस प्रकार श्री अरविन्द की सम्मति में भी वेद में ऊंचे से ऊंचा आत्मिक और भौतिक ज्ञान-विज्ञान भरा हुआ है।

श्री अरविन्द के शिष्य श्रीयुत कपाली शास्त्री ने संस्कृत में सिद्धाञ्जनभाष्य नाम से ऋग्वेद का भाष्य लिखना आरम्भ किया था। यह वेद का आध्यात्मिक भाष्य है जो कि श्री अरविन्द के मन्तव्यों का अनुसरण करते हुए किया गया है। इस भाष्य में भी ऋषि दयानन्द की वेदार्थ-शैली के मौलिक सिद्धान्तों को अपनाया गया है, यद्यपि लेखक ने दयानन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया है। इस सिद्धाञ्जनभाष्य का सन् १९५०-५१ में कुछ अंश ही प्रकाशित हो पाया था कि श्री कपाली का देहान्त हो गया। वेद-प्रेमियों के लिये यह बड़े दुःख की बात है।

Light, Immortality. . . . . To do so is to unite ourselves with the Godhead and to pass from mortality into immortality. This is the first and the central teaching of the Vedic mystics. (Hymns to the Mystic Fire, P. XXIX.).

1. Such are some of the principal images of the Veda and a very brief and insufficient outline of the teaching of the Forefathers. So understood the Rig-Veda ceases to be an obscure, confused and barbarous hymnal; it becomes the high-aspiring Song of Humanity; its chants are episodes of the lyrical epic of the soul in its immortal ascension.

This at least; what more there may be in the Veda of ancient science, lost knowledge, old psycho-physical tradition remains yet to be discovered. (Hymns to the Mystic Fire, P. XLVIII,—1946 ed.).

वेद और प्रो० मैक्समूलर

ऋषि दयानन्द के समकालीन वेद के योरोपियन विद्वान् प्रो० मोनियर विलियम्स और प्रो० मैक्समूलर आदि को ऋषि के वेद-विषयक आन्दोलन का पूरा परिचय था। ऋषि का इन लोगों के साथ विचारों का आदान-प्रदान भी होता रहता था। प्रो० मोनियर विलियम्स ने उन दिनों के अपने एक लेख में ऋषि दयानन्द के श्याम जी कृष्ण वर्मा को संस्कृत में लिखे गये एक पत्र का संकेत करते हुए लिखा था कि वह (प्रो० मोनियर विलियम्स) बम्बई में वेद-धर्म विषय पर ऋषि दयानन्द का धारावाही संस्कृत में भाषण भी सुन चुके हैं। अपने उसी पत्र में ऋषि दयानन्द ने श्याम जी कृष्ण वर्मा से प्रो० मोनियर विलियम्स आदि मित्रों का कुशल-क्षेम भी पूछा है। प्रो० मैक्समूलर ने तो एक बार ऋषि दयानन्द का जीवन-चरित्र लिखने का भी विचार किया था और इस के लिये उन्होंने परोपकारिणी सभा के तात्कालिक मन्त्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पाण्डया से पत्र-व्यवहार भी किया था। उन दिनों ऋषि दयानन्द का वेदभाष्य मासिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित हो रहा था। वह भाष्य प्रो० मैक्समूलर पढ़ते रहते थे, उन की प्रसिद्ध पुस्तक "इण्डिया : व्हट कैन इट टीच अस" (भारत हमें क्या सिखा सकता है) में इस का स्पष्ट उल्लेख है[1]। इतना ही नहीं। अपनी इसी पुस्तक में प्रो० मैक्समूलर ने ऋग्वेद से आरम्भ होने और दयानन्द की ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका पर समाप्त होने वाले सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को दो भागों में बांटने का वर्णन करते हुए ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका को बड़ा मनोरंजक ग्रन्थ बताया है[2]। ऋषि दयानन्द ने भाष्य-भूमिका में एक स्थान पर प्रसंग से प्रो० मैक्समूलर का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार ऋषि दयानन्द और प्रो० मैक्समूलर एक-दूसरे के वेद-विषयक विचारों से भली-भांति परिचित थे। विद्वानों के विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान का कई बार एक-दूसरे पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव भी पड़ जाया करता है। वेद के अन्य योरोपियन विद्वानों की भांति यद्यपि प्रो० मैक्समूलर के वेद-विषयक विचार भी भारतीय आचार्यों और ऋषि-मुनियों की परम्परा से नितान्त

---

1. India : what can it teach us ? 1892 ed. P. 80.
2. We may divide the whole of Sanskrit literature, beginning with the Rig-veda and ending with Dayananda's Introduction to his edition of the Rig-veda, his by no means uninteresting Rig-veda-bhumika, into two great periods, that preceding the great Turanian invasion, and that following it. (India : what can it teach us, P.85)

विपरीत थे, तो भी प्रो० मैक्समूलर को वेदों के साथ बड़ा प्रेम था । ऋग्वेद को और उस के सायणभाष्य को पहले-पहल उन्होंने ही मुद्रित कराया था । अपनी पुस्तक "इण्डिया : व्हट कैन इट टीच अस" में उन्होंने अपने ढङ्ग से वेदों की बड़ी प्रशंसा की है और दिल से की है । यह भी सम्भव है कि ऋषि दयानन्द के वेद-विषयक विचारों का प्रभाव भी अज्ञात रूप में कहीं-कहीं मैक्समूलर पर पड़ गया हो। अपने सन् १८६६ में प्रकाशित "सिक्स् सिस्टम्स् आफ् इण्डियन फिलासफी" (भारतीय षड्दर्शन) नामक ग्रन्थ में प्रो० मैक्समूलर ने ऋग्वेद के प्रजापति-विषयक १०।१२१ सूक्त, विश्वकर्मा-विषयक १०।८१ सूक्त और नासदीय-नामक १०।१२६ सूक्तों का वर्णन करते हुए इन में पाये जाने वाले परमात्मा और जगद्रचना-विषयक सूक्ष्म विचारों की ओर संकेत कर के लिखा है कि इन सूक्तों में इतने ऊंचे विचार हैं जिन्हें देख कर यह प्रतीत होता है कि मानो इन सूक्तों के मन्त्र इन मन्त्रों के ऋषियों से भिन्न किसी और शक्ति द्वारा अनुप्राणित[1] हों । यद्यपि उन्होंने साथ ही यह भी कह दिया है कि इस प्रकार की आत्मेतर शक्ति से अनुप्राणित रचना करने वाले व्यक्ति सदा ही होते रहे हैं। उन के इस कथन की ध्वनि यह है कि अन्य देशों में भी ऐसे व्यक्ति होते रहे हैं। कुछ भी हो। वेद के इन स्थलों को तो ईश्वरीय प्रेरणा से अनुप्राणित अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान दबे शब्दों में प्रो० मैक्समूलर को भी मानना पड़ गया है। वेद का गहरा स्वाध्याय करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति वेद के दूसरे स्थलों को भी ईश्वरीय प्रेरणा से अनुप्राणित मान सकता है। ऋग्वेद के इन तीनों सूक्तों के मन्त्रों में से अधिकांश की व्याख्या ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका आदि ग्रन्थों में कर रखी है। यदि कोई यह कल्पना कर ले कि मैक्समूलर पर दयानन्द का प्रभाव पड़ गया था तो वह ऐसा कर सकता है। दयानन्द का प्रभाव मैक्समूलर पर पड़ा हो या न पड़ा हो, यह स्पष्ट है कि इन सूक्तों को ईश्वरीय प्रेरणा से अनुप्राणित प्रो० मैक्स-मूलर को भी मानना पड़ गया है।

---

1. Nor must we forget that there always have been privileged individuals whose mind was untrammelled by the thoughts of the great mass of the people, and who saw and proclaimed, as if inspired by a power not themselves, truths far beyond the reach of their fellow men. (The Six Systems of Indian Philosophy, vol. I, P. 49, published by Sushil Gupta Ltd, calcutta. 1952)

वेद और डा० ह्यूम

अमेरिका की येल यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर डा० रौबर्ट अर्नेस्ट ह्यूम ने "जीवित धर्मों का कोष[1]" (ट्रैयर हाउस आफ् दी लिविंग् रिलिजन्स्) नामक एक पुस्तक सन् १६३३ में लिखी थी। इस पुस्तक में वैदिक धर्म का वर्णन करते हुए वेदमन्त्रों को उद्धृत किया गया है और उन का अनुवाद करते हुए उन में प्रयुक्त अग्नि, वरुण, मित्र, सविता, सोम और इन्द्र आदि देवतावाची पदों का अर्थ ईश्वर (God) किया है। डा० ह्यूम ने अपने इस ग्रन्थ में जहां ग्रिफिथ आदि दूसरे पाश्चात्य विद्वानों का किया हुआ वेदमन्त्रों का अनुवाद उद्धृत किया है वहां भी इन विद्वानों के अनुवाद में प्रयुक्त अग्नि, मित्र, सोम आदि के स्थान में ईश्वर (God) अर्थ करते हुए यह टिप्पणि दी है कि "परमात्मा के अग्नि, इन्द्र, सोम, वरुण, वात, सविता आदि संस्कृत नामों के स्थान पर ईश्वर यह शब्द रखा गया है[2]।" प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र का अर्थ डा० ह्यूम करते हैं– "दिव्य जीवन-दाता परमात्मा के पूजनीय तेज का हम चिन्तन करें, और वे भगवान् कृपा कर के हमारे विचारों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें[3]।" यहां गायत्री के सविता शब्द का अर्थ डा० ह्यूम ने दिव्य जीवन देने वाला परमात्मा किया है। इस प्रकार वेद के अग्नि, सोम, वरुण, इन्द्र और सविता आदि पदों का परमात्मा अर्थ करने में डा० ह्यूम पर ऋषि दयानन्द का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस युग में सब से पहले ऋषि दयानन्द ने यह बात कही है कि वेद के अग्नि, सोम, वरुण, इन्द्र आदि पदों का अर्थ परमात्मा होता है।

वेद और कुछ अन्य आधुनिक विद्वान्

रामानन्द सम्प्रदाय के आचार्य श्री भगवदाचार्य जी ने अपने सामवेद के साम-संस्कार-भाष्य में अग्नि आदि पदों को परमात्मा के वाचक मान कर मन्त्रों की भक्तिपरक आध्यात्मिक व्याख्या की है। सामवेद के प्रथम मन्त्र "अग्न आ

1. Treasure House of the Living Religions by Robert Earnest Hume,M.A., Ph. D. of the Yale University, published by Charles Seirbner's Sons, New york, in 1933.
2. "God" in place of the sanskrit designations for the Deity—Agni, Indra. Soma, Varuna, Vata, Savita etc.
3. Let us meditate on the adorable glory of the Divine Vivifier. And may He Himself direct our thoughts.

याहि वीतये" की व्याख्या में स्वामी भगवदाचार्य ने लिखा है—"जो भक्त व ज्ञानी को अग्र अर्थात् उत्कृष्ट पद पर पहुंचावे वह अग्नि है। अथवा जो सर्वत्र व्यापक हो वह अग्नि है। (अग्ने) हे अपने भक्तों और ज्ञानियों को अत्युत्कृष्ट पद पर पहुंचाने वाले परमेश्वर! तू सर्वव्यापक भी हमारे अज्ञान से हम से दूर प्रतीत होता है, तू हमारे हृदय प्रदेश में प्राप्त हो[१]।" अपने भाष्य की भूमिका में स्वामी भगवदाचार्य ने ऋषि दयानन्द को कलियुग का आस्तिक-शिरोमणि कह कर स्मरण किया है।

कनखल के परमहंस स्वामी महेश्वरानन्द जी मण्डलेश्वर ने ऋग्वेद के १०० मन्त्रों की एक व्याख्या सम्वत् २००० में "ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकम्" नामक पुस्तक में प्रकाशित की है। इस पुस्तक में भी उक्त स्वामी जी ने अग्नि, इन्द्र आदि पदों का अर्थ परमेश्वर ही किया है। यह अर्थ कर के मन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या की है। और अग्नि आदि पदों का अर्थ परमात्मा करते हुए ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः०" आदि मन्त्रों को प्रमाण-रूप में उद्धृत किया है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र "अग्निमीडे पुरोहितम्" की व्याख्या में अग्नि का अर्थ स्पष्ट रूप में "अग्नि नामक परमात्म-देव[२]" ऐसा किया है।

महामहोपाध्याय पं० विद्याधर शर्मा गौड वेदाचार्य आदि विद्वानों द्वारा सम्पादित "सन्ध्योपासन-विधि" नामक पुस्तक मन्त्रानुवादसहित हाल ही में गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित हुई है। इस में गायत्री मन्त्र के "सवितुः" पद का अर्थ "स्थावर-जंगम-रूप सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न करने वाले उस निरतिशय प्रकाशमय परमेश्वर का" ऐसा किया गया है। पहले पौराणिक भाई सविता का अर्थ सूर्यपरक ही प्रायः किया करते थे।

वेदकर्मकाण्डाचार्य श्री दामोदर शर्मा झा ने "मन्त्रार्थ-चन्द्रोदय" नामक एक पुस्तक लिखी है जो सन् १९४१ में श्री बालकृष्ण शास्त्री ने ज्योतिष-प्रकाश-प्रेस

१. अग्रं उत्कृष्टं पदं भक्तं ज्ञानिनं वा नयतीति अग्निः। अञ्चति सर्वत्र गच्छति सर्वत्र व्याप्नोतीति वा। हे (अग्ने) त्वयि निरतान् त्वद्भक्तान् ज्ञानिनो वा अत्युत्कृष्टं स्वपदं प्रापयितः परमेश्वर (आयाहि) आगच्छ। सर्वव्यापकोपि त्वमस्माकमज्ञानाद् दूरे स्थित इव प्रतीयमानः अस्मद्हृदयप्रदेशमाप्नुहीति तात्पर्यम्।

२. अहम् (अग्निम्) अग्निनामकं परमात्मदेवं (ईडे) स्तौमि।

विश्वेश्वरगंज, बनारस, से प्रकाशित की है। इस पुस्तक में यजुर्वेद के २३ वें अध्याय के उन मन्त्रों का — जिन के महीधरकृत अश्लील अर्थ का खण्डन ऋषि दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका में विस्तार से किया है—अपने ढंग से बड़ा सुन्दर अर्थ किया है। और विद्वान् लेखक ने अर्थ करते हुए ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित यौगिक-अर्थ-शैली का सहारा लिया है तथा शब्दों की निरुक्ति उसी प्रकार की की है जैसी कि ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य में उपलब्ध होती है। मन्त्रों का निर्दोष अर्थ दिखाने के पश्चात् आश्चर्य प्रकट किया है कि महीधर आदि ने ऐसे अश्लील अर्थ कैसे कर दिये[1]!

बम्बई के पारसी विद्वान् दादाचन जी बी० ए०, एल्०-एल्० बी०, ने "पारसी धर्म का दर्शन और धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन" नामक एक विद्वत्तापूर्ण पुस्तक अंग्रेजी में लिखी है जो कि टाइम्स आफ़ इण्डिया प्रेस, बम्बई, से सन् १६४१ में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने वेद के सम्बन्ध में लिखा है—"वेद ज्ञान और विज्ञान की पुस्तक है। इस में प्रकृति, धर्म, प्रार्थना, सदाचार आदि सम्बन्धी प्रकरण हैं। वेद शब्द का अर्थ बुद्धि, समझ, और ज्ञान होता है। और वास्तव में ही वेद ऐसा ग्रन्थ है जिस में घनीभूत बुद्धि, समझ और ज्ञान भरा हुआ है[2]।" ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र "अग्निमीडे" का अर्थ करते हुए ये पारसी विद्वान् लिखते हैं—"इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मन्त्र में अग्नि का अर्थ भौतिक आग और परमात्मा दोनों ही हैं[3]।" ठीक ये ही शब्द इस मन्त्र के अग्नि शब्द के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में लिखे हैं। "शब्दों के दुहरे अर्थ" (Two-fold Significance of Words)

१. एवं निर्दुष्टार्थत्वेपि अविदितार्थतत्त्वज्ञैर्मूर्तात्वेन सह राजमहिष्या ग्राम्यधर्मः (मैथुनम्) कथं सम्भावितः? यस्मिन्नश्वमेधे राज्ञो धर्मात्मत्वप्रतिपादनमेव प्रयोजनं तत्र कामित्वमूलमश्वेन सह राज्ञा मैथुनकल्पनं तु धर्मविरोधिनामेव कृत्यं सम्भवितुमर्हति। किमधिकं च वक्तव्यम्? महीधरस्याप्ययमेवाशयः। स च तत्कृतवेदभाष्ये द्रष्टव्यः। (मन्त्रार्थचन्द्रोदयः पृ० ३६६–६७)।

2. The Veda is a Book of Knowledge and wisdom comprising the Book of Nature, the Book of Religion, the Book of Prayers, the Book of Morals, and so on. The word Veda means wit, wisdom, knowledge, and truly the Veda is condensed wit, wisdom and knowledge. (Philosoply of Zoroastrianism and Camparative Study of Religions, P. 100.)

3. Thus we see that Agni in this hymn means both fire as well as God. P. 100. (पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति के एक लेख से)।

इस शीर्षक के नीचे विद्वान् लेखक ने लिखा है कि यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि वेद के शब्दों के दो-दो अर्थ हुआ करते हैं। एक भौतिक पदार्थविषयक और दूसरा परमात्माविषयक। जो इस बात का ध्यान नहीं रखते उन्हें भ्रम हो जाता है कि वेद में अग्नि, वायु आदि जड़ पदार्थों की पूजा का वर्णन है। विद्वान् लेखक का कथन है कि "वेद तो वास्तव में पूर्ण विशुद्ध एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन करते हैं[1]।" ठीक यही बात ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में वैदिक शब्दों के अर्थ और वेद के उपास्यदेव के सम्बन्ध में कही है।

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी भी वेद के एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं। आपने अपना सारा जीवन वेद के स्वाध्याय और प्रचार के लिये अर्पण कर रखा है। आपने वेद के सम्बन्ध में छोटे-बड़े अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। वेद के अनेक प्रकरणों का हिन्दी में सरल और सुबोध अनुवाद प्रकाशित किया है। मूल वेदों का शुद्ध और सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया है। वेद के स्वाध्याय में सहायता देने वाले अनेक ग्रन्थ तैयार किये हैं। अथर्ववेद का हिन्दी में विस्तृत सुबोध-भाष्य लिखा है। वेद को लोकप्रिय बनाने में श्री पं० सातवलेकर जी ने जितना काम किया है उतना ऋषि दयानन्द के बाद अन्य किसी ने नहीं किया है। प्रारम्भ में आप पक्के आर्यसमाजी थे। अब आपका कुछ बातों में आर्यसमाज से मतभेद हो गया है। परन्तु आप की वेद की व्याख्यायें ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित योगार्थ-शैली का आश्रय ले कर ही लिखी जाती हैं। आचार्य दयानन्द में आप की अब भी गहरी श्रद्धा है और आप उन्हें ऋषि मानते हैं।

ऊपर जिन विद्वानों का उल्लेख किया गया है वे यद्यपि आर्यसमाजी नहीं हैं तो भी उन पर ऋषि दयानन्द के प्रभाव की गहरी छाप है और उन्होंने ऋषि द्वारा प्रदर्शित वेदार्थ-शैली का अवलम्बन कर के ही वेदमन्त्रों के अर्थ किये हैं। इन विद्वानों के अतिरिक्त आर्यसमाज के अपने अनेक विद्वानों ने भी अपने आचार्य दयानन्द के चरणचिह्नों पर चलते हुए वेद के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं और वेद के अनेक सन्दर्भों पर सुन्दर व्याख्यायें तैयार की हैं। इस सारे प्रयत्न का यह परिणाम हुआ है कि अब वेद पहले की अपेक्षा अधिकाधिक समझ में आने लगे हैं तथा अधिकाधिक लोकप्रिय होते जा रहे हैं। यदि यह प्रयत्न इसी प्रकार चलता रहा तो वह समय आने में बहुत देर नहीं लगेगी जब पुराने आचार्यों और ऋषि-मुनियों के स्वर में स्वर मिला कर कहा जा सकेगा कि वेद अनेक विद्यास्थानोपबृंहित हैं, प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योती हैं, सर्व-

1. The Vedas teach nothing but monotheism of the purest kind. P. 102.

ज्ञान के आकर हैं। प्रस्तुत पुस्तक "वेद का राष्ट्रिय गीत" भी इसी दिशा में एक छोटा सा प्रयत्न है।

वेद का काल

भारतीय आर्यों की यह धारणा है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने अग्नि आदि चार ऋषियों को चारों वेदों का ज्ञान दिया था। भारतीय मन्तव्य और गणना के अनुसार इस वर्तमान सृष्टि को बने हुए विक्रम सम्वत् २०११ में १,६७,२६,४६,०५५ वर्ष हो चुके हैं। इस लिये वेद का उत्पत्तिकाल भी आर्यों में यही माना जाता है। परन्तु आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् और उन की पद्धति पर चलने वाले भारतीय विद्वान् वेद को इतना प्राचीन नहीं मानते। इन लोगों की दृष्टि से वेद का रचनाकाल इस आर्यगणना की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् वेद का जो काल मानते हैं वह निम्न तालिका से प्रकट हो जायेगा—

मैक्समूलर	१२००	से	१५००	वर्ष ईसा से पूर्व।	
मैक्डौनल्ड	१२००	से	२०००	,,	,,
कीथ	१२००			,,	,,
बुहूर	१५००			,,	,,
हौग	२०००			,,	,,
ह्विटनी	२०००			,,	,,
विल्सन	२०००			,,	,,
ग्रिफिथ	२०००			,,	,,
श्रौडर	२०००			,,	,,
विन्टर्निट्ज	२५००			,,	,,
जैकोबी	३०००	से	४०००	,,	,,

आर्य-परम्परा में वेद का जो काल माना जाता है उसे स्वीकार न करते हुए भी प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वान् यह बात एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि वेद मनुष्य-जाति का सब से पुराना ग्रन्थ है। भारतीय विद्वान् वेद के काल को पाश्चात्य विद्वानों की अपेक्षा अधिक पीछे ले जाते हैं। कुछ प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों ने वेद का जो रचनाकाल माना है वह निम्न तालिका से सूचित होता है—

शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित	३०००			वर्ष ईसा से पूर्व।	
लोकमान्य तिलक	६०००	से	१००००	,,	,,
अविनाशचन्द्र दास	२००००			,,	,,
डी. ऐन. मुखोपाध्याय	२५०००			,,	,,

इस के अतिरिक्त पं० दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने अपने वेदकाल-निर्णय नामक ग्रन्थ में ज्योतिष के प्रमाणों के आधार पर वेद का रचनाकाल आज से ३००००० वर्ष पूर्व माना है। पावगी महोदय ने अपनी "वैदिक फादर्स् आफ् जियोलौजी" (Vedic Fathers of Geology) नामक पुस्तक में भूगर्भशास्त्र के प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि जिसे भूगर्भशास्त्र की परिभाषा में तृतीय युग (Tertiary Epoch) कहा जाता है वेद उस काल के हैं। डॉ० क्रोल जैसे भूगर्भ-शास्त्रियों के मत में आज से २४०००० वर्ष पूर्व इस तृतीय युग की समाप्ति हो कर हिम-युग (Glacial Period) आरम्भ हो गया था जो कि आज से लगभग ८०००० वर्ष पूर्व समाप्त हो चुका है[1]। हिम-युग से पूर्व का यह तृतीय युग (Tertiary Epoch) लाखों वर्ष रहा है। पावगी की सम्मति में वेद इस तृतीय युग की रचना है। इस लिये वेद कम से कम २४०००० वर्ष पुराना तो है ही, वह इस से भी लाखों वर्ष पुराना हो सकता है। इस प्रकार वेद के काल पर जितना गम्भीरता और बारीकी से विचार किया जाता है वह उतना ही पीछे चलता जाता है। हो सकता है कि आगे आने वाले विद्वान् वेद का काल आर्य-परम्परा के अनुसार सृष्टि का आरम्भ-काल ही मानने लग पड़ें।

ये पाश्चात्य विद्वान् और उन की पद्धति पर चलने वाले भारतीय विद्वान् वेद का रचनाकाल निश्चित करने में वेद की कुछ अन्तःसाक्षियों का सहारा लेते हैं। पर वास्तव में वेद की इन अन्तःसाक्षियों के आधार पर वेद का काल निश्चित नहीं किया जा सकता। वेद का काल निश्चित करने में जिन हेतुओं का अवलम्बन किया जाता है उन्हें मुख्यतः पांच श्रेणियों में बांटा जा सकता है। इन पांचों की संक्षिप्त समीक्षा नीचे की जाती है—

(१) ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम—वेद में अनेक ऐसे शब्द आते हैं जो भारतीय इतिहास के कुछ व्यक्तियों के भी नाम हैं। वेद के इन शब्दों को भारतीय इतिहास के व्यक्तियों के नाम मान कर उन के आधार पर वेद के उन स्थलों का काल निश्चित करने का यत्न किया जाता है। उदाहरण के लिये, कुछ वेदमन्त्रों में "परिक्षित्" शब्द आता है। परिक्षित् महाभारत के अर्जुन के पौत्र का भी नाम है। वेद के "परिक्षित्" को भी वही मान लिया जाता है। और इस के आधार

१. सर चार्ल्स लायल और प्रो० जे० डब्ल्यू० स्पैंसर आदि कई भूगर्भशास्त्री हिम-युग की समाप्ति आज से ३१—३२ हजार वर्ष पूर्व मानते हैं।

पर वेद के इन मन्त्रों को राजा परिक्षित् के समकालीन या उस के पीछे के बने हुए समझा जाने लगता है। इसी प्रकार वेद के कुछ मन्त्रों में "भरताः" शब्द आता है। "भरताः" कुरुवंशी राजाओं का भी नाम है। इस के आधार पर वेद के इन मन्त्रों का काल महाभारत का काल या उस से पूर्व के कुछ राजाओं का काल समझा जाने लगता है। इसी प्रकार ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से मिलने वाले वेद के अन्य शब्दों से भी वेद के उन-उन स्थलों का काल-निर्णय किया जाता है। पर यह भूल है। वेद के ये शब्द किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। वेद में ये शब्द अपने यौगिक अर्थ (Etemological sense) में आते हैं। मन्त्रों के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थों के अनुसार इन शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों के माता-पिताओं ने वेद के इन शब्दों के आधार पर उन के ऐसे नाम रख दिये थे। वेद का इन व्यक्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन व्यक्तियों के नामों की और वेद के शब्दों की केवल श्रवण-मात्र की समानता है। वेद में इतिहासवाद का खण्डन करते हुए महर्षि जैमिनि ने भी मीमांसा-दर्शन में यही बात कही है। उन का कथन है—"दूसरे जो ऐतिहासिक नाम हैं उन में तो वेद के शब्दों के साथ श्रवण की समानता-मात्र है[1]।" मुसलमानों के धर्मग्रन्थ क़ुरान में परमात्मा को "अकबर" कहा गया है। "अकबर" का शब्दार्थ "महान्" होता है। दिल्ली के प्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर का नाम भी अकबर है। इस आधार पर जैसे यह परिणाम निकालना हास्यास्पद होगा कि क़ुरान दिल्ली के सम्राट् अकबर के समय या उस के पीछे बना है, उसी प्रकार ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों से मिलते हुए शब्दों से यह परिणाम निकालना भी हास्यास्पद है कि वेद के वे स्थल उन व्यक्तियों के समय या उस के पीछे बने हैं। नित्य परमात्मा के नित्य ज्ञान वेद में अनित्य व्यक्तियों का इतिहास हो ही नहीं सकता।

(२) **ऐतिहासिक आख्यानक**—वेद में अनेक जगह कुछ ऐतिहासिक से दिखाई देने वाले आख्यान प्रतीत होते हैं। इन आख्यानों के वर्णनों और उन में आये नामों के आधार पर भी वेद के उन स्थलों का काल-निर्णय करने का यत्न किया जाता है। इन आख्यानों की भी यह स्थिति है कि यदि उन्हें ध्यान से देखा जाये तो अनेक आख्यानों में तो कुछ भी इतिहास नहीं पाया जाता। उदाहरण के लिये ऋग्वेद के १। २४। १२-१३ और ५। २। ७ मन्त्रों में शुनःशेप ऋषि

---

१. परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्। जै० सू० १। १। ३१॥

और राजा हरिश्चन्द्र की कहानी बताई जाती है। यह एक लम्बी-चौड़ी कहानी है और इस में अनेक व्यक्तियों के नाम आते हैं। परन्तु ऋग्वेद के इन मन्त्रों में शुनःशेप इस एक शब्द के अतिरिक्त और किसी भी व्यक्ति का नाम नहीं आता। और न ही मन्त्रों में कहानी की बातों का ही कोई निर्देश मिलता है। रहा शुनःशेप शब्द। मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ में इस शब्द का भी बड़ा सुन्दर यौगिक अर्थ हो जाता है[1]। न जाने शुनःशेप ऋषि और राजा हरिश्चन्द्र की यह कहानी वेद के इन मन्त्रों पर कैसे थोप दी जाती है! यही अवस्था अनेक कहानियों की है। कुछ आख्यानक ऐसे हैं जिन में किसी प्राकृतिक या आत्मिक सचाई का रोचक ढंग से उपदेश देने के लिये कथानक की कवि-कल्पना कर ली गई है, जैसे कि कवि और व्याख्याता लोग अपने काव्यों और व्याख्यानों में मनोरंजक और शिक्षाप्रद कहानियें बना लिया करते हैं। इन आख्यानकों में इतिहास यों ही नहीं रह जाता। कुछ आख्यानकों में जगत् में सदा होते रहने वाली घटनाओं को कहानी का रूप दे कर समझाया गया है। यह एक प्रकार से जगत् का नित्य इतिहास होता है। मनुष्यों के ऐतिहासिक इतिहास से वेद के इन आख्यानकों का भी कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐतिहासिक से प्रतीत होने वाले शब्दों के यौगिक अर्थ के सम्बन्ध में अभी ऊपर कहा ही जा चुका है। नित्य वेद में अनित्य ऐतिहासिक आख्यानक नहीं हो सकते।

(३) भाषा-भेद—कहा जाता है कि वेद के कुछ भागों की भाषा जटिल, अस्पष्ट और दुर्बोध सी है और कुछ भागों की भाषा सरल, स्पष्ट और सुबोध है तथा आधुनिक संस्कृत से मिलती सी है। पहले प्रकार की भाषा वाले वेद के स्थल पुराने हैं और दूसरे प्रकार की भाषा वाले स्थल अर्वाचीन हैं। इस प्रकार वेद एक काल का और एक रचयिता का बनाया हुआ नहीं है प्रत्युत विभिन्न कालों में विभिन्न रचयिताओं द्वारा बनाया गया है। वेद में दिखाई देने वाले भाषा-भेद से यह बात सिद्ध नहीं की जा सकती। प्रतिपाद्य विषय के भेद से भाषा-शैली का भेद एक ही लेखक के ग्रन्थों में भी देखा जाता है। उदाहरण के लिये महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी और हर्षचरित में जटिल और दुर्बोध स्थल भी हैं तथा सरल और सुबोध स्थल भी हैं। दोनों शैलियों की भाषा का लेखक एक ही है। फिर भी वर्णनीय विषय के भेद से शैली भिन्न प्रकार की हो गई है। यही बात वेद के शैली-भेद में भी समझी जा सकती है। फिर भाषा की दुर्बोधता और सुबोधता पाठक के

१. शुनःशेप शब्द का आध्यात्मिक अर्थ हमारी पुस्तक "वरुण की नौका" में देखिये।

ज्ञान पर निर्भर करती है। जो भाषा एक पाठक को दुर्बोध प्रतीत होती है वही दूसरे के लिये सुबोध हो सकती है। कुछ भी हो, भाषा-भेद के आधार पर आवश्यक रूप से यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि वेद विभिन्न कालों में विभिन्न रचयिताओं द्वारा बनाये गये हैं। एक ही लेखक एक ही ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न शैलियों की भाषा भी लिख सकता है।

(४) **विचारों की निकृष्टता और उच्चता**—कहा जाता है कि वेद के कुछ भागों में अशिक्षित, जंगली जैसे, विकास की बहुत प्रारम्भिक अवस्था के लोगों के बहुत निम्न स्तर के विचार पाये जाते हैं। वेद के ये भाग पुराने हैं। और कुछ भागों में शिक्षित, सभ्य, विकास की पर्याप्त उन्नत अवस्था के लोगों के बहुत ऊंचे स्तर के विचार पाये जाते हैं। वेद के ये भाग अर्वाचीन हैं। इस प्रकार वेद एक काल की, एक व्यक्ति की, रचना नहीं है। प्रत्युत विभिन्न कालों की, विभिन्न व्यक्तियों की, रचना है। इस युक्ति में भी बल नहीं है। पहले तो वेद के बहुत पुराने और निम्न स्तर के विचारों से युक्त समझे जाने वाले स्थलों में—जैसे, ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में—भी बहुत ऊंचे स्तर के विचार दिखाये जा सकते हैं। दूसरे, प्रत्येक लेखक अपने ग्रन्थ में अपना विशेष क्रम रखता है कि कौन से विचार कहां रखने हैं और कौन से कहां। किन्हीं भागों में यदि साधारण विचार हैं तो इस से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे भाग आवश्यक रूप से ग्रन्थ के दूसरे भागों की अपेक्षा भिन्न काल में और भिन्न लेखक द्वारा लिखे गये हैं। कौन से विचार कहां दिये गये हैं इस में वेद का अपना विशेष प्रयोजन हो सकता है। तीसरे, जिन स्थलों को निम्न स्तर के विचारों से युक्त समझा जाता है वह तो वेद के स्वाध्याय के सही नियमों को न जानने के कारण है। वेद के अध्ययन के सही नियमों को जान कर उस का चिन्तन करने पर तो वेद का प्रत्येक मन्त्र बहुत ऊंची श्रेणी के विचार देने लगता है। यदि अज्ञानी को वेद के किसी भाग में ऊंचे विचार नहीं दीखते हैं तो यह वेद का दोष नहीं है। "यदि अन्धे को खड़ा हुआ ठूंठ नहीं दीखता है तो यह ठूंठ का अपराध नहीं है वह तो उस पुरुष का अपराध है[1]।"

(५) **नक्षत्रों की स्थिति**—वेद के मन्त्रों में कई जगह नक्षत्रों की विशेष स्थितियों की ओर निर्देश मिलते हैं। नक्षत्रों की इन स्थितियों के आधार पर भी वेद के काल का निर्णय किया जाता है। वेद के काल-निर्णय के इस हेतु को बहुत अधिक प्रबल समझा जाता है। नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर काल-निर्णय की

---

१ नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति।
यास्कः, निरु० १। १४॥

युक्ति और उस की समीक्षा को समझने के लिये यहां कुछ आकाश की बात जान लेना आवश्यक है। पृथिवी वर्ष-भर में सूर्य के चारों ओर एक चक्कर लगा लेती है। आकाश में सूर्य के चारों ओर पृथिवी के घूमने के मार्ग को "क्रान्तिवृत्त" कहते हैं। इस क्रान्तिवृत्त के चारों ओर आकाश में नक्षत्रों के २७ समूह विद्यमान हैं। इन की प्रतीयमान आकृति के आधार पर इन के भिन्न-भिन्न नाम रख लिये गये हैं। इन्हें २७ नक्षत्र कहते हैं। किसी भी वृत्त के ३६० अंश (डिग्री) माने जाते हैं। ये २७ नक्षत्र पृथिवी के क्रान्तिवृत्त के चारों ओर एक वृत्त में ही विद्यमान हैं। अतः ये नक्षत्र मोटे तौर पर एक-दूसरे से १३⅓ अंश की दूरी पर अवस्थित हैं। पृथिवी की भूमध्य-रेखा को विषुवत् कहते हैं। वृत्ताकार होने से इसे "विषुवद्वृत्त" भी कहते हैं। यदि यह कल्पना कर ली जाये कि "विषुवद्वृत्त" फैल कर "क्रान्तिवृत्त" तक चला गया तो ये दोनों वृत्त एक दूसरे को २३½ अंश के कोण पर दो स्थानों पर काटेंगे। इन दोनों कटाव-बिन्दुओं में से एक को "वसन्त-सम्पात" (Vernal Equinox) और दूसरे को "शरत्-सम्पात" (Autunmal Equinox) कहते हैं। विषुवद्वृत्त और क्रान्तिवृत्त के इन कटाव-बिन्दुओं के ये नाम इस कारण रख दिये गये हैं कि जब सूर्य वसन्त-सम्पात पर होता है तो वसन्त ऋतु आरम्भ होती है और जब शरत्सम्पात पर सूर्य होता है तो शरद् ऋतु प्रारम्भ होती है। यों तो पृथिवी ही सूर्य के चारों ओर घूमती है, पर हमें सूर्य पृथिवी के चारों ओर घूमता हुआ प्रतीत होता है। इस लिये पृथिवी के क्रान्तिवृत्त को सूर्य का क्रान्तिवृत्त भी कह दिया जाता है। जब सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण जाने लगता है तो उसे वसन्त-सम्पात बिन्दु में से हो कर जाना पड़ता है। जब सूर्य वसन्त-सम्पात पर होता है तो दिन-रात बराबर होते हैं। यह समय २१ मार्च को होता है। जब सूर्य उत्तरायण से दक्षिणायन को जाने लगता है तो उसे शरत्-सम्पात बिन्दु में से हो कर जाना पड़ता है। जब सूर्य शरत्-सम्पात पर होता है तब भी दिन-रात बराबर होते हैं। यह समय २३ सितम्बर को होता है। वसन्त-सम्पात बिन्दु ७२ वर्ष में १ अंश के हिसाब से बहुत मन्द गति से क्रान्तिवृत्त पर पूर्व से पश्चिम की ओर सरकता रहता है। इसी हिसाब से शरत्-सम्पात भी। यह वसन्त-सम्पात क्रान्तिवृत्त पर चलता हुआ २७ नक्षत्रों में से किसी न किसी के सम्मुख रहता है। दूसरे शब्दों में क्रान्तिवृत्त पर चलता हुआ सूर्य वसन्त-सम्पात के समय किसी न किसी नक्षत्र के सम्मुख रहता है। इसे सूर्य का उस नक्षत्र में होना कहा जाता है। वसन्त-सम्पात को एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र में जाने में ६६० वर्ष लगते हैं।

यदि वसन्त-सम्पात के समय सूर्य के किसी विशेष नक्षत्र में होने का वर्णन कहीं मिल जाये तो हम गणना कर के यह जान सकते हैं कि वह स्थिति कब रही होगी। आजकल वसन्त-सम्पात में सूर्य उत्तराभाद्रपदा नक्षत्र में रहता है। वसन्त-सम्पात को एक नक्षत्र से दूसरे में जाने में लगभग १००० वर्ष लगते हैं। अमुक नक्षत्र-विशेष से वसन्त-सम्पात को उत्तराभाद्रपदा तक आने में कितने वर्ष लगे यह आसानी से जाना जा सकता है। उदाहरण के लिये लोकमान्य तिलक ने अपनी पुस्तक "ओरायन" (Orion) में लिखा है कि ऋग्० १०। ८६ सूक्त में वसन्त-सम्पात का मृगशीर्ष नक्षत्र में होने का वर्णन है। मृगशीर्ष नक्षत्र उत्तराभाद्रपदा से ६ नक्षत्र पहले है। इस लिये मृगशीर्ष नक्षत्र में वसन्त-सम्पात आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व रहा होगा। क्योंकि वेद के इस सूक्त में नक्षत्रों की इस स्थिति का वर्णन पाया जाता है इस लिये यह सूक्त भी आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व बना होगा।

नक्षत्रों की इस प्रकार की स्थिति के वर्णनों के आधार पर भी वेद के काल का निर्णय नहीं हो सकता। ऊपर बताया गया है कि वसन्त-सम्पात बिन्दु ७२ वर्ष में १ अंश के हिसाब से सरकता रहता है। इस प्रकार ३६०×७२=२५६२० वर्षों में वसन्त-सम्पात क्रान्तिवृत्त पर घूम कर अपने पहले स्थान पर आ जाता है। यदि आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व वसन्त-सम्पात मृगशीर्ष नक्षत्र में था तो उस से लगभग २६८०० वर्ष पूर्व अर्थात् आज से लगभग ३२००० वर्ष पूर्व भी वह उसी नक्षत्र में था। फिर आज से लगभग ५८००० वर्ष पूर्व भी वह उसी नक्षत्र में था और आज से लगभग ८४००० वर्ष पूर्व भी। इस प्रकार जितना चाहें पीछे जा सकते हैं। तब वेद के इन मन्त्रों को आज से छः हजार वर्ष पुराना न मान कर आज से बत्तीस हजार, अट्ठावन हजार, चौरासी हजार वर्ष या इस से भी पुराना क्यों न माना जाये? वेद में वर्णित यह नक्षत्र-स्थिति आज से केवल ६००० वर्ष पहले की ही है, उस से पहले की नहीं, इस के लिये कोई भी निश्चायक हेतु नहीं है। इस गणना-पद्धति में एक और दोष है। वह यह कि आज से लगभग बीस हजार वर्ष पश्चात् फिर वसन्त-सम्पात मृगशीर्ष नक्षत्र में होगा, उस से दो हजार वर्ष बाद अर्थात् आज से बाईस हजार वर्ष बाद उत्पन्न होने वाला कोई विद्वान् इस युक्ति के आधार पर वेद के इस सूक्त को अपने से केवल दो सहस्र वर्ष पूर्व का ही सिद्ध कर सकेगा।

जब वसन्त-सम्पात किसी विशेष नक्षत्र में पड़ेगा तो उसी हिसाब से अन्य ऋतुयें भी किन्हीं विशेष नक्षत्रों में पड़ेंगी। यदि किसी मन्त्र में किसी ऋतु-विशेष और उस के सूर्य के किसी नक्षत्र-विशेष में होने का वर्णन मिले तो उस के आधार

पर भी ऊपर दिखाई गई रीति से उस मन्त्र के काल की गणना की जा सकती है। आजकल के विद्वानों ने इस प्रकार के वर्णनों के आधार पर भी अनेक मन्त्रों के निर्माण-काल की गणना की है। वसन्त-सम्पात की भांति ही, नक्षत्रों की दृष्टि से, अन्य ऋतुओं की स्थिति भी क्रान्ति-वृत्त पर ७२ वर्ष में १ अंश के हिसाब से घूमती हुई २५९२० वर्ष में उसी नक्षत्र में पहुंच जाती है। ऊपर दिखाई गई रीति से जिस प्रकार वसन्त-सम्पात के वर्णन के आधार पर किसी मन्त्र के निर्माण-काल की गणना करना युक्ति-युक्त नहीं है उसी प्रकार अन्य ऋतुओं के वर्णन के आधार पर भी किसी मन्त्र की काल-गणना करना युक्ति-युक्त नहीं है।

इस लिये वेद का काल निश्चय करने के लिये सब से प्रबल समझी जाने वाली नक्षत्रों की स्थिति की इस युक्ति में भी कोई बल नहीं है। वेद में नक्षत्रों की किसी विशेष स्थिति का वर्णन किसी और प्रयोजन से भी हो सकता है। वेद कोई विशेष उपदेश देने के अभिप्राय से भी नक्षत्रों की किसी स्थिति का वर्णन कर सकते हैं। यह भी हो सकता है कि जहां मन्त्रों में नक्षत्रों की किसी विशेष स्थिति का वर्णन समझा जाता है वहां वह वर्णन हो ही नहीं, केवल भ्रम से ही वैसा समझा जाता हो।

वास्तव में वेद की अन्तःसाक्षी से वेद के किसी ऐतिहासिक काल का निश्चय नहीं हो सकता। वेद तो अपने पुरुष-सूक्तों में और दूसरे स्थानों में इतना ही कहता है कि सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने ऋषियों को वेद सिखाया था। सृष्टि की आयु आर्य-जाति के शास्त्रों के अनुसार १,९७,२९,४९,०५५ वर्ष की है। वेद के इस कथन के आधार पर इस कल्प की दृष्टि से वेद का काल भी एक अरब, सत्तानवे करोड, उनत्तीस लाख, उनचास हज़ार, पचपन वर्ष पूर्व मानना चाहिये। यों तो वेदों का कोई काल निश्चित नहीं हो सकता। क्योंकि वे परमात्मा के ज्ञान में नित्य रहते हैं। अनादि काल से भगवान् प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों पर उन का प्रकाश करते आ रहे हैं।

वेद के ऋषि

जैसा हम ऊपर के पृष्ठों में देखते आये हैं, वेद की अपनी अन्तःसाक्षी और आर्य ऋषि-मुनियों के मन्तव्य के अनुसार वेद परमात्मा में रहने वाला नित्य ज्ञान है जिस का प्रकाश परमात्मा प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों के कल्याण के लिये आदिम ऋषियों के हृदय में कर दिया करते हैं। इस मन्तव्य के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नामक चार ऋषियों को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान दिया था।

इन चारों ऋषियों से ब्रह्मा आदि ऋषियों ने वेद सीखे । और इस प्रकार एक-दूसरे से वेद का अध्ययन करने वाले ऋषियों की परम्परा चल पड़ी । वेद को परमात्मा का ज्ञान स्वीकार करने की अवस्था में ऋषि वेदमन्त्रों के बनाने वाले नहीं माने जा सकते यह बात स्वयं ही स्पष्ट है । इस लिये वेदों के सूक्तों और अध्यायों के आरम्भ में जो मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं, जिन का वेदों की अनुक्रमणिकाओं में उल्लेख किया गया है, वे उन मन्त्रों को बनाने वाले ऋषि नहीं हैं । वे तो उन ऋषियों के नाम हैं जिन्होंने कालक्रम में उन-उन मन्त्रों पर विशेष चिन्तन कर के उन पर व्याख्यायें लिखी थीं और उन का प्रचार किया था । आर्य लोगों ने कृतज्ञता के रूप में उन ऋषियों की स्मृति को स्थिर रखने के लिये उन के नाम उन-उन मन्त्रों के साथ जोड़ दिये । आज हमें उन के लिखे भाष्य और टीकायें तो नहीं मिलतीं पर उन के नाम सूक्तों के आरम्भ में लिखे देख कर हमें इतना स्मरण हो जाता है कि इन ऋषियों ने कभी पुराने समय में उन-उन मन्त्रों का चिन्तन कर के उन पर व्याख्यान लिख कर तथा इन का प्रचार कर के वेद की सेवा की थी ।

हम ऊपर "वेद और यास्क" प्रकरण में देख आये हैं कि महर्षि यास्क के अनुसार ऋषि मन्त्रों के रचयिता नहीं अपितु द्रष्टा हैं । दर्शन पूर्व से विद्यमान वस्तु का ही हुआ करता है । अग्नि आदि आदिम ऋषियों ने परमात्मा द्वारा उन के हृदयों में प्रकाशित किये गये मन्त्रों और उन के अर्थों का दर्शन किया । और फिर आगे आने वाले ऋषियों ने तप और स्वाध्याय द्वारा मन्त्रों के अर्थों का दर्शन किया । इस सम्बन्ध में उक्त प्रकरण में यास्क के निरुक्त से उद्धरण दे कर उन का मत दिखाया जा चुका है । यास्क ने स्पष्ट लिखा है कि आदिम ऋषि साक्षात्कृत-धर्मा[1] थे । उन्हें परमात्मा द्वारा मन्त्रों और उन के अर्थों का साक्षात्कार कराया गया था । पूर्व से विद्यमान वस्तु के देखने को ही साक्षात्कार करना कहा जाता है । अपने द्वारा नई बनाई जाने वाली चीज़ के लिये "बनाना" क्रिया का प्रयोग हुआ करता है, "साक्षात्कार करना" या "देखना" क्रिया का प्रयोग नहीं हुआ करता । यास्क ने इस से भी अधिक स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "ऋषि का अर्थ होता है द्रष्टा, देखने वाला । क्योंकि स्वयंभू वेद तपस्या करते हुए इन ऋषियों पर प्रकट हुआ था यही ऋषियों का ऋषित्व[2] है ।" यास्क की सम्मति में वेद तो स्वयंभू है । परमात्मा के ज्ञान में उस की नित्य सत्ता रहने के कारण वेद सदा से स्वयं विद्यमान है । वह किसी ने बनाया नहीं है । ऋषियों ने खाली उसे देखा है—

१. निरु० १ । १६ ॥ २. निरु० २ । ११ ॥

तप और स्वाध्याय द्वारा उस के अर्थ को समझा है। ऋषियों का ऋषित्व इतना ही है। पुनः निरुक्त के तेरहवें अध्याय में इस बात का विवेचन करते हुए कि वेद का अर्थ किस प्रकार तर्क का आश्रय ले कर करना चाहिये, महर्षि यास्क ने काव्यमयी भाषा में लिखा है कि "जब ऋषियों की परम्परा उठने लगी तो देवों ने कहा कि अब हमारे लिये कौन ऋषि होगा ? जाते हुए ऋषि लोग तब उन्हें इस तर्क को ऋषि बना कर दे गये जो कि मन्त्रार्थ-चिन्तन के लिये ऊहापोह-रूप है और जो कि जिज्ञासुओं द्वारा धारण किया जाता है। इस लिये वेदाभ्यासी पुरुष ऊहापोह कर के, तर्क कर के, जो अर्थ निश्चित करता है वह आर्ष अर्थ ही होता है[१]।" यास्क के इस कथन का अभिप्राय स्पष्ट है। आदिम ऋषि साक्षात्कृतधर्मा थे। उन्हें परमात्मा द्वारा वेद के मन्त्रों का अर्थ प्रत्यक्ष हुआ था। वे अपने प्रत्यक्षीकृत मन्त्रार्थ को अन्य जिज्ञासुओं को बता देते थे। अपने पीछे उन्होंने तर्क को ही ऋषि बना दिया और जिज्ञासुओं से कहा कि तर्क द्वारा वेद के अर्थों का निश्चय किया करो। शुद्ध तर्क से जो अर्थ निश्चित होगा वह आर्ष अर्थ होगा। यास्क की सम्मति में जो काम ऋषि लोग करते थे वही तर्क करता है। ऋषि लोग मन्त्रों का अर्थ बताया करते थे। तर्क भी मन्त्रों का अर्थ बताता है। यदि ऋषि मन्त्रों के बनाने वाले होते तो यास्क यह न कहते कि ऋषियों के अभाव में तर्क को ही ऋषि समझो और तर्कसंगत अर्थ को आर्ष अर्थात् ऋषियों का बताया हुआ अर्थ समझो। यास्क की भांति ही अन्य आचार्य और ऋषि-मुनि भी वेद को परमेश्वर की रचना मानते हैं और इसी लिये उसे ऋषियों का बनाया हुआ नहीं मानते।

परन्तु आजकल के पाश्चात्य विद्वान और उन की पद्धति पर चलने वाले भारतीय विद्वान् वेदों को ऋषियों का बनाया हुआ मानते हैं। वेद के सूक्तों और अध्यायों के आरम्भ में जो भिन्न-भिन्न ऋषियों के नाम लिखे रहते हैं वे उन-उन मन्त्रों के बनाने वाले हैं ऐसी धारणा इन आधुनिक विद्वानों की है। कुछ मन्त्रों के जो ऋषि हैं उन के नाम स्वयं उन मन्त्रों के भीतर पाये जाते हैं। इस से ये आधुनिक विद्वान् और भी अधिक दृढ़ता से यह परिणाम निकालते हैं कि ऋषि वेदमन्त्रों के रचयिता ही हैं। उन की सम्मति में इन मन्त्रों में इन के ऋषियों का नाम आना ऐसा ही है जैसा कि आज कल भी कितने ही कवि अपनी कविताओं में अपने नाम रख दिया करते हैं। परन्तु मन्त्रों के ऋषियों को यदि ध्यान से देखा जाये तो वहां कितने ही ऐसे निर्देश मिलते हैं जिन से इस बात का खण्डन

१. निरु० १३। १२॥

हो जाता है कि ऋषि मन्त्रों के निर्माता हैं। वेदों में सैंकड़ों सूक्त और हजारों मन्त्र ऐसे हैं जिन के ऋषि दो-दो हैं। एक ही सूक्त और एक ही मन्त्र पृथक्-पृथक् दो व्यक्तियों का बनाया हुआ नहीं हो सकता। कहीं भी एक ही कविता को बनाने वाले दो पृथक्-पृथक् कवि नहीं हुआ करते। अनेक मन्त्र वेद में ऐसे हैं जिन के तीन-तीन ऋषि हैं। अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिन के चार-चार ऋषि हैं। अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिन के पांच-पांच ऋषि हैं। अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिन के छः-छः ऋषि हैं। अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिन के सात-सात ऋषि हैं। एक ही मन्त्र को बनाने वाले तीन-तीन, चार-चार, पांच-पांच, छः-छः और सात-सात ऋषि नहीं हो सकते। कहीं भी एक ही कविता को बनाने वाले इतनी भिन्न-भिन्न संख्याओं वाले कवि नहीं हुआ करते। प्रत्येक कवि की अपनी पृथक् कविता हुआ करती है। इतना ही नहीं, कई मन्त्र ऐसे हैं जिन के सौ-सौ ऋषि हैं। एक ही मन्त्र को बनाने वाले सौ-सौ ऋषि नहीं हो सकते। एक ही कविता सौ-सौ कवियों द्वारा बनाई गई कहीं भी नहीं देखी गई। फिर अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिन के ऋषियों के विषय में लिखा रहता है कि इन के ऋषि "बहवः" अर्थात् बहुत से हैं। इस "बहुत से" का अर्थ तीन से ले कर सौ, हजार और लाख तक कुछ भी हो सकता है। अनेक मन्त्रों के ऋषि "कुत्साः," "आत्रेयाः" आदि बहुवचनान्त लिखे हैं। इस बहुवचनान्त प्रयोग का अर्थ होगा, कुत्स और अत्रि आदि की संतानें। यहां भी तीन से ले कर कोई भी संख्या समझी जा सकती है। किसी एक ही मन्त्र को बनाने वाले इतने व्यक्ति नहीं हो सकते। पुनः अनेक मन्त्रों का ऋषि "देवाः" ऐसा बहुवचनान्त लिखा है। वेद में देवों की संख्या तेंतीस, तीन-सौ-तेंतीस और तीनहजार-तीनसौ-तेंतीस भी बताई गई है। किसी एक ही मन्त्र को बनाने वाले इतने व्यक्ति नहीं हो सकते। यजुर्वेद के चालीस अध्यायों में से तेरह अध्याय ऐसे हैं जिन का सारे अध्याय का तो एक ऋषि है ही, परन्तु उन के अलग-अलग मन्त्रों के, किसी के दो, किसी के तीन और किसी के इस से भी अधिक, और-और ऋषि भी हैं। नौ अध्याय ऐसे हैं जिन के सारे अध्याय के दो-दो ऋषि तो हैं ही पर उन के अलग-अलग मन्त्रों के दो-दो, तीन-तीन और इस से भी अधिक और-और ऋषि भी हैं। तीन अध्याय ऐसे हैं जिन के सारे अध्याय के तीन-तीन ऋषि हैं और इन के साथ-साथ अलग-अलग मन्त्रों के दो-दो, तीन-तीन और इस से भी अधिक और-और ऋषि भी हैं। किसी एक ही मन्त्र को बनाने वाले इतने व्यक्ति नहीं हो सकते। अनेक मन्त्र वेदों में ऐसे भी हैं जो अपने उसी रूप में, ज्यों के त्यों, एक से अधिक वेदों में पाये जाते हैं। इन मन्त्रों में से अनेक ऐसे हैं जिन का एक वेद में तो ऋषि कोई है और दूसरे वेद में कोई और। इस प्रकार एक ही मन्त्र को बनाने वाले दो भिन्न-भिन्न

व्यक्ति नहीं हो सकते। मन्त्रों के ऋषियों की यह स्थिति निर्विवाद रूप से सिद्ध करती है कि ऋषि मन्त्रों के निर्माता हैं इस मत को नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा—व्याख्याता और भाष्यकार—हैं. रचयिता नहीं, यही सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य है। इस मत में सूक्तों और मन्त्रों के एक से अधिक ऋषि होना कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करता। एक ही सूक्त और मन्त्र के एक से अधिक भी कितने ही व्याख्याकार हो सकते हैं। एक सूक्त या मन्त्र के सौ व्याख्याकार भी हो सकते हैं। अब यह प्रश्न रह जाता है कि जिन कुछ मन्त्रों में उन के ऋषियों के नाम आते हैं उन का क्या समाधान होगा? जैसे कुछ मन्त्रों का ऋषि वसिष्ठ है और उन मन्त्रों में भी वसिष्ठ पद आया हुआ है। वसिष्ठ को इन मन्त्रों का निर्माता कैसे न माना जाये? इस का समाधान सीधा है। जैसे ऊपर "वेद का काल" प्रकरण में दिखा आये हैं, मन्त्रों के ये वसिष्ठ आदि पद किन्हीं व्यक्तियों के नाम नहीं हैं, ये तो गुण-वाचक यौगिक शब्द हैं। उदाहरण के लिये "वसिष्ठ" पद का यौगिक शब्दार्थ है—खूब बसाने वाला। अपने अन्दर उत्तम गुणों को बसाने वाला और दूसरे लोगों को बसने में सहायता देने वाला। जिस ऋषि ने वसिष्ठ पद वाले मन्त्रों की व्याख्या की उसे इस पद का यह सुन्दर अर्थ बहुत पसन्द आया और उसने अपना उपनाम वसिष्ठ रख लिया। पीछे से लोग उस के असली नाम को तो भूल गये और यह उपनाम याद रह गया। यह भी हो सकता है कि वसिष्ठ पद वाले मन्त्रों का उत्तम व्याख्याकार होने के कारण लोगों ने ही उस का नाम वसिष्ठ धर दिया हो और यही नाम प्रचलित हो गया हो। रघुवंश में कालिदास ने इन्दुमती के साथ दीप-शिखा[1] की उपमा बड़े कमाल की दी है। इस से साहित्यिकों में कालिदास का नाम दीपशिख भी पड़ गया है। इसी प्रकार मन्त्रों में पाये जाने वाले अन्य ऋषियों के नामों की व्याख्या भी भली-भांति हो सकती है।

यदि विवाद के लिये यह मान भी लिया जाये कि वेद ऋषियों के बनाये हुए ही हैं तो भी कोई विशेष हानि नहीं होती है। यदि मन्त्र ऋषियों के बनाये हुए हैं तो ये ऋषि लोग साधारण व्यक्ति नहीं थे। ये बहुत ऊंची कोटि के पहुंचे हुए व्यक्ति थे। ऐसे पहुंचे हुए ऊंची कोटि के ऋषियों की वाणी में परमात्मा की प्रेरणा भी रहा करती हैं। गीता और उपनिषद् तथा दूसरे शास्त्र पारिभाषिक अर्थों में ईश्वर की रचना नहीं है। फिर भी इन ग्रन्थों में जो ऊंची श्रेणी का ज्ञान भरा हुआ है उस के कारण इन का असीम आदर किया जाता है और इन्हें ईश्वरीय ज्ञान सा

१. रघुवंश ६। ६७॥

ही समझा जाता है। वेद तो इतने ऊंचे ग्रन्थ हैं कि ये गीता और उपनिषद् तथा अन्य शास्त्र वेदों की महिमा के गीत गाते नहीं थकते और वेदों को ही अपना आधार मानते तथा उन से ही अपनी प्रेरणा लेते हैं। तब वेदों का तो इन ग्रन्थों से भी कहीं अधिक आदर होना चाहिये और इन से भी कहीं अधिक श्रद्धा से उन का पठन-पाठन होना चाहिये। इस श्रद्धा और आदर से किये गये वेद के स्वाध्याय से संसार के कल्याणकारी तत्त्वज्ञान के वे रहस्य प्राप्त होंगे जिन के अनुसार चलने से धरती स्वर्ग बन जायेगी और हम स्वर्ग में रहने वाले देवता हो जायंगे।

भारतीय संस्कृति का स्रोत वेद

पाठकों ने ऊपर देखा है कि भारतीय आर्य विचारकों की सम्मति में वेद सब प्रकार के विद्या-विज्ञानों के मूल हैं। जिन विद्या-विज्ञानों का अब तक आविष्कार हो चुका है उन का और उन से भी अधिक विद्या-विज्ञानों का मूल वेद में विद्यमान है। विद्या-विज्ञानों के क्षेत्र में भारत ने जो उन्नति की थी उस का आधार तो वेद को माना ही जाता है। भारत की सारी चिन्तना और उस के लोगों के रहन-सहन में जो कुछ भी उत्कृष्टता है उस का मूल वेद ही है। दूसरे शब्दों में भारत की संस्कृति में जो कुछ उदात्त, जो कुछ श्रेष्ठ और ऊंचा है उस का स्रोत वेद ही है। वेद भारत की आत्मा में रमा हुआ है। भारतीयों का विचार-साहित्य तो वेद पर आश्रित है ही उन के जीवन में भी वेद ओत-प्रोत है। जन्म से ले कर मृत्यु तक भारतीयों के जितने संस्कार होते हैं वे सब वेदमन्त्रों के द्वारा होते हैं। भारतीयों के पूजा-पाठ, जप-ध्यान और यज्ञ-उत्सव सब वेदमन्त्रों के द्वारा होते हैं। उन के नवनिर्मित घरों में प्रवेश, तीज-त्योहार और दूसरे समारोहों का प्रारम्भ प्रायः वेदमन्त्रों द्वारा किये गये मांगलिक यज्ञों के साथ ही होता है। भारतीय संस्कृति अध्यात्मवादी संस्कृति[1] है। उस में तप, त्याग, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, संयम, ईश्वर-विश्वास, अपरिग्रह, विश्वभ्रातृत्व, सर्वभूतदया, निर्भयता आदि आत्मिक तत्त्वों पर बहुत अधिक बल दिया जाता है। भारतीय संस्कृति भौतिकता-वादी नहीं है। भारतीय संस्कृति इस बात पर बल देती है कि जीवन का भौतिक अंश जीवन के आत्मिक तत्त्व के अधीन रह कर चलना चाहिये। भारतीय संस्कृति के ये सब ऊंचे आत्मिक तत्त्व भारतीयों ने वेद से ही सीखे हैं।

---

१. भारतीय संस्कृति के स्वरूप की विस्तृत विवेचना हमारी "वेदोद्यान के चुने हुए फूल" पुस्तक की भूमिका में देखिये।

वेद मानव का धर्मग्रन्थ

वेद केवल भारतीयों का ही धर्मग्रन्थ नहीं है। वेद का उपदेश तो सृष्टि के आरंभ में भगवान् ने मनुष्य-मात्र का कल्याण करने के लिये दिया था। वेद में किसी देश-विशेष और जाति-विशेष के लोगों को सम्बोधित नहीं किया गया है। उस में तो मनुष्य-मात्र को सम्बोधन किया गया है। उस के उपदेश धरती के सब मनुष्यों के लिये एक समान हैं। वेद की दृष्टि में न तो भारतीय, एशियाई, योरोपीयन, अफ्रीकन और अमरीकन का कोई भेद है और न ही काले-गोरे और पीले-भूरे का कोई भेद है। उस की दृष्टि में धरती के सब मनुष्य अमर परमात्मा की सन्तान[1] होने के कारण आपस में भाई-भाई हैं। और धरती-माता पर विचरने वाले इन सब भाइयों के लिये वेद का उपदेश एक समान है। वेद किसी जाति-विशेष और देश-विशेष के लोगों को सम्बोधन न कर के मानव मात्र को सम्बोधन करता है कि हे मानव! तू ऐसा कर और ऐसा न कर। इस लिये वेद वस्तुतः मानव का धर्मग्रन्थ है। और वेद की संस्कृति मानव की संस्कृति है। वेद को भारतीय आर्यों का धर्म-ग्रन्थ और उस की संस्कृति को भारतीय संस्कृति तो इस कारण कह दिया जाता है कि भारतीय आर्यों ने वेद और उस की संस्कृति को विशेष रूप से सम्भाल कर रखा है।

वेद के सार्वभौम अध्ययन की आवश्यकता

यदि मानव ने अपना सच्चा कल्याण और सुख-मंगल प्राप्त करना है तो उसे वेद की विशुद्ध मानवीय संस्कृति को अपनाना होगा। आज का स्वतन्त्र भारत चाहे तो वेद की मानवीय संस्कृति के रूप में संसार को सब से अधिक कीमती वस्तु दे सकता है और इस प्रकार धरती को स्वर्ग बनाने में सब से अधिक सहायक हो सकता है। इस के लिये स्वतन्त्र भारत को वेद की अध्यात्मवादी संस्कृति को अपना कर स्वयं उस के अनुसार चलना चाहिये और इस प्रकार संसार के राष्ट्रों के आगे अपने को नमूना बना कर रखना चाहिये। क्योंकि यह मानवीय वैदिक संस्कृति वेद में निबद्ध है इस लिये वेद के अन्वेषण, अनुशीलन और अध्ययनाध्यापन की व्यापक व्यवस्था स्वतन्त्र भारत को अपनी जनता में करनी चाहिये। और वेद के ऊंचे उपदेशों तथा गम्भीर रहस्यों को समझाने वाला साहित्य तैयार कराके उसे अन्य राष्ट्रों तक पहुंचाना चाहिये। आजकल कुछ समय

१. विश्वे अमृतस्य पुत्राः। ऋग्० १०। १३। १॥

से राष्ट्रों में एक सुन्दर प्रथा चलनी प्रारम्भ हुई है। एक-दूसरे को अपनी संस्कृति से परिचित कराने के लिये विभिन्न राष्ट्र अपने सांस्कृतिक मण्डल (Cultural Missions) दूसरे राष्ट्रों में भेजते हैं और उन के सांस्कृतिक मण्डल अपने यहां बुलाते हैं। एक-दूसरे के साहित्य के प्रतिनिधि ग्रन्थों का अनुवाद भी विभिन्न राष्ट्र अपनी भाषाओं में कराते हैं। इस सुन्दर परिपाटी से लाभ उठा कर हमें वेद के शुद्ध रूप को दूसरे राष्ट्रों तक पहुंचाना चाहिये। वेद भारतीय संस्कृति और साहित्य का सब से अधिक प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

गुरुकुल से वैदिक साहित्य का प्रकाशन

वैदिक विचारधारा को लोकप्रिय बनाने के इसी उद्देश्य से पिछले कितने ही सालों से गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी, हरद्वार, से वेद के सम्बन्ध में अनेक उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। इन में से वैदिक विनय, वरुण की नौका, और वेदोद्यान के चुने हुए फूल नामक पुस्तकें विशेष उल्लेख के योग्य हैं। सर्व-साधारण पाठकों और विद्वानों ने इन पुस्तकों की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। इसी प्रसंग में यह "वेद का राष्ट्रिय गीत" पुस्तक भी गुरुकुल विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित की जा रही है।

ऋषि दयानन्द वेद के अन्वेषण और प्रचार का कार्य अपने पीछे जारी रखने के लिये आर्यसमाज की स्थापना कर गये थे। ऋषि दयानन्द के प्रधान शिष्य और आर्यसमाज के महान् नेता स्वामी श्रद्धानन्द जी ने वेद के नियमित पठन-पाठन और अन्वेषण की व्यवस्था करने के लिये गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। गुरुकुल में अंग्रेजी, रसायन, भौतिक विज्ञान, गणित, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि विषयों की पढ़ाई के साथ-साथ संस्कृत भाषा और वैदिक साहित्य के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता है। वैदिक साहित्य गुरुकुल के पाठ्य-क्रम का प्रधान अंग है। गुरुकुल विश्वविद्यालय के आचार्य के रूप में हमें गुरुकुल की सर्वोच्च कक्षाओं को वेद का अध्यापन करना होता है। इस प्रसंग में हमने अपने छात्रों को अथर्ववेद के अन्य अनेक प्रकरणों के साथ-साथ उस के भूमि-सूक्त नामक प्रकरण को भी पढ़ाया है। इस अध्यापन के क्रम में हमें इस भूमि-सूक्त पर पर्याप्त चिन्तन और मनन करने का अवसर मिला है। उस चिन्तन की परिणाम-रूप, भूमि-सूक्त की यह विस्तृत व्याख्या "वेद का राष्ट्रिय गीत" नाम से वेदप्रेमी पाठकों के आगे प्रस्तुत की जा रही है।

अथर्ववेद का भूमि-सूक्त

अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का पहला सूक्त भूमि-सूक्त कहलाता है। इस

का देवता "भूमि" है। "देवता" एक पारिभाषिक शब्द है। इस का अर्थ होता है—प्रतिपाद्य विषय[1]। अथर्ववेद के इस सूक्त का प्रतिपाद्य विषय "भूमि" है। इस सूक्त में यह बताया गया है कि यदि किसी देश के लोग यह चाहते हैं कि उन का राष्ट्र दिन-दूनी और रात-चौगुनी उन्नति करता चला जाये और उस के निवासियों को सब प्रकार की सुख-समृद्धि मिलती रहे, तो उस के निवासियों को—उस की सर्व-साधारण जनता और उस के राज्याधिकारियों को—अपने देश की भूमि के प्रति, अपनी मातृभूमि के प्रति, किस प्रकार के भाव रखने चाहियें और उस के प्रति उन के कर्तव्य किस प्रकार के होने चाहियें। सूक्त का देवता, प्रतिपाद्य विषय, भूमि—मातृभूमि—होने के कारण इस सूक्त का नाम "भूमि-सूक्त" पड़ गया है। इस सूक्त का "ऋषि" अथर्वा है। मन्त्रों के ऋषियों से क्या अभिप्राय होता है यह ऊपर "वेद के ऋषि" प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। सूक्त के मन्त्रों की संख्या ६३ है। अथर्वसर्वानुक्रमणी में इस सूक्त के मन्त्रों के छन्दों के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है कि यह सारा सूक्त "त्रैष्टुभ" है, अर्थात् इस सूक्त के मन्त्रों का छन्द त्रिष्टुप् है। यह लिख कर सर्वानुक्रमणी में फिर सूक्त के विभिन्न मन्त्रों के विभिन्न छन्दों का भी उल्लेख किया गया है। सर्वानुक्रमणी का सारे सूक्त को त्रैष्टुभ लिखना ठीक प्रतीत नहीं होता। त्रिष्टुप् छन्द ग्यारह-ग्यारह अक्षरों के चार चरणों का होता है और इस में कुल ४४ अक्षर होते हैं। अक्षरों की ४४ की संख्या में एक-दो अक्षरों की न्यूनाधिकता से त्रिष्टुप् के कुछ और उपभेद भी हो जाते हैं। सूक्त के ६३ मन्त्रों में से ऐसे कुल त्रिष्टुप्-मन्त्रों की संख्या केवल १४ है। ऐसी अवस्था में सारे सूक्त को त्रैष्टुभ कहना ठीक प्रतीत नहीं होता। हां, ग्यारह-ग्यारह अक्षरों वाले एक-एक, दो-दो त्रिष्टुप्-चरण सूक्त के बहुत से अन्य छन्दों वाले मन्त्रों में भी मिलते हैं। हो सकता है कि इन त्रैष्टुभ चरणों की अधिकता के कारण सारे सूक्त को त्रैष्टुभ कह दिया गया हो। पर पूरे छन्द की दृष्टि से तो सूक्त त्रैष्टुभ नहीं कहा जा सकता। नीचे सूक्त के मन्त्रों के छन्दों की तालिका दी जाती है—

मन्त्र-संख्या	पाद-विभाग	अक्षर-संख्या	छन्द का नाम
१	१२+११ : ६ (१०)+११	४३ (४४)	त्रिष्टुप्[2]

१. या तेनोच्यते सा देवता। ऋक्सर्वानुक्रमणी।

२. किसी पाद में अक्षर कम होने पर "यण्-संयोग, सवर्णदीर्घ, गुण, वृद्धि, पूर्वरूप, पररूप" का व्यूह कर के पादपूर्ति कर लेने का वैदिक छन्दःशास्त्र में विधान है (देखो, ऋक्प्रातिशाख्य १७। ३६-३७; कात्यायनीया ऋक्सर्वानु-

मन्त्र-संख्या	पाद-विभाग	अक्षर-संख्या	छन्द का नाम
२	११ + १२ : ११ + ११	४५	भुरिक् त्रिष्टुप्[1]
३	११ + ११ : ११ + ११	४४	त्रिष्टुप्
४	११ + ११ : ११ + ११	४४	त्रिष्टुप्
५	१२ + १२ : ११ + ११	४६	स्वराट् त्रिष्टुप्[2]
६	११ + १२ : ११ + १२	४६	स्वराट् त्रिष्टुप्[3]
७	१० (११) + ११ : ८ + ८	३७ (३८)	प्रस्तारपंक्ति[4]

क्रमणी ३ । ६, पिङ्गलछन्दःसूत्र ३ । २) । तदनुसार यहां ६ अक्षर के पाद में सन्धिच्छेद कर के उसे १० अक्षर का बना लिया जाता है। आगे भी सर्वत्र इसी प्रकार समझना चाहिये। कोष्ठकों में दी हुई संख्यायें व्यूह करने से प्राप्त अक्षर-संख्यायें हैं। ':' इस प्रकार के चिन्ह यह सूचित करते हैं कि मन्त्र के बीच में विराम-चिन्ह इस-इस स्थान पर है। जैसे प्रथम मन्त्र में द्वितीय पाद के पश्चात् विराम-चिन्ह (।) है।

१. किसी छन्द में नियत अक्षरसंख्या से एक अक्षर अधिक होने पर वह छन्द भुरिक् कहलाता है।

२. यदि कोई दो पाद ११, ११ अक्षर के तथा दो पाद १२, १२ अक्षर के हों तो वह छन्द त्रिष्टुप्प्राय स्थल में त्रिष्टुप् और जगतीप्राय स्थल में जगती कहलाता है (देखो, ऋक्प्राति० १६ । ६१; कात्या० ऋक्सर्वानुक्रमणी ६ । २, ३)। यहां क्योंकि ऊपर के सब मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द के हैं अतः इस का छन्द भी त्रिष्टुप् ही समझना चाहिये। नियत अक्षरसंख्या ४४ से दो अक्षर अधिक होने के कारण यह 'स्वराट् त्रिष्टुप्' हुआ।

३. अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी में १० वें मन्त्र के साथ ४-६ मन्त्रों का भी छन्द 'त्र्यवसाना षट्पदा जगती' मिलता है—"यस्याश्चतस्र इति तिस्रः (४-६), यामश्विनाविति (१०) त्र्यवसानाः षट्पदा जगत्यः"। इसी के अनुसार सब मुद्रित संहिताओं में भी यही छन्द छाप दिया गया है। पर अनुक्रमणी का यह पाठ अपपाठ प्रतीत होता है, क्योंकि १० वीं ऋचा की तरह न तो ये ऋचायें त्र्यवसाना ही हैं, और न ही इन का छन्द षट्पदा जगती है। चौथी ऋचा तो स्पष्टतः त्रिष्टुप् है; ५, ६ ऋचाओं को कथंचित् जगती कहा भी जा सकता है, पर ये भी त्र्यवसाना तथा षट्पदा तो किसी प्रकार नहीं हो सकतीं।

४. दो अक्षर कम होने से यह 'विराट् प्रस्तार पंक्ति' समझनी चाहिये; जैसे ४३ वीं

मन्त्र-संख्या	पाद-विभाग	अक्षर-संख्या	छन्द का नाम
८	११ (१२) ?+१२ : १० (११) +११ : ८+७ (८)	५६ (६२)	त्र्यवसाना षट्पदा विराड् अष्टि[1]
९	११+११ : १२+८	४२	परानुष्टुप् त्रिष्टुप्[2]
१०	८+८ : ८+७ (८) : ८+८	४७ (४८)	त्र्यवसाना षट्पदा जगती
११	११+१० (११) : ११+११ : ८+७ (८)	५८ (६०)	त्र्यवसाना षट्पदा विराड् अतिशक्वरी[3]
१२	११+१० (११) : १० (११)+ ११ : ११	५३ (५५)	त्र्यवसाना पञ्चपदा शक्वरी[4]

ऋचा ८+८ : ११+११ = ३८ को अनुक्रमणीकार ने विराट् आस्तारपंक्ति कहा है। ८, ८ अक्षर के दो पाद अन्त में हों और आदि में दो पाद १२, १२ अक्षर के हों तो प्रस्तारपंक्ति छन्द होता है, ८ अक्षर वाले दो पाद आदि में होने पर आस्तारपंक्ति, मध्य में होने पर संस्तारपंक्ति; आदि-अन्त में ८, ८ अक्षर के तथा मध्य में दो पाद १२, १२ अक्षर के होने पर विस्तारपंक्ति।

१. नियत संख्या से दो अक्षर कम हों तो वह छन्द विराट् कहलाता है। अष्टि ६४ अक्षर का होता है, यहां व्यूह करने पर अक्षर-संख्या ६२ है, अतः 'विराड् अष्टि' छन्द हुआ। यह ६ पाद वाला होने से षट्पदा और तीन स्थानों पर (२ य, ४ र्थ पादों के पश्चात् तथा अन्त में) अवसान (विराम) होने से त्र्यवसाना है। आगे भी एकावसाना, त्र्यवसाना, पञ्चपदा, षट्पदा, सप्तपदा का अभिप्राय इसी प्रकार समझ लेना चाहिये।

२. अन्तिम पाद आनुष्टुभ (८ अक्षर का) होने से परानुष्टुप् है। इसी को पिङ्गलछन्दःसूत्र में 'उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्' कहा है, पर वहां क्रम (११+११+११+८) है। का० ऋक्सर्वानुक्रमणी और शौनकीय ऋक्-प्रातिशाख्य में ११+११+११+८ को विराड्रूपा त्रिष्टुप् तथा १२+१२+१२+८ को उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप् कहा है।

३. अथर्ववेदीय सर्वानुक्रमणी में इसे 'विराड् अष्टि' कहा है। परन्तु 'विराड् अष्टि' अक्षर-संख्या ६२ होने पर हो सकता था। सम्भव है अनुक्रमणीकार 'अजीतो-अहतो अक्षतो, अधि-अष्ठां पृथिवीमहम्' इस प्रकार अन्तिम दो पादों को व्यूह द्वारा ६, ६ अक्षर का बनाना चाहता हो।

४. शक्वरी ५६ अक्षर की होती है। १ अक्षर कम होने से यह निचृत् शक्वरी होगा।

मन्त्र-संख्या	पाद-विभाग	अक्षर-संख्या	छन्द का नाम
१३	११+१२ : ११+१० (११) : ११	५५ (५६)	त्र्यवसाना पञ्चपदा शक्वरी
१४	११+११ : १२	३४	महाबृहती[1]
१५	१०+१२ : ११ (१२)+१०+११	५४ (५५)	पञ्चपदा शक्वरी[2]
१६	११+११	२२	एकावसाना साम्नी त्रिष्टुप्[3]
१७	१० (११) + १२ : १२	३४ (३५)	महाबृहती[4]
१८	१२+११ : १० (११) : ८+८+८	५७ (५८)	त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भा अतिशक्वरी[5]
१९	७ (८) + ११ (१२) : ८+६ (८)	३२ (३६)	उरोबृहती[6]

१. १२+१२+१२ को ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा ऋक्प्रातिशाख्य में ऊर्ध्वबृहती विराट् कहा है। इसे तथा इस से मिलते-जुलते रूप को ही अथर्व० का अनुक्रमणीकार महाबृहती कहता है । इस ऋचा के प्रथम दो पादों को भी अनुक्रमणीकार संभवतः व्यूह द्वारा १२,१२ अक्षर का बनाना चाहता है अन्यथा वह इसे ३० वें मन्त्र की तरह विराड् गायत्री (११+११+११) कहता, क्योंकि उस के यह अधिक समीप है, जैसे कि अथर्व०८। १।७ (११+१२+११) को उस ने विराड् गायत्री लिखा भी है।

२. शकरी में ५६ अक्षर होते हैं। एक अक्षर कम होने से यह निचृत् शकरी है ।

३. इसे द्विपदा त्रिष्टुप् भी कह सकते हैं।

४. अथर्व० सर्वानुक्रमणी ने इस का पृथक् कोई छन्द निर्दिष्ट नहीं किया, यह भूल से छूट गया प्रतीत होता है । यह सूक्त त्रैष्टुभ है, अत. जिन का छन्द अनुक्रमणी में पृथक् नहीं कहा गया उन का त्रिष्टुप् छन्द ग्रहण करना होता है । परन्तु यह ऋचा त्रिष्टुप् नहीं हो सकती । १४ वें मन्त्र के अनुसार इस का छन्द भी महाबृहती होगा ।

५. अतिशक्वरी ६० अक्षर की होती है, २ अक्षर कम होने से यह विराट् अतिशक्वरी होगी ।

६. ऋक्प्रातिशाख्य में उरोबृहती के ही न्यङ्कुसारिणी और स्कन्धोग्रीवी नाम भी हैं।

मन्त्र-संख्या	पाद-विभाग	अक्षर-संख्या	छन्द का नाम
२०	७ (८) + ६ (१०) : ८+८	३२ (३४)	विराड् उरोबृहती
२१	१० (११) + ११	२१ (२२)	एकावसाना साम्नी त्रिष्टुप्
२२	८+८ : ८+७(८) : ११+११	५३ (५४)	त्र्यवसाना षट्पदा स्वराड् अतिजगती[1]
२३	११+१० (११) : १२ : ८+८	४९ (५०)	त्र्यवसाना पञ्चपदा विराड् अतिजगती
२४	११+१० · १० + ८+८	४७	पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा जगती[2]
२५	८+८ : ७+८ : ८+८+८	५५	त्र्यवसाना सप्तपदा उष्णिगनुष्टुब्गर्भा शक्वरी[3]
२६	८+८ : ८+८	३२	अनुष्टुप्
२७	८+८ : ८+८	३२	अनुष्टुप्
२८	८+७ : ८+७	३०	अनुष्टुप्[4]
२९	११ + ११ : ११ + १० (११)	४३ (४४)	त्रिष्टुप्

१. अथर्व० सर्वानुक्रमणी में २२, २३ दोनों ऋचाओं को विराड् अतिजगती कहा है—(उभे विराडतिजगत्यौ), पर २२वीं ऋचा विराट् नहीं हो सकती, क्योंकि उस के लिये ५० अक्षर होने चाहियें। अतिजगती (५२ अक्षर) से २ अक्षर अधिक होने के कारण यह स्वराड् अतिजगती ही है।

२. एक अक्षर कम होने से यह निचृद् जगती होगी, अथवा यदि व्यूह द्वारा द्वितीय, तृतीय पाद को ११-११ अक्षर का कर लिया जाये, जैसा कि ह्विटनी ने किया है, तो भुरिग् जगती होगी।

३. पूर्ण शक्वरी में ५६ अक्षर होने चाहियें, एक अक्षर कम होने से यह निचृत् शक्वरी होगी।

४. अनुष्टुप् में ३२ अक्षर होते हैं। दो अक्षर कम होने से इसे विराड् अनुष्टुप् कहना चाहिये।

मन्त्र-संख्या	पाद-विभाग	अक्षर-संख्या	छन्द का नाम
३०	१० (११)+११ : ११	३२ (३३)	विराट् गायत्री [1]
३१	११+११ : ११+११	४४	त्रिष्टुप्
३२	११+८ : ७ (८)+८+८	४२ (४३)	पुरस्ताज्ज्योतिः त्रिष्टुप् [2]
३३	८+८ : ७ (८)+८	३१ (३२)	अनुष्टुप्
३४	८+११ : ७+९ : ८+८	५१	त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुब्बृहतीगर्भा अति-जगती [3]
३५	८+८ : ८+८	३२	अनुष्टुप्

१. का० ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा ऋक्प्रातिशाख्य में ११+११+११ को विराट् अनुष्टुप् माना है, पर पिंगल (३।१७) में इसे विराट् गायत्री ही कहा है। अथर्व० का अनुक्रमणीकार सर्वत्र इसे विराट् गायत्री ही लिखता है।

२. पिंगल ३।५२ की हलायुधवृत्ति के एक पाठ के अनुसार ११+८+८+८+८ की ही पुरस्ताज्ज्योतिः त्रिष्टुप् संज्ञा है। ११ अक्षर का पाद 'ज्योतिः' है, वह पूर्व होने से 'पुरस्ताज्ज्योतिः' हुई। पर ऋक्प्रातिशाख्य, का० ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा पिंगल के पाठान्तर के अनुसार ८ अक्षर का पाद 'ज्योतिः' है, अतः ऋ०प्राति० तथा का० सर्वानु० में ८+१२+१२+१२ को 'पुरस्ताज्ज्योतिः त्रिष्टुप्' कहा है, और पिंगल के पाठान्तर में ८+११+११+११ को 'पुरस्ताज्ज्योतिः त्रिष्टुप्' तथा ८+१२+१२+१२ को 'पुरस्ताज्ज्योतिः जगती' कहा है।

३. अतिजगती में ५२ अक्षर होते हैं, यह १ अक्षर कम होने से निचृत् अतिजगती है। अनुक्रमणी में इस के साथ त्रिष्टुब्बृहतीगर्भा विशेषण जुड़ा हुआ है, अर्थात् जिस में त्रैष्टुभ (११ अक्षर का) तथा बार्हत (९ अक्षर का) पाद विद्यमान है। पर ९ अक्षर का पाद इस में तभी निकल सकता है जब "उत्तानास्त्वा प्रतीची यन् पृष्ठीभिरधिशेमहे" यहां तृतीय पाद की समाप्ति प्रतीचीं के पश्चात् करें, न कि 'यन्' के पश्चात्। पर वस्तुतः 'यत्' के पश्चात् ही पाद-विभाग करना समुचित प्रतीत होता है। उस अवस्था में ८+११ : ८+८ : ८+८ यह विभाग होगा, और इसे 'त्रिष्टुब्बृहतीगर्भा' न कह कर 'त्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भा' कहा जायेगा।

मन्त्र-संख्या	पाद-विभाग	अक्षर-संख्या	छन्द का नाम
३६	८+११ : १०+११	४०	विपरीतपादलक्ष्मा पंक्ति[1]
३७	१२+११ : ११+११ : ११	५६	पञ्चपदा त्र्यवसाना शक्वरी
३८	८+८ : ७ (८)+८ : ८+८	४७ (४८)	त्र्यवसाना षट्पदा जगती
३९	८+८ : ८+८	३२	अनुष्टुप्
४०	८+८ : ७ (८)+८	३१ (३२)	अनुष्टुप्
४१	८+७ (८) : ८+८ : ११+११	५३ (५४)	षट्पदा विराट् शक्वरी[2]
४२	८ (९)+९ : ७ (८)+८	३२ (३४)	स्वराड् अनुष्टुप्
४३	८+८ : ११+१०(११)	३७ (३८)	विराड् आस्तारपंक्ति
४४	१२+१२ : ११+११	४६	जगती[3]
४५	१२+१२ : १२+११	४७	जगती[4]
४६	११+१२ : ७+८+८+८	५४	षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा परा शक्वरी[5]
४७	१२+११ (१२) : ११ (१२)+ ७+७ (८)+८	५६ (५९)	षट्पदा उष्णिगनुष्टुब्गर्भा परा अति-शक्वरी[6]

१. ऋक्प्रातिशाख्य तथा का० ऋक्सर्वानुक्रमणी में ८+१२+८+१२ को विपरीता कहा है।

२. अथर्व० सर्वानुक्रमणी में इसे 'ककुम्मती शक्वरी' लिखा है, पर इस में ककुभ (६ अक्षर का) पाद न होने से यह ककुम्मती नहीं हो सकता।

३. ऋचा ५ से मिलान करो। यहां समीपस्थ ५५ वीं ऋचा जगती होने से ४४ वीं ऋचा भी जगती हुई, (देखो, भू० पृष्ठ ८० पर २ संख्या की टिप्पणी)। ऋक्-प्रातिशाख्य में इसे उपजगती कहा है।

४. एक अक्षर कम होने से यह निचृत् जगती है।

५. यह २ अक्षर कम होने से विराट् शक्वरी है, आनुष्टुभ पाद अन्त में होने से परा शक्वरी।

६. अतिशक्वरी ६० अक्षर की होती है। एक अक्षर कम होने से यह निचृत अति-शक्वरी है।

मन्त्र-संख्या	पाद-विभाग	अक्षर-संख्या	छन्द का नाम
४८	८+११ : ११+११	४१	पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्[1]
४९	१४+११ : १२+११	४८	जगती[2]
५०	८+८ : ८+८	३२	अनुष्टुप्
५१	११+११ : १० (११)+११ : ८+५ (६)	५६ (५८)	त्र्यवसाना षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती शक्वरी[3]
५२	११+११ (१२) : १२+८+८	५० (५१)	पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा परा अतिजगती[4]
५३	८ (९)+८ : ८+८	३२ (३३)	पुरोबार्हता अनुष्टुप्[5]
५४	८+७ (८) : ८+८	३१ (३२)	अनुष्टुप्
५५	१२+१० : ११+११	४४	त्रिष्टुप्
५६	७ (८)+७ (८) : ८+८	३० (३२)	अनुष्टुप्
५७	१३+१२ : ११+ १	४७	पुरोऽतिजागता जगती[6]

---

१. आनुष्टुभ (८ अक्षर का) पाद प्रथम होने से यह पुरोऽनुष्टुप् है । पिंगल के अनुसार यह पुरस्ताज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप् है । का० ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा ऋक्प्रातिशाख्य में इसे विराड्रूपा त्रिष्टुप् कहा है ।

२. अथवा ८+६+११ : १२+११ इस प्रकार विभाग कर के इसे पञ्चपदा जगती समझना चाहिये ।

३. व्यूह करने पर २ अक्षर अधिक हो जाने से यह स्वराट् शक्वरी है । एक पाद काकुभ (६ अक्षर का) होने से इस के साथ ककुम्मती विशेषण जोड़ा गया है ।

४. एक अक्षर कम होने से यह निचृत् अतिजगती है ।

५. अथर्वानुक्रमणी में इसे 'पुरोबार्हता अनुष्टुप्' लिखा है, अतः अनुक्रमणीकार के मत से प्रथम पाद ९ अक्षर का (बार्हत) है । प्रथम पाद को ९ अक्षर का बनाने के लिये "द्यौश्च म इदं पृथिवी च, अन्तरिक्षं च मे व्यचः" इस प्रकार व्यूह कर के "च" पर पादसमाप्ति करनी चाहिये ।

६ प्रथम पाद अतिजागत (१२ अक्षर से अधिक का) होने से इसे पुरोऽति-जागता कहा गया है ।

मन्त्र-संख्या	पाद-विभाग	अक्षर-संख्या	छन्द का नाम
५८	११+८ : ८+८	३५	पुरस्ताद् बृहती[1]
५९	८+८ : ८+८	३२	अनुष्टुप्
६०	११+१० (११) : ११+११	४३ (४४)	त्रिष्टुप्
६१	६+११ : ११+११	४२	पुरोबार्हता त्रिष्टुप्[2]
६२	११+११ : ११+१०	४३	पराविराट् त्रिष्टुप्[3]
६३	८+८ : ८+७ (८)	३१ (३२)	अनुष्टुप्।

यहां छन्द दिखाते हुए हम ने प्राय: अथर्ववेदीय सर्वानुक्रमणी का ही अनुसरण किया है, केवल वहीं बदला है जहां अनुक्रमणी का पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है, और वहां नीचे टिप्पणी दे दी है। शेष स्थलों में भी जहां जो कुछ वक्तव्य है वह टिप्पणी में दर्शा दिया है।

इस सूक्त पर पुराना कोई भाष्य उपलब्ध नहीं होता है। सायणाचार्य का अथर्ववेदभाष्य उपलब्ध है, परन्तु वह सारा नहीं मिलता है। इस सूक्त पर भी वह नहीं मिलता है।

वेद का राष्ट्रिय गीत

जैसा अभी ऊपर कहा गया है इस सूक्त का वर्णनीय विषय भूमि है। सूक्त की काव्यमयी रचना में परम कवि भगवान ने सूक्त के मन्त्रों को मातृभूमि के उपासक एक राष्ट्र-भक्त के मुख से कहलवाया है। यह राष्ट्र-भक्त सूक्त के मन्त्रों में अपनी मातृभूमि की महिमा और विभूति का गान कर रहा है। वह अपनी मातृभूमि के वन-पर्वत और नदी-समुद्र आदि से बनने वाले भौतिक सौन्दर्य पर भी मुग्ध हो रहा है, उस के राज्य-प्रबन्ध पर भी मुग्ध हो रहा है और उस के निवासियों की सुख-समृद्धि तथा उन के ऊंचे सांस्कृतिक जीवन पर भी मुग्ध हो रहा है।

१. पुरस्ताद् बृहती में प्रथम पाद १२ अक्षर का होता है, एक अक्षर कम होने से यह निचृत् पुरस्ताद् बृहती है।

२. दो अक्षर कम होने से यह विराट् त्रिष्टुप् है। अनुक्रमणीकार ने इसे पुरोबार्हता कह कर प्रथम पाद को ६ अक्षर का ही माना है, व्यूह कर के १० अक्षर का नहीं बनाया।

३. अन्तिम पाद को अनुक्रमणीकार वैराज (१० अक्षर का) मानता है, अत एव इसे पराविराट् कहा है। यहां भी वह व्यूह नहीं करता।

इस प्रकार मुग्ध हो कर वह अपने राष्ट्र के विभिन्न रूपों का चित्रण मन्त्रों के कवितामय संगीत में करता है। इस सूक्त के मन्त्रों में मातृभूमि का जो—सब प्रकार की तुच्छता से दूर कर के मन और आत्मा को धरती से उठा कर आकाश में ले जाने वाला, हृदय को पवित्र और उदात्त भावों से भर देने वाला, राष्ट्र के अभ्युदय के लिये त्याग और तपस्या का पाठ पढ़ाने वाला, जीवन में शक्ति का संचार करने वाला और विश्वबन्धुत्व की स्फुरणा देने वाला—स्वरूप चित्रित किया गया है वह संसार के साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलेगा। मातृभूमि के विभिन्न रूपों के इन उदात्त चित्रों को प्रस्तुत कर के सूक्त के मन्त्रों में इस बात को भलीभांति समझा दिया गया है कि राष्ट्रनिवासियों और राज्याधिकारियों के अपने राष्ट्र के प्रति क्या कर्तव्य होने चाहियें—राष्ट्र के सर्वाङ्गीण अभ्युदय के लिये राज्य-कर्मचारियों और सर्व-साधारण जनता को क्या कुछ करना चाहिये। इस प्रकार राजनीतिशास्त्र के बड़े मार्मिक तत्त्वों का वर्णन इन मन्त्रों की कवितामयी भाषा में कर दिया गया है। केवल राजनीति के तत्त्वों का ही नहीं, आदर्श मानव-संस्कृति के तत्त्व कौन-से हैं इस का वर्णन भी बड़े मार्मिक रूप में इस सूक्त के मन्त्रों में कर दिया गया है। यह सूक्त काव्य भी है और राजनीति और संस्कृति के तत्त्वों को बताने वाली दार्शनिक रचना भी है। अद्भुत कविता है इस सूक्त में! इस सूक्त का मातृभूमि का उपासक राष्ट्र-भक्त अपने संगीत में जिन दिव्य उद्गारों को व्यक्त करता है उन के आगे आज के धरती के राष्ट्रों के राष्ट्रिय गीत बहुत फीके लगने लगते हैं। इतना ऊंचा है मानव को सिखाया गया यह वेद का राष्ट्रिय गीत। यह इतनी ऊंची रचना है कि इसे विश्व-भर के शिक्षणालयों के पाठ्यक्रम में रखा जाना चाहिये।

सूक्त के मन्त्र बड़े भाव-गम्भीर हैं। मन्त्रों का एक-एक शब्द पढ़ने और सुनने में छोटा दीखता है परन्तु अर्थ में बड़ी गहराई और व्यापकता रखता है। हमने मन्त्रों और उन के शब्दों पर देर तक चिन्तन कर के उन के अर्थों की गहराई और व्यापकता तक पहुंचने का प्रयत्न किया है। हमने सूक्त के मातृ-भूमि के गायक राष्ट्र-भक्त के हृदय में पहुंचने का प्रयत्न किया है और अपनी कल्पना द्वारा अपने आप को उस के स्थान में रख कर उस के मनोभावों को समझने की चेष्टा की है। और इस प्रकार यह जानने का यत्न किया है कि वेद के कवि को मन्त्रों के छोटे-छोटे भाव-गम्भीर पदों द्वारा क्या कुछ अभिप्रेत है। अपने इसी प्रयत्न का परिणाम-स्वरूप वेद के इस भूमि-सूक्त की यह विस्तृत व्याख्या "वेद का राष्ट्रिय गीत" नाम से पाठकों के आगे उपस्थित की जा रही है। इस में पाठकों को वैदिक संस्कृति और राजनीति का एक अत्यन्त मनोरम चित्र देखने को मिलेगा।

भूमि-सूक्त का सिंहावलोकन

अथर्ववेद के इस भूमि-सूक्त में मातृभूमि के उपासक राष्ट्र-भक्त के मुख से मातृभूमि की महिमा और विभूतियों का बखान करवाते हुए राजकर्मचारियों और सर्वसाधारण जनता द्वारा करने योग्य अनेक ऐसी बातों की ओर निर्देश कर दिया गया है जिन के अनुसार चल कर राष्ट्र सब प्रकार की सुखसमृद्धि से युक्त, चहुंमुखी उन्नति करने वाला और अपराजेय बन सकता है। सूक्त के मन्त्रों की प्रतिपद व्याख्या में पाठक इन सब बातों को विस्तार से देखेंगे। यहां सिंहावलोकन के रूप में सूक्त में कही गई कुछ-एक मोटी-मोटी बातों की ओर संक्षिप्त रूप में संकेत किया जाता है।

जो राष्ट्र सब प्रकार की सुख-समृद्धि और वैभव चाहता है उस में भांति-भांति के व्यवसाय और उद्योग-धन्धे चलाये जाने चाहियें। राष्ट्र के जंगलों में उत्पन्न होने वाले वृक्षों और वनस्पतियों से उपयोग ले कर उन की लकड़ी से भांति-भांति की वस्तुयें बनाने के व्यवसाय और व्यापार किये जाने चाहियें। राष्ट्र के पर्वतों और जंगलों में उगने वाली विविध प्रकार की ओषधियों और बूटियों का उपयोग ले कर उन से औषध-निर्माण के व्यवसाय किये जाने चाहियें। भांति-भांति के बहुमूल्य पदार्थों का निर्माण करने में और अन्य अनेक प्रकार से राष्ट्र के लिये परमोपयोगी इन जंगलों की सदा रक्षा की जानी चाहिये। राष्ट्र के पर्वतों में और उस की भूमि के भीतर अनेक प्रकार के मूल्यवान् पत्थर, मणियें, रत्न, हीरे, सोना, चान्दी, लोहा, ताम्बा, कोयला, तेल आदि पदार्थ पाये जाते हैं। इन बहुमूल्य और उपयोगी पदार्थों को निकालने के लिये खानों का व्यवसाय किया जाना चाहिये तथा खानों से इन पदार्थों को निकाल कर उन से विविध प्रकार की जीवनो-पयोगी चीजें तैयार करने के लिये भी तरह-तरह के धन्धे और व्यापार किये जाने चाहियें।

व्यवसायोपयोगी वनस्पतियों की खेती कर के उन से भी अनेक प्रकार के उद्योग और व्यापार चलाये जाने चाहियें। राष्ट्र के खेतों में भांति-भांति के अनाज उपजाये जाने चाहियें। जिन के सेवन से राष्ट्रवासियों के स्वास्थ्य और शक्ति की वृद्धि हो सके। कृषि की समृद्धि के लिये राष्ट्र में नहरों की व्यवस्था होनी चाहिये। नहरों के पानी की अपेक्षा भी वर्षा का जल खेती के लिये अधिक उपयोगी होता है। वर्षा के रूप में प्राण बरसा करता है। समय पर और उचित परिमाण में वर्षा के लिये घर-घर में यज्ञ किये जाने चाहियें। वेद के केवल इसी सूक्त में नहीं, सारे वैदिक साहित्य में इस बात पर बल दिया गया है कि जिस राष्ट्र के घर-घर में यज्ञ

होते रहते हैं उसे वर्षा का कष्ट नहीं भोगना पड़ता। कृषि के साथ ही गो-पालन का व्यवसाय भी किया जाना चाहिये। इस से खेती के लिये उत्तम बैल तथा बढ़िया खाद प्राप्त होंगे और खाने के लिये पौष्टिक दूध, दही, मक्खन और मलाई आदि प्राप्त होंगे। गौओं के दूध और घी-मक्खन की वेदों और वैदिक साहित्य में अनन्त प्रशंसा की गई है, इन से श्रेष्ठ दूसरा खाद्य नहीं माना गया है, और इन के खाने पर बेहद बल दिया गया है। और इसीलिये गौ को सर्वथा अवध्य माना गया है तथा उस की रक्षा पर भारी बल दिया गया है। खेती और दूसरे व्यापार-व्यवसाय यथासम्भव सहकार-पद्धति से किये जाने चाहियें। इन भांति-भांति के व्यापार-व्यवसायों और खेती आदि से जो वैभव प्राप्त हो तथा जो खाने, पीने, और पहिनने के पदार्थ उत्पन्न हों वे सब राष्ट्रवासियों को उन की आवश्यकता के अनुसार यथेष्ट परिमाण में मिल सकने चाहियें। कोई भी राष्ट्रवासी किसी प्रकार के अभाव से पीड़ित नहीं होना चाहिये। राष्ट्र में कोई भी निर्धन और गरीब नहीं रहना चाहिये। उद्योग-धन्धों और खेती से उत्पन्न पदार्थों को सर्व-साधारण जनता तक पहुंचाने के लिये राष्ट्र में यातायात के सब प्रकार के साधनों की यथेष्ट व्यवस्था होनी चाहिये। राज्य-शासन का आदर्श प्रजा का इस प्रकार पालन, पोषण और रक्षण करना होना चाहिये कि प्रत्येक प्रजाजन प्रतिदिन पूर्ण परितृप्ति और सुख की निश्चिन्त नींद सो सके।

राष्ट्रनिवासियों के स्वास्थ्य की ओर राज्य को पूरा ध्यान देना चाहिये। जहां सब प्रजाजनों को पौष्टिक और स्वास्थ्यवर्धक सात्त्विक भोजन खाने को मिलने चाहियें वहां भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यायामों और खेलों का प्रबन्ध भी उन के लिये होना चाहिये। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि कोई भी राष्ट्रवासी रोगी न हो, और कभी किसी को कोई रोग हो भी जाये तो उस की चिकित्सा की पूर्ण व्यवस्था रहनी चाहिये। रहने के मकान स्वच्छ, हवादार और रोशनीदार होने चाहियें। राष्ट्र-वासियों के स्वास्थ्य की इतनी उत्तम व्यवस्था होनी चाहिये कि प्रत्येक प्रजाजन औसत तौर पर कम से कम सौ साल तक जी सके। वेद के अनुसार औसत आयु की मर्यादा कम से कम सौ वर्ष की है।

जीवन में सब प्रकार की सुख-समृद्धि प्राप्त करने के लिये जहां प्रजाजनों को खूब धन-वैभव कमाना चाहिये वहां उन्हें अपने वैभव का उपभोग संयम के साथ करना चाहिये जिस से वे दुर्बल और निस्तेज न हो जायें। उन के जीवन में ऐश्वर्य-भोग और त्याग, तप तथा इन्द्रिय-संयम का पूर्ण समन्वय रहना चाहिये। इस त्याग, तप और संयम के कारण उन के शरीर कठोर और शक्ति से सम्पन्न तथा

मन और आत्मा तेजस्विता की अग्नि से प्रदीप्त होने चाहियें, जिस से कोई भी उन का पराभव और धर्षण न कर सके। प्रजाओं के जीवन में सब प्रकार की शारीरिक और आत्मिक पवित्रता रहनी चाहिये। किसी भी प्रकार का पाप और निकृष्ट विचार एवं आचरण उन के पास नहीं फटकना चाहिये।

राष्ट्र में भौतिक और आत्मिक विद्या-विज्ञानों का खूब विकास किया जाना चाहिये। इन विद्या-विज्ञानों की व्यापक शिक्षा राष्ट्रवासियों को मिल सके ऐसी व्यवस्था राज्य को करनी चाहिये। राष्ट्रवासियों को चारित्रिक शिक्षा भी ऊंची-से-ऊंची दी जानी चाहिये। और इस प्रकार राष्ट्रवासियों को देवकोटि के श्रेष्ठ पुरुष बनाते रहने का यत्न राष्ट्र में सदा होता रहना चाहिये। शिक्षा द्वारा सुधार कर और आवश्यकता होने पर दण्डित कर के, असुर-प्रकृति के दुष्ट पुरुषों को राष्ट्र में से सदा दूर किया जाता रहना चाहिये। राष्ट्र में देव-पुरुषों की परम्परा बढ़ती और असुर-पुरुषों की परम्परा घटती रहनी चाहिये। भांति-भांति के विद्या-विज्ञानों और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले सत्यों का निःस्वार्थ-भाव से अन्वेषण और प्रचार करने में लगे रहने वाले, त्यागी, तपस्वी, संयमी, परोपकारी, अपरिग्रह-व्रती और अहिंसा-निष्ठ ब्राह्मण और ऋषि-कोटि के लोगों की संख्या जिस से राष्ट्र में सदा बढ़ती रहे ऐसा प्रयत्न राष्ट्र की राज्यव्यवस्था को सदा करते रहना चाहिये। प्रजाजनों को अत्याचारियों के अन्याय और उत्पीडन से बचाने और राष्ट्र की रक्षा में अपने प्राणों की भी उत्सर्ग कर देने वाले क्षत्रियों की संख्या की अभिवृद्धि भी राष्ट्र में सदा की जानी चाहिये। इस प्रयोजन के लिये सब प्रजा-जनों को कुछ समय के लिये अनिवार्य रूप से युद्ध की शिक्षा दी जानी चाहिये।

सब राष्ट्रवासियों को अपने राष्ट्र की भूमि को अपनी माता समझना चाहिये और अपने को उस का पुत्र। और इस प्रकार अपनी राष्ट्र-भूमि पर उत्पन्न होने वाले सब लोगों को आपस में एक-दूसरे को भाई-भाई समझना चाहिये। और भाइयों को भांति एक-दूसरे की सुख-सम्पत्ति को बढ़ाने तथा दुःख-दारिद्र्य को दूर करने में मनोयोगपूर्वक संलग्न रहना चाहिये। प्रजाजनों में परस्पर के प्रति इस भ्रातृभाव की भावना के अभाव में राष्ट्र कभी उन्नति नहीं कर सकते। राष्ट्र के सब लोगों में अपनी मातृभूमि के प्रति आदर की भावना रहनी चाहिये और सब को राष्ट्र के राज्य-नियमों का निष्ठा के साथ पालन करना चाहिये। अपने राष्ट्र की स्थिरता और सामूहिक उन्नति के लिये सब प्रजाजनों को अपनी-अपनी सम्पत्ति का यथावश्यक अंश निःसंकोच-भाव से राज्य को कर-रूप में देते रहना चाहिये और राज्य को प्रजाओं से प्राप्त सारा धन प्रजाओं के ही

कल्याण में लगा देना चाहिये।

प्रजाजनों को शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार की होनी चाहिये कि उन के हृदयों में माधुर्य भर जाये और उन की वाणी से भी मिठास बरसे। उन के पारस्परिक व्यवहार में कभी क्रोध और कटुता नहीं आनी चाहिये। उन्हें पारस्परिक व्यवहारों में सब के साथ सदा स्नेहयुक्त मीठी वाणी का ही प्रयोग करना चाहिये। उन्हें अपना आचरण ऐसा रसीला बनाना चाहिये कि सब कोई उन की ओर बरबस खिंचा चला आये। उन के जीवन में स्नेह और सौहार्द का रूप धारण कर के अहिंसा मूर्तिमती दिखाई देनी चाहिये।

सब प्रजाजनों को सत्य का उत्कट प्रेमी और असत्य का घोर द्वेषी बनना चाहिये। उन का सारा जीवन सत्य के आधार पर खड़ा होना चाहिये। उन का रहन-सहन, उन के व्यापार-व्यवसाय, उन की राज्य-व्यवस्था, उन के ज्ञान-विज्ञान, उन की चिन्तना, उन के रीति-रिवाज, उन के खेल-कूद, सब सत्य पर आधारित होने चाहियें। उन की सारी संस्कृति ही सत्य की नींव पर खड़ी होनी चाहिये। राष्ट्रों की संस्कृति ही राष्ट्रों का हृदय हुआ करती है। राष्ट्रवासियों का यह हृदय सत्य से ओतप्रोत होना चाहिये।

राष्ट्रवासियों के जीवन में यज्ञ की भावना होनी चाहिये। उन्हें विश्वकर्मा बन कर राष्ट्र में भांति-भांति के व्यापार-व्यवसाय और शिक्षा-संस्थाओं आदि के संचालन के रूप में नाना प्रकार के लोकोपयोगी यज्ञ करने वाला होना चाहिये। इन लोकोपयोगी कार्यों के करने में उन के मनों में समुदाय का अङ्ग बन कर समुदाय के कल्याण की नीयत से काम करने की यज्ञीय[1] भावना रहनी चाहिये। सन्ध्योपासन आदि यज्ञ करने के समय जैसी पवित्रता, निष्ठा और श्रद्धा की वृत्ति रहा करती है वैसी ही वृत्ति अपने भांति-भांति के काम-धन्धे करते हुए उन की रहनी चाहिये। उन का सारा जीवन पवित्रता और लोकोपकार की भावना से रंगा हुआ यज्ञमय होना चाहिये। मन में यज्ञीय भावना भरने और आत्मा की उन्नति करने में सहायक सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र आदि यज्ञ भी राष्ट्रवासियों को नित्य करते रहना चाहिये।

जिस राष्ट्र के लोगों के—सर्व-साधारण जनता और राज्य-कर्मचारी दोनों के—जीवन में भूमिसूक्त के मन्त्रों में कही गई ये सब बातें आ जाती हैं, वह राष्ट्र सर्वतोमुखी उन्नति करता है, सुख-समृद्धि से पूर्ण रहता है, अदीन और अखण्डित

१. सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायाङ्गतया क्रियमाणं कर्म यज्ञः।
शतपथब्राह्मणभाष्ये विद्वत्प्रवरः श्री बुद्धदेवो विद्यालंकारः।

रहता है, कोई उसे दबा नहीं सकता—धर्षित और पराजित नहीं कर सकता, कोई उस की स्वतन्त्रता नहीं छीन सकता। वह सदा निर्बाध-रूप से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आगे ही आगे बढ़ता जाता है।

प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली

राष्ट्र की सुख-समृद्धि, धन-वैभव और अभ्युदय को बढ़ा कर उस की सर्वाङ्गीण उन्नति करने वाली जिन बातों की ओर सूक्त में निर्देश किया गया है और कहा गया है कि राज्य-शासन का कर्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र में उन सब बातों को क्रिया में परिणत करे, वे सब बातें उसी राष्ट्र में भलीभांति और पूर्ण रूप से क्रियान्वित हो सकती हैं जिस की शासन-व्यवस्था प्रजातन्त्रीय हो। आनुवंशिक राजा की एकतन्त्र शासन-प्रणाली में वे बातें भलीभांति क्रियान्वित नहीं हो सकतीं। प्रजा के हित की बातें प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा चलाई जाने वाली प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था में ही भलीभांति सम्पन्न हो सकती हैं। इसलिये वेद एकतन्त्र-शासन-प्रणाली को पसन्द न कर के प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली को पसन्द करता है। इस भूमि-सूक्त में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राजा प्रजाओं द्वारा चुना हुआ होना चाहिये। वेद के राजनीति-सम्बन्धी दूसरे स्थलों में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख है[1]। इस लिये राष्ट्र की शासन-व्यवस्था प्रजातन्त्रीय होनी चाहिये।

धर्म-राज्य

भूमि-सूक्त में राष्ट्र-भूमि का वर्णन करते हुए उसे "धर्मणा धृता" अर्थात् धर्म से धारित की हुई भी कहा गया है। राष्ट्र धर्म से ही धारित रहा करते हैं। जब तक और जितनी मात्रा में राष्ट्रों में धर्म रहता है तभी तक और उतनी ही मात्रा में वे बने रहते हैं—आगे बढ़ते और उन्नति करते रहते हैं। सत्य, न्याय, दया, तपस्विता, संयम और प्राणि-मात्र के प्रति प्रेमभाव आदि धर्म के अङ्ग जब तक राष्ट्रवासियों के जीवन में न होंगे तब तक राष्ट्र किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। इसी लिये भूमि-सूक्त में बार-बार बल दिया गया है कि राष्ट्र के निवासियों में—सामान्य प्रजाजन और राज्य-कर्मचारी दोनों में—धर्म के इन सब अङ्गों का पूर्ण निवास रहना चाहिये। धर्म का प्रधान अङ्ग सत्य है। धर्म के और

१. वेद की सम्मति में राजा प्रजाओं द्वारा चुना हुआ ही होना चाहिये इस विषय में हम विस्तृत विचार अपने "वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त" नामक ग्रन्थ में करेंगे।

अङ्ग सत्य की ही शाखा-प्रशाखा और सत्य के ही विस्तार या व्याख्या-मात्र हैं। भूमि-सूक्त में जहां धर्म के इन अन्यान्य अङ्गों का राष्ट्रवासियों में रहना आवश्यक बताया गया है वहां उन के जीवन में सत्य की आवश्यकता पर भी बहुत अधिक बल दिया गया है । सूक्त का प्रारम्भ ही इस बात के साथ होता है कि राष्ट्र को धारण करने वाली बातों में सत्य सर्व-प्रधान है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में राष्ट्र को धारण करने वाली बातों में सत्य को सब से पहले गिनाया गया है। सूक्त के बीच में भी सत्य के महत्त्व की ओर अनेक वार ध्यान आकृष्ट किया गया है । सूक्त की समाप्ति की ओर इकसठवें मन्त्र में फिर सत्य के महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है । इस मन्त्र में राज्य-कर्मचारियों के जीवन में सत्य की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है। वहां राजा को "ऋतस्य प्रथमजाः"—राष्ट्र में सत्य का मुख्य प्रवर्तक कहा गया है। राष्ट्र का राजा या राष्ट्रपति और उस के मन्त्री-गण यदि सत्यपरायण होंगे तो राष्ट्र के अन्य राज-कर्मचारी भी सत्यपरायण रहेंगे और उन के उदाहरण तथा उन की शासन-व्यवस्था से सर्वसाधारण प्रजाजन भी सत्य परायण रहेंगे । सत्य और धर्म ये दोनों शब्द एक ही बात को कहते हैं। यदि राष्ट्र ने उन्नति करनी है तो उस के राज्याधिकारी भी पूर्ण धर्म-निष्ठ होने चाहियें और उस की प्रजा भी पूर्ण धर्म-निष्ठ रहनी चाहिये।

सत्य और धर्म के मूल स्रोत परमात्मा हैं । परमात्मा में धर्म के सत्य, न्याय, दया, क्षमा, सहनशक्ति, तप, त्याग, अपरिग्रह, ज्ञान, बल, संयम और नियम-परायणता आदि अङ्गों की पराकाष्ठा हो गई है—हद हो गई है । उन की संगति में बैठने से परमात्मा के ये आध्यात्मिक गुण मनुष्यों में भी संक्रान्त होने लगते हैं। सन्ध्योपासन में बैठ कर परमात्मा के इन आध्यात्मिक गुणों का चिन्तन करना और इन्हें अपने अन्दर धारण करने का प्रयत्न करना ही परमात्मा की संगति में बैठना है । अपने जीवन को धर्मपरायण बनाने का सब से बड़ा साधन इस प्रकार उपासना द्वारा परमात्मा की संगति में बैठना है । आदिम ऋषियों से ले कर ऋषि दयानन्द और महात्मा गांधी तक की भारतीय ऋषि-मुनियों और सन्त-महात्माओं की परम्परा इसी लिये उपासना द्वारा प्रतिदिन दोनों समय कुछ समय के लिये परमात्मा की संगति में बैठने पर भारी बल देती रही है। भूमि-सूक्त में इस बात पर भी बहुत अधिक बल दिया गया है। वहां वार-वार यह बात कही गई है कि राष्ट्रवासियों के जीवन में परमात्मा के प्रति गहरा विश्वास और श्रद्धा रहनी चाहिये और परमात्मा में इस विश्वास और आस्था से उत्पन्न होने वाली आध्यात्मिकता उन के जीवन में आनी चाहिये। यह आध्यात्मिकता उन के एक-एक काम और व्यवहार में झलकनी चाहिये उन का सारा जीवन भगवान् की रंगत

में रंगा हुआ होना चाहिये। ईश्वर-विश्वास-जनित यह आध्यात्मिकता राज्याधिकारियों में भी रहनी चाहिये और सर्व-साधारण प्रजाजनों में भी। इस प्रकार राष्ट्र का सारा रहन-सहन और चिन्तन—उस की सारी संस्कृति ही—आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत होने चाहियें। इसी का नाम धर्म-परायणता है। राष्ट्र में यह धर्म-परायणता कूट-कूट कर भरी होनी चाहिये। राष्ट्र का जीवन धर्म का जीवन होना चाहिये। उस का राज्य धर्म-राज्य होना चाहिये।

असाम्प्रदायिक राज्य

जैसा हमने अभी ऊपर की पंक्तियों में देखा है भूमि-सूक्त में इस बात पर अत्यधिक बल दिया गया है कि राष्ट्र का राज्य धर्म-राज्य होना चाहिये। राष्ट्र की सर्वसाधारण प्रजा भी और उस के राज्याधिकारी भी धर्म के आधारभूत अंग सत्य, न्याय, दया, त्याग, तप, संयम, नियम-परायणता और अहिंसा आदि से अनुप्राणित होने चाहियें तथा उन में परमात्मा के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं निष्ठा और इस से उत्पन्न होने वाली आध्यात्मिकता भी भरपूर मात्रा में रहनी चाहिये। राष्ट्र को आदर्श राष्ट्र बनाने के लिये उस में इस धर्म-प्राणता का रहना नितान्त आवश्यक है। परन्तु इस के साथ ही भूमि-सूक्त में एक बात और भी कही गई है। और वह यह कि राज्य धर्म-राज्य तो होना चाहिये पर साम्प्रदायिक राज्य नहीं होना चाहिये। वेद के आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, सृष्टि-प्रलय, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और वर्णाश्रमधर्म आदि अनेक मन्तव्यों के सम्बन्ध में अपने विशेष प्रकार के सिद्धान्त हैं। वेद अपने इन सिद्धान्तों को व्यक्ति,समाज, राष्ट्र और विश्व के लिये कल्याणकारी मानता है और मानता है कि उस के इन सिद्धान्तों के अनुसार न चल कर कोई भी जन-समाज अपनी आदर्श उन्नति नहीं कर सकता। परन्तु वेद इस बात की भी सम्भावना रख लेता है कि हो सकता है कि कभी राष्ट्र में कुछ ऐसे लोग भी हो जायें जो वेद के इन दार्शनिक सिद्धान्तों को कुछ अंश में या सर्वथा ही न स्वीकार करते हों। वेद कहता है कि इस दार्शनिक विचार-भेद के कारण इन लोगों पर राज्य की ओर से कोई अन्याय और अत्याचार नहीं किया जाना चाहिये। यदि वे चरित्र के अच्छे लोग हैं और राज्य के सर्व-हितकारी नियमों का पालन करते हैं तथा राज्य की सामूहिक उन्नति में सहयोग देते हैं तो अन्य राष्ट्र-वासियों की भांति ही उन की भी रक्षा और पालना राज्य द्वारा की जानी चाहिये। भूमि-सूक्त के पन्द्रहवें और सोलहवें मन्त्रों में इस बात का बड़ा स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इतना ही नहीं, भूमि-सूक्त के पैंतालीसवें मन्त्र में तो यहां तक कहा गया है कि यदि कभी किसी राष्ट्र में विभिन्न भाषाओं को बोलने वाले और नाना

धर्मों को मानने वाले लोग भी हो जायें तो उन्हें इस भाषा-भेद और धर्म-भेद के कारण आपस में लड़ना-झगड़ना नहीं चाहिये प्रत्युत इस प्रकार प्रेम से मिल कर रहना चाहिये जैसे एक घर के लोग प्रेम से मिल कर रहा करते हैं। राष्ट्र में सब को अपने-अपने दार्शनिक और साम्प्रदायिक विचार रखने और उन के प्रचार करने का अधिकार है। राज्य की ओर से किसी विशेष प्रकार के दार्शनिक और साम्प्रदायिक विचार सर्व-साधारण जनता पर जबर्दस्ती नहीं थोपे जाने चाहियें। दार्शनिक और साम्प्रदायिक विचारों की दृष्टि से राज्य किसी विशेष सम्प्रदाय का नहीं होना चाहिये। राज्य में तो सर्व-हितकारी बातों पर ही विचार किया जाना चाहिये। इस प्रकार वेद की सम्मति में राष्ट्र का राज्य-प्रबन्ध सदा असाम्प्रदायिक रहना चाहिये।

राष्ट्रिय गीत या विश्व-गीत ?

हमने वेद के इस भूमि-सूक्त को राष्ट्रिय गीत का नाम दिया है। वेद का यह राष्ट्रिय गीत धरती के आज कल के राष्ट्रों के राष्ट्रिय गीतों जैसा नहीं है। इस में पृथिवी के किसी विशेष देश या राष्ट्र का संकेत नहीं है। इस में तो एक आदर्श राष्ट्र की कल्पना कर के उस के राष्ट्र-भक्त प्रजाजनों द्वारा उस की महिमा और विभूति के गीत गवाये गये हैं और इस प्रकार एक आदर्श राष्ट्र का चित्र उपस्थित कर के यह उपदेश दिया गया है कि राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति के लिये राष्ट्र में क्या-क्या कुछ होना चाहिये। जब तक कोई जन-समुदाय किसी भूखण्ड को अपनी मातृभूमि बना कर उस में वेद के इस गीत में बताये गये प्रकार से न रहने लगे तब तक वह जन-समुदाय किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। इस लिये भूमि-सूक्त के इस गीत की यह ध्वनि भी है कि अपनी उन्नति चाहने वाले जन-समुदायों को धरती के किसी न किसी खण्ड को अपनी मातृभूमि बना कर रहना चाहिये। यह हमारे मन के विकास की अवस्था पर निर्भर करता है कि हम धरती के कितने बड़े भाग को मातृभूमि समझें। हमारे मन का विकास जितना ही अधिक होगा हम उतने ही बड़े भूभाग को अपनी मातृभूमि और उस में रहने वाले लोगों को अपना भाई समझने लगेंगे। हम चाहें तो पांच-दस हजार वर्गमील के भूभाग को भी अपनी मातृभूमि समझ सकते हैं, दस-बीस हजार वर्गमील के भूभाग को भी, सौ-पचास हजार वर्गमील के भूभाग को भी, पांच-दस लाख वर्गमील के भूभाग को भी, दस-बीस लाख वर्गमील के भूभाग को भी, सौ-पचास लाख वर्गमील के भूभाग को भी और करोड़ों वर्गमील के भूभाग को भी अपनी मातृ-भूमि समझ सकते हैं तथा इन भूखण्डों में रहने वाले मनुष्यों को

अपना भाई समझ सकते हैं। हम चाहें तो सारी पृथिवी को ही अपनी मातृ-भूमि और उस पर रहने वाले सब मनुष्यों को अपना भाई समझ सकते हैं। वेद मानव-मात्र का धर्म-ग्रन्थ है। इस लिये वेद की आन्तरिक प्रेरणा यही है कि धरती के सब मनुष्यों को सारी धरती को ही अपनी मातृभूमि और उस के सब निवासियों को अपना भाई समझना चाहिये। वेद का यह भूमि-सूक्त तो वास्तव में किसी एक विशेष देश का राष्ट्रिय गीत न हो कर मानवमात्र का राष्ट्रिय गीत है। किसी एक देश-विशेष के लोग जिस प्रकार इस गीत को गा सकते हैं उसी प्रकार सारी धरती के लोग भी इसे गा सकते हैं। असल में तो इस भूमि-सूक्त को राष्ट्रिय गीत न कह कर विश्व-गीत कहना चाहिये।

सूक्त के मन्त्रों के शीर्षक

हमने भूमि-सूक्त के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए मन्त्रों के शीर्षक बना दिये हैं। वास्तव में तो किसी भी मन्त्र का कोई एक शीर्षक नहीं बनाया जा सकता। मन्त्रों का एक-एक शब्द और एक-एक चरण कई-कई भाव द्योतित करता है। इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र अनेक भावों और विचारों को अभिव्यक्त करता है। मन्त्र के ये सारे भाव किसी एक शीर्षक द्वारा प्रकट नहीं किये जा सकते। हमने मन्त्र के भाव का बहुत हल्का सा आभास देने के लिये अपनी अभिरुचि के अनुसार किसी एक भाव को ध्यान में रख कर मन्त्र का शीर्षक बना दिया है। पाठक अपनी अभिरुचि के अनुसार उसी मन्त्र के किसी अन्य भाव को ध्यान में रख कर उस का दूसरा शीर्षक भी बना सकते हैं। मन्त्रों के हमारे शीर्षकों को देख कर पाठकों को इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये कि अमुक मन्त्र में केवल अमुक विचार ही दिया गया है। वास्तव में तो प्रत्येक मन्त्र कई-कई विचार देता है।

मन्त्रों के स्वाध्याय की रीति

हमने प्रत्येक मन्त्र के नीचे पहले उस का शब्दार्थ दिया है। मन्त्र के संस्कृत-पदों को कोष्ठक में रख कर आगे उन का हिन्दी में अर्थ दिया गया है। मन्त्र के शब्दार्थ के अनन्तर मन्त्र के तात्पर्य को स्पष्ट और विशद करने के लिये उस का विस्तृत विवरण लिखा गया है। सूक्त का स्वाध्याय करते समय पाठकों को पहले एक-दो बार मन्त्र का शब्दार्थ ध्यान से पढ़ना चाहिये। फिर मन्त्र का विवरण ध्यान से देखना चाहिये। उस के अनन्तर पुनः शब्दार्थ को देखना

चाहिये। और फिर मूल मन्त्र से स्वयं शब्दार्थ निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। आवश्यकता होने पर मन्त्र का शब्दार्थ और विवरण बार-बार देखना चाहिये। इस से पाठक को मन्त्र का आशय पूरी तरह हृदयङ्गम हो जायेगा और उस के लिये मन्त्र स्वयं बोलने लगेगा। यदि मन्त्र को कण्ठस्थ कर के उस के अर्थ का चिन्तन किया जाये तो और भी अधिक अच्छा होगा। यह सूक्त किस्से-कहानी की तरह हलके मन से पढ़ने की चीज़ नहीं है। यह ऊंचा आत्मिक भोजन है। इसे ग्रहण करने और पचाने के लिये श्रद्धामयी गम्भीर मनोवृत्ति से सूक्त के मन्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये। जो पाठक ऐसा करेंगे उन्हें वेद के इस गीत में वैदिक संस्कृति और राजनीति की एक बड़ी सुनहरी छटा देखने को मिलेगी।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
वैशाख २०१२

प्रियव्रत वेदवाचस्पति

★

वेद का राष्ट्रिय गीत

अथर्ववेद का भूमि-सूक्त

(अथर्व० १२ । १)

१

राष्ट्रोन्नति के मूल सात तत्त्व

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥

अर्थ—(बृहत्) महान् (सत्यं) सत्य (बृहत्) महान् (ऋतं) ऋत (उग्रं) उग्रता अर्थात् क्षत्र-शक्ति (दीक्षा) दीक्षा (तपः) तप (ब्रह्म) ब्रह्म-शक्ति और (यज्ञः) यज्ञ, ये सात (पृथिवीं) पृथिवी को अर्थात् हमारे राष्ट्र को (धारयन्ति) धारण कर रहे हैं (नः) हमारे (भूतस्य) भूतकाल की और (भव्यस्य) भविष्यकाल की (पत्नी) रक्षा करने वाली (सा) वह (पृथिवी) हमारी मातृभूमि (नः) हमारे लिए (उरुं) विस्तृत (लोकं) प्रकाश और स्थान (कृणोतु) करे ।

हमारी मातृभूमि की—हमारे राष्ट्र की—महिमा निराली है । सात महाशक्तियें उसका धारण कर रहीं हैं । वे सात महाशक्तियें हैं—बृहत् सत्य, बृहत् ऋत, क्षत्रशक्ति, दीक्षा, तप, ब्रह्मशक्ति और यज्ञ । इन सात महाशक्तियों के आधार पर ही कोई राष्ट्र खड़ा हो सकता है, स्थिर रह सकता है, आगे बढ़ सकता है और सब प्रकार की उन्नति कर सकता है । जिस राष्ट्र में ये सातों महाशक्तियें नहीं रह जातीं वह स्थिर नहीं रह सकता, आगे नहीं बढ़ सकता और किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता । हमारी मातृभूमि के लोगों में ये सातों महाशक्तियें पूर्ण मात्रा में विद्यमान हैं । इसलिए हमारे राष्ट्र का धारण—उसकी सत्ता—आदर्श कोटि का है । वह दृढ़ है, अजेय है, आगे बढ़ रहा है और सब दिशाओं में भरपूर और निरन्तर उन्नति कर रहा है । अहा !! हमारी मातृभूमि कितनी गौरव शालिनी है जिसे ये सात महाशक्तियें धारण कर रही हैं ।

इन सातों महाशक्तियों से धारित है हमारी मातृभूमि ! तू हमारे

भूतकाल की रक्षिका (पत्नी[१]) भी है और हमारे भविष्यकाल की रक्षिका भी। हमारे राष्ट्र का भूतकाल बड़ा सुनहरा और गौरवशाली रहा है। भूतकाल में हमारे राष्ट्र ने सब क्षेत्रों में खूब उन्नति की है। हमारे राष्ट्र के लोगों का जीवन भूतकाल में सब दृष्टियों से आदर्श रहा है। हमारे पूर्वजों की बांधी हुई ऊंची परम्परायें आज भी हे हमारी मातृभूमि! तुझ में अक्षुण्ण चल रही हैं। हम तेरे निवासी आज भी उनकी रक्षा कर रहे हैं। हे मां! तेरा भूतकाल इसलिये महिमामय रहा है कि तेरे निवासी हमारे पूर्वजों के जीवन में इन सातों महा-शक्तियों का निवास रहता रहा है। हे मां! हमारे भूतकाल की भांति तू हमारे भविष्य की भी रक्षा करेगी। हमारे राष्ट्र का भविष्य भी बड़ा उज्ज्वल और चमकीला रहेगा। तुझ पर रहते हुए हम भविष्य में भी सब क्षेत्रों में निर्बाध उन्नति करते रहेंगे। भविष्य में भी ये सातों महाशक्तियें हमारा सदा साथ देंगी और हमारे राष्ट्र का सदा धारण करेंगी।

इन सातों महाशक्तियों से धारित हे मातृभूमि! तू हमें विस्तृत प्रकाश का प्रदान कर और इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने लिये खुला स्थान बनाने में हमारी सहायता कर। माँ! तेरे निवासियों में इन सातों महाशक्तियों के स्थित रहने का यह तो स्वाभाविक परिणाम होगा ही कि उन्हें विस्तृत प्रकाश प्राप्त हो जाये, उनके चक्षु खुल जायें, उन्हें उन्नति के सब मार्ग दीखने लगें और उन्नति के सब साधनों का उन्हें बोध हो जाये। यह विस्तृत प्रकाश मिलने पर हे मां! हम तेरे निवासी अपने लिये जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में खुला स्थान तो बना ही लेंगे।

मातृभूमि का वत्सल भक्त उसकी महिमा के गीत गाते हुए अपने राष्ट्र के लोगों में विद्यमान जिन सात महाशक्तियों का उल्लेख कर रहा है उनके भाव को जरा स्पष्टता के साथ समझ लेना चाहिये।

(क) सत्यम्—राष्ट्र के अधिवासियों को सत्यप्रिय होना चाहिये। उन्हें असत्य से द्वेष होना चाहिये। सत्य क्या है यह जानने के लिये उन्हें सदा तत्पर रहना चाहिये। सत्य तक पहुँचने के लिये जिस शान्त, गम्भीर, अध्यवसायी,

---

१. पातीति पतिः। पा रक्षणे इत्यस्मात् पातेर्डतिः (उणा० ४। ५७) इति डति प्रत्यये पतिशब्दो निष्पद्यते। पतिः पाता वा पालयिता वा। यास्काचार्यः। पतिशब्दस्यैव स्त्रियां पत्नीति रूपम्। पत्नी रक्षिका पालयित्री। पत्नी पालयित्री नीलकण्ठः महाभारते शान्तिपर्वणि ५६। १३२ श्लोकटीकायाम्। अत्र मन्त्रे पत्नीशब्दस्य यौगिक एवार्थो ग्रहीतुं शक्यते नापरः प्रकरणे दुर्घटत्वात्।

सहानुभूतिपूर्ण और कष्टसहिष्णु वृत्ति और घटनाओं की तह तक जाने वाली सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता होती है वह उनमें होनी चाहिये। और जब सत्य क्या है यह उन्हें पता लग जाये तो उसके अनुसार मन, वचन और कर्म से उन्हें आचरण करने वाला होना चाहिये। मन्त्र में सत्य के साथ 'बृहत्' यह विशेषण दिया गया है। बृहत् का अर्थ होता है—महान। इस विशेषण का भाव यह है कि राष्ट्र के आधिवासियों में महान् सत्य रहना चाहिये। उनके जीवन में कोई भी क्षण ऐसा नहीं रहना चाहिये जिसमें वे सत्य से परे हो जायें। सत्य का आचरण उन के जीवन का अंग हो जाना चाहिये।

(ख) ऋतम्[१]—ऋत का अर्थ होता है—सत्य ज्ञान। अपने सामान्य प्रयोग में सत्य और ऋत ये दोनों शब्द पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं। परन्तु इन में भेद है। जैसा मेरा ज्ञान है उसके अनुसार आचरण करने को सत्य कहते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि मेरा आचरण सत्य होगा तो मेरा ज्ञान भी अवश्य सत्य होगा। किसी बात का मेरा ज्ञान अशुद्ध हो सकता है। परन्तु मैं अपने अशुद्ध ज्ञान को ठीक समझता हुआ उसके अनुसार आचरण कर सकता हूँ। इस आचरण में जहां तक मेरी वृत्ति का सम्बन्ध है वहां तक मैं सत्य पर हूँ। परन्तु मेरा वह ज्ञान वास्तव में ठीक नहीं है। इसलिये वह ऋत नहीं है। और इसीलिये उस ग़लत ज्ञान पर आश्रित मेरा आचरण भी ऋत नहीं है। मेरा ज्ञान अनृत है और अनृत ज्ञान पर टिका होने के कारण मेरा आचरण भी अनृत ही है। सत्य यह बताता है कि किसी बात को मैंने ठीक समझा है और जैसा मैंने समझा है वैसा ही मैंने आचरण भी किया है। परन्तु मेरे ठीक समझने से ही तो कोई बात ठीक नहीं हो सकती। ऋत यह बताता है कि मैंने किसी चीज़ को जैसा समझा है वह वास्तव में है भी वैसी ही। ऋत इस प्रकार ज्ञान की सत्यता को द्योतित करता है। वेद में यह शब्द सत्य ज्ञान का बोधक होता हुआ जगत् के सत्य नियमों का बोधक भी हो जाता है। क्योंकि जगत् में चल रहे सत्य नियमों के सही बोध पर ही हमारे ज्ञान की सत्यता अवलम्बित होती है। फलतः ऋत विश्व में चल रहे सत्य नियमों का, उनके सत्य-ज्ञान का

---

१. ऋतम्—सत्यम् (दयानन्दः ऋग्० १।४१।४ भाष्ये)। सत्यं विज्ञानम्। सत्यं कारणम् (दयानन्दः ऋग्० १।७१।३ भाष्ये ऋग्० १।१०५।५ भाष्ये च)। सत्यनाम। निघं० ३।१०॥ सत्यं वा ऋतम्। श० ७।३।१।२३॥ ऋ गतौ धातोः ऋतमिति पदं निष्पद्यते। A fixed or settled rule, law. Divine law, divine truth. (आप्टेकोश)

और तदनुसार सत्य-आचरण का द्योतक हो जाता है।

राष्ट्र के लोगों में ऋत होना चाहिये इस कथन का भाव यह है कि उन्हें विश्व-ब्रह्माण्ड में काम कर रहे भौतिक और आत्मिक नियमों का सच्चा ज्ञान होना चाहिये। उन्हें भौतिक और आत्मिक विद्याओं का पण्डित होना चाहिये। और इस ज्ञान एवं इन विद्याओं के अनुकूल उनके आचरण होने चाहियें।

मन्त्र में प्रयुक्त 'बृहत्' विशेषण जिस प्रकार 'सत्य' के साथ सम्बद्ध होता है उसी प्रकार वह 'ऋत' के साथ भी सम्बद्ध हो सकता है। क्योंकि वह मन्त्र में सत्य और ऋत शब्दों के मध्य में प्रयुक्त हुआ है। उसका सम्बन्ध सत्य से भी जोड़ा जा सकता है और ऋत से भी। ऋत के साथ 'बृहत्' को जोड़ने पर भाव यह होगा कि राष्ट्रनिवासियों में 'महान् ऋत' रहना चाहिये। उन्हें भौतिक और आत्मिक विद्याओं का आविष्कार और ज्ञान प्राप्त करने में बहुत प्रयत्नशील होना चाहिये तथा इस ज्ञान के अनुसार आचरण करने में भी उन्हें पूर्ण तत्पर रहना चाहिये।

(ग) उग्रम्[१]—उग्र शब्द उद्गूर्ण शक्ति और तेज वाले क्षत्रिय का वाचक है। यहां यह पद नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है और क्षत्रिय के तेज और शक्ति को द्योतित करता है। राष्ट्र के लोगों में उग्रता रहनी चाहिये। उनमें तेज और बल रहना चाहिये। सामान्य प्रजा में भी उग्रता होनी चाहिये और उग्रता के विशेष धनी क्षत्रिय लोग भी राष्ट्र में बड़ी संख्या में रहने चाहियें।

---

१. उग्रम—उच्यति क्रुधा समवैति इति उग्रो रौद्रस्वभावः क्षत्रियः। उच समवाये धातोः औणादिकः (उणा० २। २८) रन् प्रत्ययः। उग्रं क्षत्रियस्य रौद्रं तेजः। उग्रता गुणः॥ संस्कृतसाहित्ये रुद्रपदवाच्यमहादेवस्य नामसूग्र इत्येकं सुप्रसिद्धं नाम। वेदेपि बहुत्र रुद्रो देव उग्रनाम्ना विशेष्यते (यथा ऋग्० २। ३३। ६ मन्त्रे, अथर्व० १८। १। ४० मन्त्रे, ऋग्० २। ३३। ११ मन्त्रे च)॥ रुद्रश्च वैदिकदेवेष्वप्यन्यतमः। सर्वेपि देवा वेदे क्षत्रिया इति वर्ण्यन्ते (यथा ऋग्० ८। २५। ८, ऋग्० ८। ६७। १, ऋग्० १०। ६६। ८ मन्त्रेषु)॥ दुष्टानां दमयिता। ऋग० ३। ४७। ५ मन्त्रभाष्ये दयानन्दः॥ प्रचण्डपराक्रमः। यजुः ७। ३६ मन्त्रभाष्ये दयानन्दः॥ अत उग्र शब्दे क्षत्रियाभिधायकत्वम्। इह तु नपुंसकमुग्रमिति पदं क्षत्रियस्य रौद्रं तेजो द्योतयति। सामान्ये नपुंसकम्। Powerful, mighty, strong, violent, intense. Shiva or Rudra. Descendant of a Kshatriya father and *Sudra* mother. (आप्टे कोश)

(घ) दीक्षा—किसी कार्य को दृढ़ संकल्पपूर्वक हाथ में लेने को दीक्षा कहते हैं। राष्ट्र के लोगों में दीक्षा होनी चाहिये। उनकी शिक्षा ऐसी होनी चाहिये—उनके शरीरों और मनों की साधना ऐसी होनी चाहिये—कि जब वे भलीभांति सोच-विचार कर किसी काम को हाथ में ले लें तो फिर उसे पूर्ण कर के ही विश्राम लें। विघ्न-बाधाओं से घबरा कर अपने संकल्पित कामों को वे बीच में ही छोड़ देने वाले न हों। एक बार किसी काम को करने का संकल्प कर लेने पर वे न तो किसी कष्ट और विपत्ति से विचलित हों और न ही किसी प्रकार के लोभ और लालच से डगमगायें। जिस दृढ़ निश्चय, श्रद्धा और पवित्रता की भावना से यजमान यज्ञ में दीक्षित होता है उसी भावना से राष्ट्रनिवासियों को अपने सब कार्य करने चाहियें। यज्ञ-दीक्षा का भंग होने पर यजमान जैसे अपने आप को पापिष्ठ अनुभव करता है वैसे ही राष्ट्रनिवासियों को अपने प्रारब्ध कार्यों को बीच में ही छोड़ देने पर अपने आप को पापिष्ठ अनुभव करना चाहिये।

(ङ) तपः—जीवन में कष्टसहिष्णुता और सरलता—सादगी—की वृत्ति को तप कहते हैं। राष्ट्र के लोगों में तप रहना चाहिये। उनका जीवन सरल और सादा रहना चाहिये। उन्हें बीच-बीच में भांति-भांति के कष्टों को स्वेच्छा-पूर्वक सहने का अभ्यास करते रहना चाहिये। सरल और सादा जीवन रखने तथा बीच-बीच में कष्टों को सहने का अभ्यास करते रहने का परिणाम यह होगा कि जब कभी उन्हें वैयक्तिक अथवा सामाजिक कर्तव्यों का पालन करते हुए कष्टों का सामना करने का अवसर प्राप्त होगा तो वे उन कष्टों से घबरायेंगे नहीं। वे उन को वीरता से सहन करेंगे। जिनके जीवन में सरलता—सादगी—और कष्ट सहने का अभ्यास नहीं होता, जो लोग ठाठ-बाट, बनाव, साज-सिंगार और विलास के जीवन में रहते हैं—वे लोग कर्तव्य पालन में कष्टों का सामना आ पड़ने पर उनको सहन नहीं कर सकते। वे अभ्यास न होने के कारण कष्टों से घबरा कर कर्तव्य से च्युत हो जाते हैं। इसलिये राष्ट्र के लोगों का जीवन तपस्वी होना चाहिये।

(च) ब्रह्म[1]—ब्रह्म ज्ञान को कहते हैं। ब्रह्म वेद को भी कहते हैं और

---

१. ब्रह्म—ब्रह्म वै ब्राह्मणः। श० १३। १। ५। ३॥ वेदो ब्रह्म जै०उ० ४। २५। ३॥ स (प्रजापतिः) श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम। श० ६। १। १। ८॥ वाग्वै ब्रह्म। ऐ० ६। ३॥ श० २। १। ४। १०॥ एतेन सर्वं वाङ्मयम्, सर्वाणि विद्याविज्ञानानि ब्रह्मपदेन गृह्यन्ते। शतपथब्राह्मणे विविध-

भांति-भांति के विद्या-विज्ञानों को भी कहते हैं। वेद और विद्या-विज्ञानों को पढ़ते रहने के कारण ही ब्राह्मण को भी ब्रह्म कहते हैं। राष्ट्र में ब्रह्म रहना चाहिए। उसमें वेद का प्रचार रहना चाहिये और वेदाश्रलक्षित भांति-भांति के विद्या-विज्ञानों के अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था रहनी चाहिये। सारी प्रजा में ही वेद और विद्या-विज्ञानों का भरपूर प्रचार रहना चाहिये। परन्तु इस के साथ ही राष्ट्र में ब्राह्मण नाम के विशेष व्यक्तियों की भी यथेष्ट संख्या रहनी चाहिये। जैसा शास्त्र में अन्यत्र अनेक स्थानों में कहा गया है—इन ब्राह्मणों के जीवन का वेद और भांति-भांति के विद्या-विज्ञानों का अध्ययन और अध्यापन विशेष उद्देश्य होता है, ये त्यागी, तपस्वी, संयमी, परोपकार-प्रिय और आत्मजयी लोग होते हैं। इन तत्त्वदर्शी लोगों के जीवन का एकमात्र उद्देश्य अपनी विद्या और संयम की ज्योति को सर्वसाधारण प्रजा में निःस्वार्थभाव से फैलाते रहना होता है। ऐसे ब्राह्मण राष्ट्र में सदा बड़ी संख्या में रह सकें इसका पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिये।

(छ) यज्ञ—जब हम किसी समुदाय के योगक्षेम को, कल्याण को, लक्ष्य में रख कर उस समुदाय का अंग हो कर किसी कार्य को करने लगते हैं तो हमारा वह कार्य यज्ञ कहलाता है—"सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायांगतया क्रियमाणं कर्म यज्ञः[१]।" यज्ञ शब्द यज धातु से बनता है जिस का एक अर्थ संगतीकरण होता है। हमारे जो कार्य संगत हो कर, मिल कर, किये जाते हैं वे सब यज्ञ कहलाते हैं। राष्ट्र के लोगों में यज्ञ होना चाहिये। उनमें यज्ञशीलता की वृत्ति रहनी चाहिये। उन्हें राष्ट्र के कल्याण की भावना से परस्पर मिल कर काम करने की आदत होनी चाहिये। राष्ट्र के लाभ और भलाई के लिये यदि उन्हें वैयक्तिक लाभ और सुख छोड़ना पड़े तो वे उसके लिये भी सहर्ष उद्यत रहें। इस परोपकारमयी भावना से काम करने की वृत्ति को यज्ञ की वृत्ति कहते हैं। राष्ट्र के लोगों में यह यज्ञ की भावना सदा स्थिर रहनी चाहिये।

जिस राष्ट्र के लोगों में ये सातों महाशक्तियें विद्यमान रहेंगी—जिस राष्ट्र के लोगों में ये सातों गुण जीवन का अंग बन जायेंगे—वह राष्ट्र सदा धारित रहेगा। वह सदा बना रहेगा। उसकी सदा उन्नति होती रहेगी। वह सदा ऊँचा ही ऊँचा उठता चला जायेगा और उसकी महिमा, गौरव और श्रीवृद्धि का कोई अन्त नहीं रहेगा। राष्ट्रों की उन्नति के विशाल भवन का मूल आधार होने के कारण ये सातों गुण वास्तव में सात महाशक्तियें हैं।

शास्त्राणां स्वाध्यायोपि ब्रह्मयज्ञपदेन निगद्यते। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः। श॰ ११।५।६।२॥ ब्रह्म विद्याधनम् (दयानन्दः यजुः १४। २ भाष्ये)।

१. शतपथब्राह्मणभाष्ये विद्वत्प्रवरः श्री बुद्धदेवो विद्यालङ्कारः।

वेद का मातृभूमि का वत्सल भक्त अपनी मातृभूमि की महिमा के गीत गाते हुये सात्त्विक अभिमान में भर कर कह रहा है कि मेरे राष्ट्र के लोगों में ये सातों गुण, ये सातों महाशक्तियें विद्यमान हैं और इसीलिये मेरा राष्ट्र खूब समुन्नत है। मातृभूमि के भक्त द्वारा उसकी महिमा के गीत गवा कर भगवती श्रुति ने मनोहर कवितामय ढंग में राष्ट्रों की उन्नति के मूलभूत तत्त्वों का कितना मार्मिक वर्णन कर दिया है!

वह दिन कितना स्वर्गीय होगा जब धरती के राष्ट्रों का प्रत्येक निवासी वेद के स्वर में स्वर मिला कर अपनी मातृभूमि की महिमा में अभिमान से भर कर गा सकेगा कि उसके देश के अधिवासियों में सत्य आदि इन सातों तत्त्वों का पूर्ण निवास है!

२

मनु के पुत्र

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥

अर्थ—(यस्याः) जिसके (असंबाधम्[1]) गति-निरोधक व्यवहारों को (बध्यतः[2]) बन्धन और संयमन में लाने वाले (मानवानाम्) मनु के पुत्र अर्थात् मनुष्यों की (बहु) बहुत प्रकार की (उद्वतः[3]) उच्चतायें (प्रवतः[4]) निम्नतायें और (समं) समतायें हैं (या) जो (नानावीर्याः) अनेक प्रकार के वीर्य अर्थात् शक्ति और गुणों वाली (ओषधीः) ओषधियों को (बिभर्ति) धारण करती है, वह (पृथिवी) हमारी मातृभूमि (नः) हमारे लिये (प्रथताम्) विस्तीर्ण होवे और (नः) हमारे लिये (राध्यताम्) समृद्ध बने।

हे हमारी मातृभूमि! तुझ पर रहने वाले हमारे राष्ट्रनिवासी साधारण लोग नहीं हैं। वे मानव हैं। मनु की सन्तान हैं। उनके माता-पिता और फिर

---

१. असंबाधम्—असं गत्यादिष्वर्थेषु। असः गतिः प्रगतिः उन्नतिः। असं गतिं बाधते इति असंबाधः प्रगतिनिरोधको व्यवहारः।

२. बध्यतः—बध बन्धने भ्वादिः। संयमने चुरादिः। व्यत्ययेन शप्। ततः शतृ। व्यत्ययेनैव आमः ङस्। बध्यतः निरुन्धानानाम्, संयमनं कुर्वताम्।

३, ४. उद्वतः उन्नतयः। प्रवतः निम्नताः। उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे (अष्टा० ५।१।११८) इति स्वार्थे वति प्रत्ययः।

उनके भी पूर्वज परम्परा से मनु[1] होते आये हैं—मननशील होते आये हैं, विचारशील होते आये हैं, भले-बुरे का विवेक करने वाली बुद्धि के धनी होते आये हैं। ऐसे मननशील मनु लोगों की सन्तान होने के कारण तेरे सभी अधिवासी स्वयं भी मनु हैं—मननशील, भले-बुरे का विवेक करने की योग्यता रखने वाले विचारशील लोग हैं। उनका प्रत्येक काम विचारपूर्वक होता है। वे भली-भांति विचारे बिना कुछ भी नहीं करते। हमारे राष्ट्र के ऐसे विचारशील ये मानव लोग अपनी विचारशक्ति से काम लेकर गति का निरोध करने वाले, आगे बढ़ने में रुकावट डालने वाले, उन्नति के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले व्यवहारों को—उन्नति-विरोधी सभी बातों को बन्धन में लाते रहते हैं। उनका संयमन करते रहते हैं, उन्हें रोकते रहते हैं। और इस प्रकार विघ्न-बाधाओं को परे हटा कर निरन्तर उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ते रहते हैं।

तेरे अधिवासी ये मानव लोग हे मातृभूमि ! जब उन्नति की राह पर आगे बढ़ते हैं तब इन उन्नतिगामी लोगों में अनेक प्रकार की उच्चता, समता और निम्नतायें दृष्टिगोचर होती हैं। कोई किसी क्षेत्र में औरों से आगे बढ़ गये हैं और कोई किसी में। कोई अनेक क्षेत्र में औरों से आगे बढ़ गये हैं। कोई किसी क्षेत्र में औरों के समान हैं और कोई किसी में। कोई अनेक क्षेत्रों में औरों के समान हैं। कोई किसी क्षेत्र में औरों से पीछे रह गए हैं और कोई किसी में। कोई अनेक क्षेत्रों में औरों से पीछे रह गये हैं। पर्वत-शृंग पर खड़ी हुई देवदारुओं की वनमाला में जैसे कुछ वृक्ष चोटी पर होते हैं, कुछ मध्य में और कुछ सब से नीचे, उसी प्रकार उन्नति के शिखर पर चढ़ने की इच्छा और प्रयत्न वाले हमारे राष्ट्र के मानव भी कुछ तो बहुत ऊंचे चढ़ गए हैं, कुछ मध्यम ऊँचाई तक पहुँच पाये हैं और कुछ अभी नीचे ही हैं—उन्होंने अभी चढ़ना ही प्रारम्भ किया है। पर उन्नति के शिखर पर चढ़ने की सब में इच्छा है और सब उसके लिए प्रयत्नशील हैं। उन्नति की चोटी पर चढ़ने की दृष्टि से हमारे राष्ट्र के अधिवासियों में पाई जाने वाली यह अनेक प्रकार की विभिन्नता उसी प्रकार सुन्दर प्रतीत होती है जिस प्रकार पर्वत पर खड़ी हुई देवदारुओं की वनमाला के ऊंचे-नीचे पेड़ रमणीय प्रतीत होते हैं।

हे मातृभूमि ! तेरी अमृतभरी छाती पर अनेक प्रकार की ओषधियें उगती रहती हैं—अनेक प्रकार के अनाज और जड़ी-बूटियें उपजती रहती हैं। इन ओषधियों

---

१. मनुः - मनुर्मननात्। निरु० १२ । ३३॥ मननशीलः । अमनुत इति मनुः। श० ६।६।१।१६॥ ये विद्वांसस्ते मनवः। श० ८।६।३।१८॥ मनोरपत्यम् मानवः।

इन अनाजों और जड़ी बूटियों में अनेक प्रकार के वीर्य हैं। उनमें अनेक प्रकार की शक्ति, प्रभाव और गुण हैं। इन की खेती करके हे मातृभूमि! तेरे ये मानव इन ओषधियों को तुझ पर उपजाते हैं और फिर इन का सेवन करके इनके गुणों से शक्ति प्राप्त करते हैं और अनेक प्रकार के लाभ उठाते हैं। हे मातृभूमि! तू इतनी उर्वरा है कि बिना खेती के भी तेरे पर्वतों और जंगलों में अनेक प्रकार की ओषधियें उत्पन्न होती रहती हैं। और इस प्रकार तू सदैव अपने अधिवासी मानवों का कल्याण करती रहती है।

हम मानवों की अधिवास-भूमि हे मातृभूमि! तू हमारे लिये विस्तीर्ण बन, हमें प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिये खुला स्थान प्रदान कर, उन्नति करने का प्रत्येक अवसर हमारे लिये उपस्थित कर। और इस प्रकार हमारे उन्नति के प्रयत्नों द्वारा तू खूब समृद्ध बन। तुझमें किसी प्रकार के ऐश्वर्य की, किसी प्रकार की समृद्धि की कमी न रहने पावे।

मातृभूमि के वत्सल भक्त के इन उद्गारों के द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि किसी भी राष्ट्र के लोगों को मानव—भले-बुरे का विचार करके काम करने वाला—बनना चाहिये। वैयक्तिक और राष्ट्रिय उन्नति की विरोधी बातों को रोकते रहना चाहिये। उन्नति के मार्ग में निरन्तर आगे बढ़ते रहना चाहिये। खेती की उन्नति करनी चाहिये। पृथिवी पर उपजने वाले अनाजों और जड़ी-बूटियों के गुणों को जान कर उन से लाभ उठाना चाहिये। सब प्रकार के प्रयत्न करके अपने राष्ट्र को समृद्धिशाली बनाना चाहिये[1]।

---

१. कहीं-कहीं मन्त्र के 'बध्यतः' पद के स्थान में 'मध्यतः' ऐसा पाठ पाया जाता है। यह पाठ स्वीकार करने की अवस्था में पदयोजना इस प्रकार करनी होगी—यस्याः मानवानां मध्यतः असंबाधम्=परस्परसंबाधाभावः। इस पदयोजना में मन्त्र के प्रथम चरण का अर्थ यह होगा कि जिस के निवासी मानवों के मध्य में असंबाध अर्थात् परस्पर की उन्नति की रुकावट का अभाव है। जिस के निवासी परस्पर की उन्नति में बाधा नहीं डालते। इस वाक्य का भाव यह होगा कि जिस राष्ट्र के लोग परस्पर की उन्नति में बाधा नहीं डालते वही समृद्ध बन सकता है। इस पदयोजना में 'असंबाधम्' पद को बाधार्थक बाध धातु से बना हुआ मानना होगा। संबाधनम् संबाधः, संबाधाभावः असंबाधम्। छान्दसं नपुंसकत्वम्।

३

सहकार पद्धति से खेती आदि करने वाले राष्ट्र-निवासी

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥

अर्थ—(यस्याम) जिसमें (समुद्रः) समुद्र (उत) और (सिन्धुः) नदियें तथा (आपः) अन्य विविध प्रकार के जल हैं (यस्याम्) जिस में (अन्नम्) अन्न होता है और (कृष्टयः) अन्य अनेक प्रकार की खेतियें (संबभूवुः) होती हैं, अथवा (कृष्टयः) मनुष्य (संबभूवुः) मिल कर रहते हैं। यस्याम्) जिसमें (प्राणत्) प्राण लेता हुआ तथा (एजत्) चेष्टा करता हुआ (इदम्) यह सब प्राणी जगत् (जिन्वति[1]) चल रहा है अथवा अपने आपको तृप्त कर रहा है (सा) वह (भूमिः) हमारी मातृभूमि (नः) हम को (पूर्वपेये) पूर्व-पेय में अर्थात् पूर्वज पुरुषों द्वारा प्राप्त किये गये उत्तम पद पर अथवा प्रथम पान करने योग्य दुग्धादि उत्तम पेय पदार्थों में (दधातु) धारण करे अर्थात् इन का प्रदान करे।

हमारी मातृभूमि के साथ समुद्र भी लगता है और उस में अनेक नदियें भी बहती हैं। इन समुद्र और नदियों द्वारा यातायात और व्यापार होता है जिससे हमारा राष्ट्र खूब समृद्ध बनता है। इनके अतिरिक्त हमारे राष्ट्र में अन्य भी अनेक प्रकार के जल हैं। छोटे-बड़े तालाब हैं, झीलें हैं, कुँए हैं। इन सब जलाशयों के जल से हमारी मातृभूमि सदा हरी-भरी रहती है। उसमें भांति-भांति के अन्न उपजते हैं तथा अन्य अनेक प्रकार की खेतियें होती हैं जिन से कई प्रकार की व्यापारिक वस्तुएँ बनती हैं।

हमारे राष्ट्र के सब लोग प्राणशाली हैं, बलवान्, स्वस्थ और शक्तिसम्पन्न हैं। वे चेष्टाशील भी हैं। वे आलसी और निरुद्यमी नहीं हैं। वे सदा क्रियाशील रहते हैं। ऐसे प्राणशील और क्रियाशील होकर वे अपने राष्ट्र की धरती पर चलते-फिरते हैं और अपने लिये सब प्रकार की तृप्तियें प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार समुद्र की लहरें जिसके चरणों को चूमती रहती हैं, नदियें जिसके कण्ठ में चान्दी के से हार पहनाती रहती हैं, और प्राणशाली तथा क्रियाशील नर-नारी जिसमें निवास करते हैं, ऐसी महिमाशालिनी हे हमारी मातृभूमि ! तू

---

१. जिवि प्रीणने। जिन्वतिः गतिकर्मा। निघं० २। १४॥ प्रीतिकर्मा। निरु० ६। २२

हमें सब प्रकार के उत्तम पद और सब प्रकार के पेय पदार्थ प्रदान कर। हे मां! ऐसी महिमा वाली तू भला हमारे लिये अपनी छाती से अनेक प्रकार के पेय पदार्थों की—अनेक प्रकार के मंगलों की—धारा क्यों न बहायेगी?

मन्त्र में प्रयुक्त कुछ शब्दों के गहरे भाव को जरा और बारीकी से समझ लेना चाहिये। कृष्टि का अर्थ खेती तो होता ही है, इस शब्द का अर्थ वेद में मनुष्य भी होता है। कृष्टि[1] का अर्थ 'मनुष्य' करने पर 'कृष्टयः सम्बभूवुः' का अर्थ होगा, 'जिस में मनुष्य मिल कर रहते हैं'। इस अर्थ में इस कथन की ध्वनि यह होगी कि राष्ट्र के लोगों को परस्पर मिल कर रहना चाहिये, उन्हें पारस्परिक कामों में एक दूसरे का सहयोग करना चाहिये। तभी राष्ट्र उन्नति कर सकता है। इससे यह भी ध्वनि निकलेगी कि राष्ट्र-निवासियों को अपने उद्योग-धन्धे और व्यापार कम्पनी आदि के रूप में मिलकर करने चाहियें। संस्कृत-ग्रन्थों में कम्पनी आदि के रूप में मिलकर उद्योग-धन्धे करने के लिये 'सम्भूय-समुत्थान' शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है, मिलकर उठना। संस्कृत के राजनीति और अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में यह 'सम्भूय-समुत्थान' की कल्पना वेद के इन 'कृष्टयः संबभूवुः' आदि वाक्यों से ही ली गई है। 'सम्बभूवुः' और 'सम्भूय' में एक ही क्रियापद, 'सम्' पूर्वक 'भू' धातु प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ होता है, मिलकर रहना।

'कृष्टयः' का खेती अर्थ लेने की अवस्था में उसके साथ प्रयुक्त हुए 'संबभूवुः' क्रियापद से यह ध्वनि भी निकलेगी कि जिस में खेतियें मिलकर होती हैं अर्थात् जिसके निवासी खेतियें मिलकर करते हैं। भाव यह होगा कि किसानों को, विशेषकर उन किसानों को, जिनके पास जमीनें थोड़ी हैं, सहयोग-समितियें बनाकर 'संभूय-समुत्थान' की पद्धति से खेती करनी चाहिये। इस पद्धति से मिलकर किया हुआ कृषि-कर्म किसानों और राष्ट्र के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

राष्ट्र-निवासियों के लिए प्रयुक्त हुए 'प्राणत्' और 'एजत्' विशेषणों की ध्वनि यह है कि वही राष्ट्र उन्नति कर सकता है और उसी को सब प्रकार की तृप्ति, सब प्रकार का सुख-सन्तोष, प्राप्त हो सकता है जिस के निवासी प्राणशाली, बलवान्, स्वस्थ और शक्तिसम्पन्न तथा क्रियाशील और उद्यमी रहेंगे। अस्वस्थ, निर्बल और आलसी लोगों का राष्ट्र किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता।

मन्त्र में 'प्राणत्' और 'एजत्' का विशेष्य-पद 'इदम्' है। हमने शब्दार्थ में 'इदम्' का अर्थ प्राणि-जगत् किया है। ऊपर व्याख्या करते हुए हमने

१. कृष्टयः मनुष्यनाम। निघं २।३॥

प्राणि-जगत् से अभिप्राय राष्ट्र के निवासी नर-नारियों का लिया है। प्राणि-जगत् में पशु-पक्षी भी आ सकते हैं। पशु-पक्षी अर्थ भी ध्यान में रखने की अवस्था में भाव यह होगा कि हमारे राष्ट्र में नर-नारी तो सब प्रकार की तृप्ति प्राप्त करते ही हैं, उसके पशु-पक्षी भी तृप्त रहते हैं। राष्ट्र की ऐसी सुन्दर व्यवस्था है कि उस मेंपशु-पक्षी भी सुख से रहते हैं।

पूर्वपेय पद के कई भाव निकल सकते हैं। 'पूर्व' शब्द का अर्थ वेद में 'पूर्ण' भी होता है। पूर्व के इस अर्थ में पूर्वपेय[1] का अर्थ होगा—पूर्ण पेय पदार्थ। भाव यह होगा कि हमें पूर्ण पेय पदार्थ प्राप्त हों। किसी भी पेय पदार्थ की, दुग्धादि पीने योग्य पदार्थ की, कमी न रहे। पूर्व पद का अर्थ पूर्व अर्थात् पहला करने पर पूर्वपेय का अर्थ होगा—पहिले पीने योग्य पदार्थ। इस अर्थ में भाव यह होगा—हमें ऐसे उत्तम पेय पदार्थ प्राप्त हों जिन्हें सब से पहिले पीने को जी चाहे। यहां पेय शब्द खाने योग्य उत्तम पदार्थों का भी उपलक्षण है, उनकी भी सूचना देता है। क्योंकि मन्त्र के द्वितीय चरण में अन्न और खेती की ओर निर्देश पहिले ही हो चुका है।

पूर्वपेय[2] पद का एक और भाव निकल सकता है। पूर्व पद पूर्वज पुरुषों का वाचक होगा और पेय पद का अर्थ होगा—रक्षा की हुई स्थिति या पद। जिस स्थिति की हमारे पूर्वज पुरुष रक्षा करते रहे हैं, जिस स्थिति को वे प्राप्त होते रहे हैं, वह उत्तम स्थिति हमें भी हमारी मातृभूमि प्रदान करे—तब ऐसा भाव इस पद से निकलेगा।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने मनुष्यों को यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र के समुद्रों, और नदियों द्वारा यातायात और व्यापार करना चाहिये। नदियों, जलाशयों और कुओं के पानी का कृषि करने में उपयोग लेना चाहिये। खेतियें सहकार-कृषि-पद्धति से करनी चाहियें। नर-नारियों को परस्पर मिल कर रहना चाहिये और संभूय-समुत्थान की पद्धति से अपने उद्योग-धन्धे और व्यापार करने चाहियें। सब नर-नारियों को बलिष्ठ और क्रियाशील रहना चाहिये। तभी राष्ट्र उन्नति कर सकेंगे और उनके निवासियों के लिए पेय पदार्थों की—सब प्रकार के सुख मंगलों की—धारायें बह सकेंगी।

---

१. पूर्वं च तत् पेयं च। पूर्वम्=पूर्णम्। पुर्व पूरणे। पा पाने। पेयम्=पातव्यम्।

२. पूर्वैः पूर्वपुरुषैः पातव्ये रक्षितव्ये पूर्वपेये। पा रक्षणे। अचो यत् (अष्टा० ३।१।९७)। ईद्यति (अष्टा० ६।४।६५)। पेयम् रक्षितव्यम् पातव्यम् प्राप्तव्यम्।

४

उन्नति के खुले मार्गों वाली मातृभूमि

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥

अर्थ—(यस्याः) जिस (पृथिव्याः) हमारी मातृभूमि की (चतस्रः) चार (प्रदिशः) विस्तीर्ण दिशायें हैं (यस्याम्) जिसमें (अन्नं) अन्न होते हैं (कृष्टयः) खेतियें (संबभूवुः) होती हैं अथवा (कृष्टयः) मनुष्य (संबभूवुः) मिल कर रहते हैं, मिल कर उन्नति करते हैं (या) जो (प्राणत्) प्राणधारी और (एजत्) चेष्टाशील प्राणि-जगत् को (बहुधा) अनेक प्रकार से (बिभर्ति) भरण-पोषण करती है (सा) वह (भूमिः) हमारी मातृभूमि (नः) हमें (गोषु) गौवों में (अपि) और (अन्ने) भांति-भांति के अन्नों में (दधातु) धारण करे—इनका प्रदान करे।

हे मातृभूमि ! तेरी चारों दिशायें बड़ी विस्तीर्ण हैं। वे खूब लम्बी-चौड़ी, दूर-दूर तक फैली हुई हैं। इस प्रकार तेरा भौतिक विस्तार बहुत विशाल है। एक और दृष्टि से भी तेरी दिशायें बड़ी विस्तीर्ण हैं। तेरे निवासियों के लिए लम्बे-चौड़े मार्ग खुले पड़े हैं। उन्नति करने के लिए उनके आगे अनेक क्षेत्र खुले हुए हैं। वे जिस दिशा में चाहें उन्नति कर सकते हैं और जितनी चाहें उतनी उन्नति कर सकते हैं। उनके उन्नति-मार्ग में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है। हरेक राष्ट्र-निवासी को अपनी उन्नति करने की भर-पूर सुविधायें प्राप्त हैं। प्रत्येक नर-नारी उन्नति करते-करते जो कुछ बनना चाहे वह बन सकता है।

हे मां ! तेरे निवासी हम सब नर-नारी परस्पर प्रेम से मिल कर रहते हैं, परस्पर मिल कर उन्नति करते हैं। परस्पर मिल कर खेतियें करते हैं जिनसे हम सब के खाने के लिये भांति-भांति के यथेष्ट अन्न उत्पन्न होते हैं और अनेक व्यापारिक वस्तुओं के निर्माण की सामग्री प्राप्त होती है तथा हमारे पशुओं के लिये पर्याप्त मात्रा में चारा उपलब्ध होता है।

हे मां ! इस प्रकार तू हमारे राष्ट्र के प्राणशील और क्रियाशील प्राणियों का अनेक प्रकार से भरण-पोषण करती है। हमारे राष्ट्र के प्राणशील, बलवान, स्वस्थ, शक्ति-सम्पन्न और क्रियाशील नर-नारी तो अपने पुरुषार्थ द्वारा तुझ से अनेक प्रकार का भरण-पोषण प्राप्त करते ही हैं। हमारे राष्ट्र के अन्य प्राणी भी तुझ से भांति-भांति के सुख-साधन प्राप्त करते हैं।

जिसमें सब के लिये उन्नति के खूब विस्तृत मार्ग खुले हुए हैं, जिसमें रहने वाले नर-नारी परस्पर की सहायता करके भांति-भांति की खेतियें करते हैं, जो और भी अनेक प्रकार से अपने ऊपर रहने वाले प्राणियों का भरण-पोषण करती है, ऐसी महिमा वाली हे मातृभूमि! तू हमें गौवें प्रदान कर। इन गौवों के दूध, दही और घी के सेवन से हमारे शरीर और मस्तिष्क परिपुष्ट हो जायेंगे। हमारे और हमारी इन गौओं के खाने के लिये भांति-भांति के अन्न तथा चारे भी हे मातृभूमि! तू यथेष्ट परिमाण में हमें प्रदान कर।

मातृभूमि की महिमा के इस गान द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति के लिये उन्नति के मार्ग और साधन खुले रहने चाहियें। राष्ट्र के लोगों को परस्पर प्रेम से मिल कर रहना चाहिये और सब को मिल कर कृषि आदि की उन्नति करनी चाहिये। सब को बलवान्, स्वस्थ और क्रियाशील रहना चाहिये। तभी राष्ट्र समुन्नत हो सकेगा और अपने निवासियों को अनेक प्रकार के भरण-पोषण दे सकेगा। राष्ट्र-निवासियों के घर-घर में गौवें रहनी चाहियें और इस प्रकार राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को गौ का दूध, दही, मक्खन और घी खुली मात्रा में पीने और खाने को मिलना चाहिये। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को खाने के लिये यथेष्ट अन्न और गौ आदि पशुओं को खाने के लिये भरपूर चारा मिलना चाहिये।

५

असुरों का पराजय करने वाले हमारे पूर्वज देवपुरुष

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥

अर्थ—(यस्याम्) जिसमें (पूर्वे) पहिले को (पूर्वजनाः) पूर्वज पुरुष (विचक्रिरे) भांति-भांति के कर्म करते रहे हैं (यस्याम्) जिसमें (देवाः) देव-प्रकृति के पुरुष (असुरान्) असुर-प्रकृति के लोगों को (अभ्यवर्तयन्) अभिभूत, पराजित करते रहे हैं, जो (गवाम्) गौवों का (अश्वानाम्) घोड़ों का (च) और (वयसः) भांति-भांति के पक्षियों का (विष्ठा) विशेष रूप से रहने का स्थान है अथवा (वयसः) अन्नों का (विष्ठा) विशेष रूप से रहने का स्थान है, वह (पृथिवी) हमारी मातृभूमि (नः) हमारे लिये (भगं) ऐश्वर्य और (वर्चः) तेज को (दधातु) धारण करे—प्रदान करे।

हे हमारी मातृभूमि! हम बड़े भाग्यशाली हैं जिन्हें तू मातृभूमि के रूप

में प्राप्त हुई है। हमारे पूर्वज पुरुष तेरी धरती पर ही उत्पन्न हुए, खेले, पले और बड़े हुए थे। उन्होंने बड़े हो कर बड़े-बड़े महान् कार्य किये थे। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करके आगे बढ़े थे। उनके महान कार्यों की संख्या नहीं है। उन्होंने अनगिनत ऊँचे और श्रेष्ठ कार्य किये थे। उनके महान् कार्यों की कीर्ति-कौमुदी आज भी धरती पर छटक रही है। वे अपने महान् कार्यों द्वारा इतिहास में अमर हो गये हैं। घर-घर में उनके नाम के गीत गाये जाते हैं। उन्होंने योग्यता, साधना और तपस्या द्वारा अपने आप को देवता बना लिया था। वे देव-पुरुष हो गये थे। यह देवत्व प्राप्त करके हमारे वे पूर्वज पुरुष चुप हो कर खाली नहीं बैठ गये थे। उन्होंने असुरों से लोहा लिया था। असुर-प्रकृति के नीच, अत्याचारी, दूसरों को सताने वाले और उनके अधिकारों को हड़पने वाले, आत-तायी, पापिष्ठ, अधार्मिक पुरुषों से उन्होंने युद्ध ठाना था। वे जीवन भर इस देवासुर संग्राम में जुटे रहे थे। और सदा असुरों को पराजित करते रहे थे। इन असुर प्रकृति के पुरुषों को पराजित करके वे हमारे पूर्वज देवपुरुष अपने राष्ट्र में सत्य का, न्याय का, धर्म का राज्य स्थापित करते रहे थे।

हे मां! हम भी उन्हीं अपने पूर्वज देवपुरुषों की सन्तानें हैं। इसका हमें अभिमान और गौरव है। हम भी उन अपने पूर्वजों की अनुरूप सन्तान बनेंगे। हम भी महान् बनेंगे। हम भी ऊँचे और श्रेष्ठ कार्य किया करेंगे। हम भी योग्यता, साधना और तपस्या द्वारा अपने को देवपुरुष बनायेंगे। और देव बन कर हम सदा असुरों से लोहा लिया करेंगे। हम असुर-प्रकृति के पुरुषों को सदा पराजित किया करेंगे। उनका पराजय करके अपने राष्ट्र में सदा हम सत्य का, न्याय का, और धर्म का राज्य स्थापित रखेंगे।'

हे मां! हमारे पूर्वजों और हमारे प्रयत्नों से तेरा यह राष्ट्र ऐसा बन गया है कि इसके नर-नारियों का तो कहना ही क्या, इसके गौ, घोड़े आदि पशु और पक्षी भी पूर्ण सुख से रहते हैं। उनके निवास का भी तू विशेष स्थान बन गई है। तेरी गौवें आनन्द से रंभाती रहती हैं, घोड़े हिनहिनाते रहते हैं और पक्षी चह-चहाते रहते हैं।

भांति-भांति के महान् कार्य करने वाले देवपुरुषों की निवास-भूमि और प्राणि-मात्र को सुख में रखने वाली हे मां! तू हमें ऐश्वर्य का प्रदान कर। सब प्रकार से हमें समृद्धिशाली बना। तू हमें तेज का प्रदान करके तेजस्वी बना। जिससे हमारा कभी कोई निरादर और अपमान न कर सके।

मन्त्र में ऐश्वर्य के लिए 'भग' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः भग का अर्थ केवल धनादि ऐश्वर्य ही नहीं होता। इस शब्द के कोशकारों ने छः अर्थ किये हैं।

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः, ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा"— अर्थात् सब प्रकार के धनादि भौतिक ऐश्वर्य को, धर्म को, यश को, शोभा को, ज्ञान को और वैराग्य को, इन छः को भग कहते हैं। हमारे जीवन में अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए धन की कमी न हो। हमारा जीवन धार्मिक हो—न्याय, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दया, ईश्वर-भक्ति आदि धार्मिक तत्त्वों के अनुसार वह चलता हो। हमारे जीवन में यश हो—हम ऐसे अच्छे कार्य करते हों कि उनसे हमारी कीर्ति दूर-दूर तक सुनाई देती हो। हमारे जीवन में शोभा हो—हमारा शरीर, वस्त्र और रहने के स्थान सब सात्त्विक सुन्दरता रखने वाले हों। हमारे जीवन में ज्ञान की कमी न हो—हमें अनेक विद्या-विज्ञान आते हों जिससे खरे-खोटे और भले-बुरे का विवेक कर सकें और विभिन्न पदार्थों का सही उपयोग ले सकें। हमारे जीवन में वैराग्य भी हो—हम सांसारिक ऐश्वर्य से उचित उपयोग तो लें पर उसमें लिप्त न हों, तन्मय न हो जायें, उसे भोगते हुए भी उससे ऊपर रहें, ऐश्वर्य हमारे वश में हो, हम ऐश्वर्य के वश में न हों, हम ऐश्वर्य कमा कर उसे छोड़ भी सकते हों, सत्कार्यों में उसका त्याग भी कर सकते हों। ऐसा हमारा जीवन होना चाहिये। यह सर्वांगपूर्ण जीवन 'भग' का जीवन कहलायेगा। किसी राष्ट्र के लोगों के जीवन का आदर्श क्या होना चाहिए यह इस भग शब्द के द्वारा बड़े मार्मिक रूप में सूचित कर दिया गया है।

'वयस्' शब्द का अर्थ पक्षी भी होता है और अन्न[1] भी। अन्न अर्थ में भाव यह होगा कि जो हमारी मातृभूमि भांति-भांति के अन्नों का विशेष रूप से रहने का स्थान है। जिसमें तरह-तरह के अन्न विशेष रूप से और विशेष योग्यता के साथ उपजाये जाते हैं। जिस से राष्ट्र का कोई भी प्राणी भूख से पीड़ित न हो सके।

मातृभूमि की महिमा के इस गान द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्रों की सदा ऐसी व्यवस्था रहनी चाहिये कि उनमें देवपुरुषों की परम्परा चलती रहे। उनके निवासी सदा महान् कार्य करने वाले होते रहें। उनमें देवपुरुषों द्वारा, अच्छे लोगों द्वारा, सदा असुर-पुरुषों का—बुरे लोगों का—पराभव होते रहना चाहिये। राष्ट्र के दुष्ट पुरुष सदा दमन किये जाते रहने चाहियें। राष्ट्र तभी उन्नति

१. वयः अन्न नाम। निघं० २।७॥ मन्त्र में 'वयसः' पद षष्ठी विभक्ति का एकवचनान्त है। यहां 'गवाम्' और 'अश्वानाम्' के साहचर्य से बहुवचन के स्थान में एकवचन समझना चाहिये। और अर्थ करते हुए 'वयसः' को 'वयसाम्' समझना चाहिये।

कर सकेगा। राष्ट्र में सब प्राणियों के सुख और आनन्द की व्यवस्था रहनी चाहिये। ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को 'भग' शब्द से सूचित होने वाला छहों प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त हो सके।

६
वैश्वानर अग्नि वाली मातृभूमि

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु॥

अर्थ—(विश्वम्भरा) सब का भरण-पोषण करने वाली अथवा सब को अपने ऊपर धारण करने वाली (वसुधानी) सब प्रकार के ऐश्वर्य को अपने में धारण करने वाली (प्रतिष्ठा) सब का आधार, सब को आश्रय और प्रतिष्ठा देने वाली (हिरण्यवक्षाः) सुवर्ण को अथवा हितकारी और रमणीय पदार्थों को अपने वक्षःस्थल में रखने वाली (जगतः) सब जगत् को (निवेशनी) अपने में बसाने वाली अथवा कल्याण में प्रविष्ट कराने वाली (वैश्वानरम्) सब लोगों के हितकारी (अग्निम्) अग्नि को (बिभ्रती) अपने में रखने वाली (इन्द्रऋषभा , इन्द्र अर्थात् चुना हुआ सम्राट् है अधिपति जिसका ऐसी (भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (नः) हमें (द्रविणे) बल और धन में (दधातु) धारण करे—इनका प्रदान करे।

हे हमारी मातृभूमि! हम कहां तक तेरी महिमा का बखान करें! तेरी महिमा निराली है। तू विश्वम्भरा है। तू सब का भरण और पोषण करती है और सब को अपने ऊपर धारण करती है। राष्ट्र के सब नर-नारी, सब पशु और पक्षी, सब कीट-पतंग तथा सब वनस्पति तुझ पर ही तो टिके हुए हैं और तू ही तो इन सब को इनकी अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुसार भरण-पोषण देती है। तू वसुधानी है। सब प्रकार का वसु—सब प्रकार का धन—तेरे भीतर विद्यमान है। हमारे इच्छा करने की देर है, हमारे इच्छा करते ही तू हमारे लिये सैंकड़ों प्रकार का धन उगलने लग जाती है।

तू हम सब की प्रतिष्ठा है। तू हम सब का आधार है, हम सब को आश्रय देती है। हम सब तेरे आधार पर, तेरे आसरे पर ही टिके हुए हैं। तू हमें प्रतिष्ठा देने के कारण भी प्रतिष्ठा है। तेरे कारण ही हमारे राष्ट्र के निवासियों की दूसरे राष्ट्रों के लोगों में प्रतिष्ठा है—इज्जत है, आदर है, सत्कार है। जिनकी कोई मातृभूमि नहीं होती उनकी कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं होती। तेरे कारण हमारी सर्वत्र प्रतिष्ठा है।

तू हिरण्यवक्षाः[1] है। तेरे वक्षःस्थल में, तेरी छाती में हिरण्य, भरा हुआ है। तेरे भीतर हिरण्य अर्थात् सोना भरा हुआ है और सोने जैसे हितकारी और रमणीय अन्य अनेक पदार्थ भरे हुए हैं। तेरी खानों में सोना है, चान्दी है, लोहा है, ताम्बा है, हीरे हैं और न जाने अन्य कितने बहुमूल्य पदार्थ तेरी विशाल छाती में भरे हुए हैं।

इस प्रकार तू भांति-भांति से सब जगत् को अपने में बसा रही है। तेरे अन्दर जड़ जगत् भी बसता है और प्राणि-जगत् भी। जड़ जगत् की सहायता से तू अपने प्राणि-जगत् का अनेक प्रकार के कल्याण में प्रवेश कराती है—उसे अनेक प्रकार का सुख-मंगल प्रदान करती है। इस प्रकार तू बसाने और सुख देने के कारण, दोनों प्रकार से, जगत् की निवेशनी है।

हे मातृभूमि! तू अपने भीतर वैश्वानर[2] अग्नि को धारण करती है। तेरे अन्दर सब लोगों का हितकारी अग्नि रहता है। सृष्टि के आरम्भकाल से तेरे गर्भ में अग्नि चला आ रहा है— गरमी चली आ रही है। तेरे अन्दर विद्यमान इस गरमी के कारण ही तेरे ऊपर सब मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग और वनस्पति उत्पन्न हो रहे और जी रहे हैं। यदि तेरे अन्दर सबका हित करने वाली, सबको जीवन देने वाली, यह गरमी न होती, तू सर्वथा ठण्डी होती, तो तेरे ऊपर कोई भी प्राणी और वनस्पति उत्पन्न नहीं हो सकता था और जीवित नहीं रह सकता था। सबकी हितकारी इस गरमी के कारण तू वैश्वानर अग्नि वाली है।

संकल्प को भी अग्नि[3] कहते हैं। प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक विशेष संकल्प होता है, अपने एक विशेष प्रकार के विचार होते हैं, अपना एक विशेष प्रकार का चिन्तन होता है, जीवन के प्रति अपना एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण होता है और संसार को देने के लिए अपना एक विशेष संदेश होता है। राष्ट्र

---

१. हिरण्यम् हितरमणं भवतीति वा हृदयरमणं भवतीति वा। निरु० २।१०॥ हितकरं रमणीयञ्च सुवर्णरजतादिधनम्। हिरण्यं वक्षसि यस्याः सा हिरण्यवक्षाः।

२. विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि। निरु० ७।२१।२३॥ विश्वान = सर्वाणि भूतानि अरः गतः प्राप्तः विश्वानरः सर्वहितकारी। विश्वानर एव वैश्वानरः। यद्वा विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितः वैश्वानरः। हितार्थे ताद्धितः अण् प्रत्ययः। विश्वेषां नराणां हितकारकः (दयानन्दः ऋग्० ६।७।७ भाष्ये)।

३. आकूतिरग्निः। यजुः ११।६६। आकूतिः संकल्पः

का अपना यह संकल्प ही उसकी अपनी विशेष प्रकार की संस्कृति का निर्माण करने वाला होता है। इस अपने विशेष संकल्प और तज्जनित अपनी विशेष संस्कृति के कारण ही कोई राष्ट्र अपने विशिष्ट रूप में जीवित रहता है। जिस राष्ट्र का अपना कोई विशेष संकल्प नहीं होता और तज्जनित उसकी अपनी कोई विशेष संस्कृति नहीं होती वह अपने रूप में जीवित नहीं रहता। हमारे राष्ट्र का अपना एक विशेष संकल्प है और तज्जनित उसकी अपनी एक विशेष संस्कृति है। जिसके कारण हमारा राष्ट्र अपने रूप में जीवित है। राष्ट्रिय जीवन का साधन होने के कारण यह हमारा विशिष्ट राष्ट्रिय संकल्प वैश्वानर अग्नि है। इस कारण से भी तू वैश्वानर अग्नि वाली है।

ब्राह्मण को भी अग्नि[1] कहते हैं। जो लोग भांति-भांति के ज्ञान का निःस्वार्थ उपार्जन और प्रसार अपने जीवन का उद्देश्य बना लेते हैं, जो स्वेच्छा से तपस्या और त्याग का जीवन व्यतीत करते हैं, ब्रह्मचर्य और संयम जिनके जीवन का अंग बन जाता है, सत्य, न्याय, अहिंसा, दया और परोपकार जिनके जीवन के प्राण हो जाते हैं—उन तत्त्वदर्शी विद्वानों को ब्राह्मण कहते हैं। ऐसे तत्त्वदर्शी ब्राह्मण लोग निःस्वार्थ भाव से ज्ञान के आविष्कार और प्रसार तथा सत्यधर्मोपदेश द्वारा राष्ट्र की रक्षा करते हैं। इस प्रकार राष्ट्र के परम हितकारी होने के कारण ब्राह्मण लोग भी वैश्वानर अग्नि हैं। हे मातृभूमि! तू इस दृष्टि से भी वैश्वानर अग्नि वाली है।

परमात्मा को भी अग्नि[2] कहते हैं। वह तो सब विश्वब्रह्माण्ड का निर्माता और रक्षक होने के कारण सब का हितकारी, वैश्वानर, है ही। हमारे राष्ट्र में यह वैश्वानर अग्नि भी विद्यमान है। हमारे राष्ट्र के सब निवासी ईश्वर-विश्वासी हैं। ईश्वर-विश्वास के कारण उनके जीवन में आध्यात्मिकता का निवास है। यह ईश्वर-विश्वास और आध्यात्मिकता हमारे राष्ट्र के लोगों के जीवन को पवित्र रखते हैं, शान्त, सन्तुष्ट, गम्भीर और उदार रखते हैं, सच्चे अर्थों में धर्मपरायण रखते हैं, प्राणिमात्र को ईश्वर की सन्तान समझ कर अपना भाई समझते हुए उनके प्रति प्रेम, सहानुभूति और सहायता की वृत्ति हमारे राष्ट्र के लोगों में उत्पन्न करते हैं, राष्ट्र के लोगों को सत्य, न्याय और अहिंसा-परायण बनाते हैं तथा उनमें अधर्म और अन्याय का निडर होकर प्रतिरोध करने की शक्ति पैदा

---

१. ब्रह्म वा अग्निः। श० २।५।४।८॥ ब्रह्म वै ब्राह्मणः। श० १३।१।५।३॥

२. अग्निरेव ब्रह्म। श० १०।४।१।५॥ ब्रह्म ह्यग्निः। श० १।५।१।११॥ आत्मा वा अग्नि.। श० ७।३।१।२॥ ब्रह्म वै प्रजापति॥ श० १३।६।२।८॥

करते हैं। इसप्रकार हमारे राष्ट्र के लोगों का ईश्वर-विश्वास और उनकी आध्यात्मिकता उनकी उन्नति में परम सहायक होते हैं। जिन राष्ट्रों के लोगों में ईश्वर-विश्वास और अध्यात्मिकता नहीं रहती वे परस्पर लड़-झगड़ कर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। हमारे राष्ट्र की तो उसके निवासियों का ईश्वर-विश्वास और आध्यात्मिकता पूर्ण रक्षा कर रहे हैं। हम सब राष्ट्र-निवासी ईश्वर-भक्त हैं इस हेतु से भी हे हमारी मातृभूमि ! तू वैश्वानर अग्नि वाली है।

हे मातृभूमि ! तू 'इन्द्रऋषभा' है। इन्द्र तेरा ऋषभ[1] अर्थात् अधिपति है। इन्द्र[2] का अर्थ सूर्य भी होता है। सूर्य अपना प्रकाश और गरमी देकर तेरी रक्षा कर रहा है। तू सूर्य के चारों ओर निरन्तर प्रदक्षिणा करती रहती हैं जिससे तेरी छहों ऋतुएँ बनती हैं। तेरे द्वारा सूर्य की प्रदक्षिणा से बनने वाली तेरी छहों ऋतुओं में सूर्य से प्राप्त होने वाले प्रकाश और गरमी के कारण अनेक प्रकार के अन्न, वनस्पति और ओषधियें तेरे ऊपर उत्पन्न होती हैं जिनके सेवन से तेरे ऊपर बसने वाले प्राणियों की जीवन-यात्रा चलती है। इस प्रकार सूर्य तेरा अधिपति है—रक्षक और पालक है। इस हेतु से हे मातृभूमि ! तू इन्द्र-ऋषभा है।

इन्द्र[3] सम्राट् को भी कहते हैं। प्रजाओं द्वारा चुना हुआ योग्य सम्राट् सदा हमारे राष्ट्र का हितचिन्तन और रक्षण करता रहता है। उत्तम सम्राट्

१. एतद्वा इन्द्रस्य रूपं यदृषभः । श० २ । ५ । ३ । १८ ॥ इन्द्रपदञ्च प्रजानामधिपतेः सम्राजोऽपि वाचकम्। अतः ऋषभपदस्यापि अधिपतिवाचकत्वं युज्यते। ऋषभो वै पशूनामधिपतिः । तां० १६ । १२ । ३ ॥ ऋषभः श्रेष्ठः । अमरकोशः । ऋषेः गत्यर्थात् औणादिकः अभच् प्रत्ययः (उणा० ३ । १२३)।
२. अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः । श० ८ । ५ । ३ । २ ॥
३. इन्द्रश्च सम्राट् । यजुः० ८।३७॥ इन्द्रः क्षत्रम् । श० १०।४।१।५॥ इन्द्रो देवानामधिपतिः । तै० २ । २ । १० । ३ ॥ सेना इन्द्रस्य पत्नी । गो०उ० २ । ६ ॥ सेनायाः पतिरिन्द्रः सम्राडेव। इन्द्रः समर्थो राजा, परमैश्वर्ययुक्तः सम्राट् (दयानन्दः ऋग्० ७ । ३२ । १२ भाष्ये ऋग्० १ । १६७ । १ भाष्ये च)। "राष्ट्रस्यैतत्कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम्, अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत" इत्यत्र महा० शान्तिपर्वणि ६७।२ श्लोके इन्द्रपदेन निर्विवादं राज्ञो ग्रहणं भवति। महाभारतस्य टीकाकारः नीलकण्ठोऽपि अत्र श्लोके इन्द्रशब्दस्य राजा इत्येवार्थं करोति। This Indra=This King (Griffith अथर्व० १६।२४।२) ग्रिफिथ। A lord or ruler (as of men etc.). (आप्टेकोश)

और उसके उत्तम राज्य-प्रबन्ध द्वारा शासित और पालित-पोषित तथा रक्षित होने के कारण भी हे मातृभूमि ! तू इन्द्रऋषभा है।

इन्द्र आत्मा[1] और परमात्मा[2] को भी कहते हैं। हमारे राष्ट्र के लोग आत्मा वाले हैं। वे अपने आत्मा का सदा ध्यान रखते हैं। वे अपने आत्मा को कभी पतित नहीं होने देते। वे निकृष्ट काम करके अपने आत्मा का कभी हनन नहीं करते। वे अपने आत्मा को सदा ऊंचा, सदा पवित्र रखते हैं। वे अपने आत्मा को निर्बल नहीं होने देते। वे सदा उसे बलवान् रखते हैं। ऐसे आत्मवान लोगों के कारण हमारा राष्ट्र सदा उन्नति के पथ पर आरूढ़ रहता है। परमात्मा का विश्वास भी हमारे राष्ट्र के लोगों में भर-पूर है। यह ईश्वर-विश्वास उन्हें सदा पवित्रता, महत्ता और उदात्तता की ओर प्रेरित करता है। इस प्रकार हमारे राष्ट्र के लोग आत्मा और परमात्मा के ज्ञानी और विश्वासी होने के कारण पूर्ण रूप से आध्यात्मिक हैं और उनकी यह आध्यात्मिकता हमारे राष्ट्र को सदा उन्नत रखती है। आत्म-परमात्म-ज्ञान से प्राप्त होने वाली यह आध्यात्मिकता तेरी रक्षिका और पालिका होने की दृष्टि से भी हे हमारी मातृभूमि ! तू इन्द्रऋषभा है।

हे ऐसे गुणों वाली हमारी मां ! तू हम राष्ट्र-निवासियों को सदा द्रविण[3] प्रदान करती रह। हमें बल-रूप द्रविण भी देती रह और धन-रूप द्रविण भी। हम सदा बलवान्, स्वस्थ और शक्ति-सम्पन्न रहें और हमारे पास जीवन-यात्रा के सुख-पूर्वक यापन के लिए आवश्यक धन-सम्पति की भी कभी कमी न रहे।

इस प्रकार भक्त के मुख से मातृभूमि की महिमा का गान कराके वेद ने आदर्श राज्य का चित्र खेंच दिया है और यह उपदेश दिया है कि यदि हम प्रतिष्ठा चाहते हैं तो हमारी कोई मातृभूमि अवश्य रहनी चाहिये। हमें अपने राष्ट्र की भूमि के पृष्ठ और गर्भ से प्राप्त होने वाले सब प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त करना

१. इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिति (अष्टा० ५।२।९३) सूत्रे इन्द्र आत्मा इति काशिकायाम् सिद्धान्तकौमुद्यां च। The human or animal soul (आप्टेकोश)।

२. तस्मादाह इन्द्रो ब्रह्मेति। कौ० ६।१४॥ इन्द्रः परमेश्वरः (दयानन्दः ऋग्० १।३।४ भाष्ये)। इन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादिमन्त्रे (ऋग्० १।१६४।४६) तदेवाग्निस्तदादित्य इत्यादिमन्त्रे (यजुः० ३२।१) च इन्द्रादीनि नामानि परब्रह्मणः परमेश्वरस्यैवोच्यन्ते।

३. द्रविणं धननाम। निघं० २।१०॥ धनं द्रविणमुच्यते। बलं वा द्रविणम्। निरु० ८।१॥

चाहिये। फिर उस ऐश्वर्य का विभाजन इस प्रकार करना चाहिये कि सब को यथोचित भरण-पोषण मिल सके और हमारी मातृभूमि विश्वम्भरा कही जा सके। राष्ट्र की आदर्श उन्नति के लिए राष्ट्र के लोगों को वैश्वानर अग्नि का उपासक होना चाहिए और इन्द्र-तत्त्व को अपना अधिपति बनाना चाहिये।

७

सदा जागरूक रहने वाले राष्ट्र-निवासी

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥

अर्थ—(याम्) जिस (पृथिवीम्) विस्तार और ख्याति देने वाली (भूमिम्) मातृभूमि की (विश्वदानीम्) सदा (अस्वप्नाः) जागरूक रहने वाले (देवाः) विविध व्यवहारों में कुशल विद्वान् प्रजाजन (अप्रमादम्) प्रमादरहित होकर (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं (सा) वह हमारी मातृभूमि (नः) हमारे लिये (प्रियम्) प्रिय (मधु) मधु को (दुहाम्) दुहा करे—पूर्ण-रूप से दिया करे (अथो) और हमें (वर्चसा) तेज से (उक्षतु) सिक्त करे अथवा वृद्धि प्रदान करे।

हे हमारी मातृभूमि! हमारे राष्ट्र के प्रजाजन देव[1] हैं—विविध व्यवहारों में कुशल और अनेक विद्याओं को जानने वाले विद्वान् लोग हैं। वे अपने व्यवहार-कौशल और विद्या-ज्ञान से सदा तेरी रक्षा करते रहते हैं। तेरी रक्षा के कार्य में वे सदा अस्वप्न रहते हैं, कभी सोते नहीं, सदा जागरूक रहते हैं। निर्निमेष-भाव से जागते रह कर वे सदा तेरी रक्षा करते हैं। तेरी रक्षा के कार्य में वे कभी प्रमाद नहीं आने देते, कभी उपेक्षा, लापरवाही, सुस्ती और ढीलापन नहीं आने देते। सदा चौकन्ने, चुस्त और तत्पर रह कर एकाग्र भाव से वे तेरी रक्षा करते हैं।

अपनी इस साधना द्वारा वे तुझे "पृथिवी[2]" बना डालते हैं—विस्तार और

---

१. दीव्यन्ति विविधं व्यवहरन्ति इति देवा व्यवहारकुशलाः प्रजाः। दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु। विद्वांसो हि देवाः। श० ३। ७। ३। १०॥ दिव्यगुणसम्पन्नो विद्वान्। सर्वव्यवहारसाधकः। (दयानन्दः ऋग्० १। ६८। १ भाष्ये॥ ऋग्० १। ३५। १० भाष्ये च)।

२. प्रथते विस्तृणाति ख्यापयति च इति पृथिवी। प्रथ प्रख्याने। प्रख्यानं विस्तारः ख्यातिश्च। प्रथेः औणादिकः षिवन् प्रत्ययः संप्रसारणञ्च (उणादि० १। १५०)।

ख्याति देने वाली बना डालते हैं। अपने व्यवहार-कौशल और विद्या-ज्ञान से वे अपने राष्ट्र की ऐसी उत्तम व्यवस्था कर लेते हैं कि उसके प्रत्येक व्यक्ति को विस्तार और ख्याति प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति उन्नति करके अपने आप को बड़े से बड़ा, महान् से महान्, बना सकता है और इस प्रकार खूब ख्याति, खूब यश और प्रसिद्धि प्राप्त कर सकता है।

ऐसे देवपुरुषों द्वारा रक्षित हे हमारी मातृभूमि! तू हम सब के लिए हमारे प्रिय मधु का दोहन[1] कर—पूर्ण रूप से प्रदान कर। हम में से प्रत्येक प्रजाजन की जिस मधु के लिये रुचि है तू उसे प्रदान कर। जीवन को सुखी, मंगलमय और मधुर बनाने वाले जिस-जिस पदार्थ की उसे इच्छा हो तू उसे प्रदान कर। न केवल हमारे राष्ट्र के लोगों के जीवन को तू मधुमय, सुख-मंगल से परिपूर्ण ही बना अपितु तू हमें तेज से भी उक्षित[2] कर दे, हमारे जीवनों में तू तेज भी सींच डाल—हमें तेजस्वी भी बना दे। और इस प्रकार हमें तेजस्वी बना कर हमारी वृद्धि कर। हमारे जीवन में मधु और तेज दोनों का सामञ्जस्य रहे ऐसी स्थिति हे मां! तू हमारी कर दे।

मातृभूमि के इस वर्णन और उससे इस प्रार्थना द्वारा वेद ने एक प्रकार से यह उपदेश दिया है कि जो लोग यह चाहते हैं कि उनका राष्ट्र उन्हें भांति-भांति के मधु प्रदान करे, भांति-भांति के सुख-मंगल और समृद्धि दे तथा उनके जीवनों को तेजस्वी और प्रतापी बनाता रहे, उन्हें चाहिये कि वे अपने आपको देव बनायें—विविध-व्यवहार-कुशल और भांति भांति के विद्या-विज्ञानों का ज्ञाता बनायें तथा अपने इस व्यवहार-कौशल और विद्याबल से जागरूक और प्रमाद-रहित होकर अपने राष्ट्र की रक्षा में तत्पर रहें।

भूमि का विशेषण होने के कारण यहां पृथिवी पद का यौगिक अर्थ ले लिया गया है।

१. दुहाम्=दुग्धाम्। दोहन करे। दुह प्रपूरणे। वेद में दुह धातु प्रायः पूरण करने, भरने, अर्थ में आता है। पीछे यह धातु लोक में प्रसिद्ध दुहने अर्थ में रूढ़ हो गया।

२. उक्ष सेचने। उक्षतिः वृद्धिकर्मा। निरु० १२। ६॥ उक्षित महन्नाम। निघण्टु ३। ३॥

सत्य से अनुप्राणित अमर आध्यात्मिक संस्कृति वाली मातृभूमि

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥

अर्थ— (या) जो (अग्रे) पहले (अर्णवे) समुद्र में (अधिसलिलम्) जल में (आसीत्) थी (यां) जिसकी (मनीषिणः) बुद्धिमान् लोग (मायाभिः) अपनी कौशलयुक्त बुद्धियों से (अन्वचरन्) सेवा करते हैं (यस्याः) जिस (पृथिव्याः) हमारा विस्तार करने वाली और हमें ख्याति देने वाली हमारी मातृभूमि का (अमृतं) अमर (हृदयम्) हृदय (परमे व्योमन्) परम रक्षक और आकाश की भांति परम व्यापक परमात्मा में (सत्येन) सत्य से (आवृतम्) ढका हुआ है (सा) वह (भूमिः) हमारी मातृभूमि (नः) हमारे (उत्तमे) उत्तम (राष्ट्रे) राष्ट्र में (त्विषिम्) दीप्त तेज को और (बलम्) बल को (दधातु) धारण करे—प्रदान करे।

हमारे राष्ट्र की यह भूमि पहले समुद्र के जल में निमग्न थी। पीछे समुद्र का जल उतर कर परे हट जाने पर यह उस जल से बाहर निकल आई। इस प्रकार देखें तो यह हमारी मातृभूमि जल से निकली हुई मट्टी का ढेर ही तो है। परन्तु जब बुद्धिमान् लोग इस की परिचर्या करते हैं तो यह मातृभूमि का रूप धारण कर लेती है। जब किसी एक भूखण्ड पर उत्पन्न हुए लोग परस्पर को अपना भाई समझ कर प्रेम से मिल कर रहने लगते हैं, एक दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगते हैं तथा एक दूसरे के सुख को बढ़ाने और दुःख को कम करने और दूर करने का प्रयत्न करने लगते हैं, जैसे कि एक माता के पेट से उत्पन्न भाई परस्पर के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझ कर परस्पर के सुख की वृद्धि और दुःख की हानि करने में लगे रहते हैं, तब वह भूखण्ड उन लोगों की मातृभूमि बन जाता है और वे लोग उसके पुत्र हो जाते हैं। हमारे राष्ट्र के लोगों ने इसी प्रकार अपनी भूमि को मातृभूमि बनाया है। वे स्वयं उसके पुत्र बन कर परस्पर में भाई-भाई बन गये हैं। वे एक दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझ कर सब के सुख को बढ़ाने और दुःख को दूर करने की चेष्टा करते हैं। वे इस चेष्टा में अपनी सारी

माया'—अपनी सारी कौशलमयी बुद्धि—लगा देते हैं। वे एक दूसरे को सुखी बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ते, कोई प्रयत्न बचा कर नहीं रखते। इस कार्य में सर्वात्मना लग जाते हैं। इस प्रकार एक दूसरे की परिचर्या, एक दूसरे की सेवा, द्वारा वे मातृभूमि के पुत्र अपनी उस माता की परिचर्या–सेवा–करते हैं। और इस भावना द्वारा वे समुद्र के जल से निकली हुई मट्टी के ढेर, अपने राष्ट्र के उस भूखण्ड में मातृभूमित्व का आरोप कर देते हैं—उस भूमि को सचमुच की माता बना देते हैं।

अपनी इस मातृभूमि की विभूति का हम क्या वर्णन करें! इसका अमर हृदय सदा सत्य से आवृत रहता है, सत्य से ढका रहता है, और परम व्योम—परमाकाश—में आश्रित रहता है। राष्ट्रों की संस्कृति ही उनका हृदय होती है। संस्कृति से सूचित होने वाले उन के संकल्प, उनके ध्येय और आदर्श, जीवन के विभिन्न पहलुओं के प्रति उनके दृष्टिकोण और इनके अनुसार अपने दैनिक जीवन को ढालने के उनके व्यावहारिक प्रयत्न ही राष्ट्रों का हृदय होते हैं। और जब उनकी संस्कृति धारावाही रूप में निरन्तर प्रवाहित होती रहती है, जब वह संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में निरन्तर परम्परा-रूप से चलती रहती है, तब राष्ट्रों का हृदय भी अमर हो जाता है। राष्ट्र के निवासी तो आते-जाते, उत्पन्न होते और मरते रहते हैं, वे स्थिर नहीं रहते, पर राष्ट्र की संस्कृति पीढ़ी से पीढ़ी में उसी रूप में चलती है, स्थिर रहती है, राष्ट्र-निवासियों के मरते रहने पर भी वह अमर रहती है।

संस्कृति की यह स्थिरता, यह अमरता, सत्य पर अवलम्बित रहती है। किसी राष्ट्र की संस्कृति में जितना सत्य होगा उसकी स्थिरता, उसकी अमरता, उसके जीवन की दीर्घता भी उसी के अनुसार होगी। जिस संस्कृति में सत्य कम होगा उसकी स्थिरता भी कम होगी और जिस संस्कृति में सत्य अधिक होगा उस की स्थिरता भी अधिक होगी। राष्ट्र का संस्कृति-रूप हृदय जितना अधिक सत्य से आवृत रहेगा उतना ही अधिक अमर वह हो जायेगा।

राष्ट्र के संस्कृति-रूप हृदय को सत्य से आवृत होने के लिये, सत्य में ओत-प्रोत और सत्यमय होने के लिये, आवश्यक है कि वह परम व्योम परमात्मा में आश्रित रहे—वह ईश्वर-विश्वास और तज्जन्य गहरी आध्यात्मिकता की भावना

१. माया प्रज्ञानाम। निघं० ३।६॥ निरु० ७।२७॥ Extra-ordinary power, wisdom. (आप्टे कोश)

से अनुप्राणित रहे। व्योम[1] का शब्दार्थ रक्षा करने वाला होता है। परमात्मा से बढ़ कर कोई और रक्षक नहीं है। वे सब से बड़े रक्षक हैं—परम व्योम हैं। व्योम आकाश को भी कहते हैं। इस अर्थ के आधार पर यहां यह शब्द आकाश की भांति व्यापक परमात्मा का वाचक होगा। इस प्रकार परमात्मा रक्षक भी हैं और आकाश की भांति सर्वत्र व्यापक भी। परमात्मा से प्राप्त होने वाली रक्षा किसी एक स्थान तक ही सीमित नहीं है। आकाश की भांति, और उससे भी अधिक, व्यापक परमाकाश परमात्मा की रक्षा तो सर्वत्र प्राप्त होती है। परम व्यापक और परम रक्षक परमात्मा का पल्ला पकड़ने पर ही किसी संस्कृति की रक्षा हो सकती है, उसमें स्थिरता आ सकती है, वह अमर बन सकती है। परमात्मा को शास्त्र में अन्यत्र सत्यस्वरूप भी कहा है। परमात्मा सत्यस्वरूप हैं—उनमें पूर्ण सत्य है, वहां सत्य की पराकाष्ठा हो गई है। ऐसे सत्यस्वरूप परमात्मा का आसरा लेने पर ही—उसमें श्रद्धा, भक्ति और गहरा विश्वास और तज्जनित आध्यात्मिकता से अनुप्राणित होने पर ही संस्कृति में सत्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो सकती है। किसी राष्ट्र के संस्कृति-रूप हृदय में परमात्मा का जितना अधिक निवास होगा, उसमें जितनी अधिक आध्यात्मिकता होगी, उतना ही अधिक उसमें सत्य रहेगा, उतनी ही अधिक उसमें स्थिरता रहेगी, उतना ही अधिक वह अमर बन सकेगा और उतना ही अधिक वह अपने राष्ट्र और धरती के अन्य राष्ट्रों के निवासियों का कल्याण कर सकेगा। ऐसी संस्कृति पर परमात्मा की कृपा बरसती है और उस कृपा के कारण वह अमर हो जाती है।

हे हमारी मातृभूमि! तेरा हृदय भी, तेरी संस्कृति भी, सत्य से आवृत है, सत्य से अनुप्राणित है, और उसमें परमात्मा का निवास है। और इस प्रकार तेरा वह संस्कृति-रूप हृदय अमर हो गया है। तेरी वह संस्कृति परम्परा से हमारे राष्ट्र में प्रवाहित होती चली आ रही है। इस सत्य से आवृत और आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत संस्कृति की अधिष्ठात्री होने के कारण हे मां! तू हमारे लिए पृथिवी बन गई है, हमारा विस्तार करने वाली और हमें ख्याति देने वाली बन गई है। तेरी इस पवित्र और उदात्त भावनाओं वाली संस्कृति के कारण हमारा सब दिशाओं में खूब विस्तार हो रहा है और हमें प्रचुर ख्याति—प्रसिद्धि और यश मिल रहा है।

---

१. विशेषेण अवति इति व्योम। अव रक्षणादिषु। व्योमन् व्यवने। निरु० ११। ४०॥ व्यवने विशेषेण रक्षके इत्यर्थः। व्योमवद् व्यापके सर्वरक्षादि-गुणान्विते ब्रह्मणि (दयानन्दः ऋग्० १। १४३। २ भाष्ये)।

ऐसी संस्कृति वाली हे मातृभूमि ! तू हमारे इस राष्ट्र को त्विषि[1] प्रदान कर—इसे प्रदीप्त तेजस्वी बना और सब प्रकार के बल, शक्ति और सामर्थ्य से युक्त इसे कर, जिससे इसके हम सब निवासी सब प्रकार की बुराइयों और विघ्न-बाधाओं का निर्भीक भाव से सामना करने वाले बन सकें। इस प्रकार हमारे राष्ट्र को सब दृष्टियों से उत्तम बना दे।

भक्त के मुख से मातृभूमि की महिमा के इस वर्णन द्वारा वेद ने आनुषङ्गिक रूप में मातृभूमि की भावना के दार्शनिक आधार का दिग्दर्शन कराते हुए यह बतलाया है कि कोई राष्ट्र अपने धारावाही सांस्कृतिक जीवन के रूप में ही अमर हो सकता है। इस सांस्कृतिक हृदय या जीवन को अमर बनाने के लिये राष्ट्र की संस्कृति सत्य एवं परमात्म-विश्वास और उससे आने वाली गहरी आध्यात्मिकता से अनुप्राणित रहनी चाहिये। ऐसी संस्कृति वाला राष्ट्र ही उत्तम राष्ट्र बन सकता है और उसी में सब प्रकार की बुराइयों और विघ्न-बाधाओं का प्रतिरोध करने वाला प्रदीप्त तेज और बल उत्पन्न हो सकता है।

९
मातृभूमि की नहरें

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥

अर्थ—(यस्याम्) जिसमें (परिचराः) सेवक हो कर चारों ओर बहने वाले, तथा (समानीः) समान-रूप से बहने वाले (आपः) जल (अहोरात्रे) दिन-रात (अप्रमादम्) प्रमादरहित हो कर (क्षरन्ति) बह रहे हैं (भूरिधारा) अनेक धाराओं वाली (सा) वह (भूमिः) हमारी मातृभूमि (नः) हमारे लिये (पयः) जल और दूध को (दुहाम्) दुहे, पूर्ण-रूप से प्रदान करे (अथो) और हमें (वर्चसा) तेज से (उक्षतु) सींचे और बढ़ावे।

हे हमारी मातृभूमि ! तेरे जलों की महिमा को देखो ! हमारे राष्ट्र के कुशल कारु लोग—इञ्जिनीयर लोग—राष्ट्र के झरनों, नदियों और वर्षा के जलों को यों ही व्यर्थ नहीं बह जाने देते। वे इनके जलों को रोक कर उनसे नहरें निकालते हैं। और इस प्रकार ऐसी व्यवस्था कर देते हैं जिससे ये जल हमारे

१. त्विष दीप्तौ। त्विषिः प्रदीप्तं तेजः। त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिर्नाम भवति। निरु० १।१७॥

सेवक होकर, समान-रूप से, बिना प्रमाद के, दिन-रात राष्ट्र में चारों ओर प्रवाहित होते रहते हैं। जब तक ये जल नहरों के रूप में नहीं लाये गये थे तब तक ये परिचर नहीं थे, राष्ट्र के सेवक नहीं थे, राष्ट्र को इन से लाभ नहीं पहुँचता था। ये परिचर अर्थात् सब ओर चलने वाले, राष्ट्र में सब जगह पहुंचने वाले, भी नहीं थे। किसी एक ओर बहते हुए निकल जाते थे। सब जगह के लोगों को इन से लाभ नहीं मिलता था। वे समानीः—समान रूप से बहने वाले भी नहीं थे। वे कभी तो बाढ़ के रूप में अतिशय मात्रा में बहने लगते थे और कभी उनकी धारा बिल्कुल पतली सी रह जाती थी। वे बिना प्रमाद के एकरस भी नहीं बहते थे। कभी तो सर्वथा ही सूख से जाते थे। और कभी बाढ़ के रूप में प्रदेश के प्रदेशों को डुबो कर नष्ट कर देते थे। अब हमारे राष्ट्र के कारु लोगों द्वारा नहरों में बांधे जा कर ये जल परिचर[१] हो गये हैं, राष्ट्र के सेवक हो गये हैं। नहरों की शाखा-प्रशाखायें राष्ट्र में चारों ओर चलाई गई हैं। उनमें बहने के कारण ये परिचर अर्थात् सब ओर जाने वाले भी बन गये हैं। ये समानीः हो गये हैं। शिल्पियों की इच्छानुसार दिन-रात समान-रूप से बहते हैं। और इस प्रकार प्रमाद-रहित हो कर, निरन्तर बहते हुए, राष्ट्र को जीवन प्रदान करते हैं। इन नहरों के कारण हमारी मातृभूमि भूरिधारा बन गई है—अनगिनत धाराओं वाली बन गई है।

इस प्रकार नहरों के जलों से परिषिक्त हे हमारी मातृभूमि! तू हमें जल के रूप में भी पय[२] प्रदान कर और दूध के रूप में भी पय प्रदान कर। इन नहरों के कारण तेरे निवासियों को कहीं भी किसी प्रकार का जल का अभाव क्लेशित न कर सके। और तेरी नहरों द्वारा सींची हुई खेतियों से प्राप्त होने वाले चारे को खा कर परिपुष्ट हुई गौओं का दूध भी हमें पीने को खूब मिले और खेतियों से उत्पन्न पय अर्थात् अन्न भी हमें खाने को खूब मिले। और इस प्रकार पीने को शुद्ध जल और पौष्टिक दूध तथा खाने को शक्तिदायक अन्न हमें प्रदान करके हे हमारी मातृभूमि! तू हमें तेजस्वी बना कर हमारी वृद्धि कर।

---

१. इस मन्त्र में आपः अर्थात् जलों के जो 'परिचर' आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं वे स्पष्ट सूचित करते हैं कि यहां जिन जलों का वर्णन है वे नहरों में बहने वाले जल हैं। ये परिचर आदि विशेषण प्राकृतिक नदियों में बहने वाले जलों पर संगत नहीं हो सकते। पाठक जलों के इन विशेषणों को ध्यान से देखें।

२. पयः उदकनाम। निघं० १।१२॥ अन्ननाम। निघं० २।७॥ पयः दुग्धम्। दुग्धं क्षीरं पयः समम् (अमरकोशः)।

मातृभूमि की महिमा के इस वर्णन और उससे की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र में नहरें खोदी जानी चाहियें और उनके द्वारा खेती की जानी चाहिये। इन खेतियों से गौवें पालनी चाहियें और उनका दूध पीना चाहिये। खेती द्वारा भांति-भांति के पौष्टिक अन्न उपजा कर उनका सेवन करना चाहिये। पौष्टिक दूध और अन्न के सेवन से हमें तेज प्राप्त होगा और हमारी वृद्धि होगी।

१०
देवों की कर्म-भूमि

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः॥

अर्थ—(याम्) जिसको (अश्विनौ) दोनों अश्वी (अमिमाताम्[1]) नापा करते हैं या निर्माण करते हैं (विष्णुः) विष्णु (यस्याम्) जिसमें (विचक्रमे) विचरण करता है (यां) जिसको (शचीपतिः) वाणी, कर्म और प्रज्ञा के धनी (इन्द्रः) इन्द्र ने (आत्मने) अपने लिये (अनमित्राम्) शत्रु-रहित (चक्रे) कर रखा है (सा) वह (भूमिः) हमारी मातृभूमि (मे) मुझ (पुत्राय) पुत्र के लिये (पयः) अन्न, दूध और जल (विसृजताम्) प्रदान करे।

हमारी मातृभूमि में देवता विचरण करते हैं। देखो, दोनों अश्वी देव हमारे राष्ट्र की इस भूमि को सदा नापते रहते हैं। वे विभिन्न दिशाओं में इसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ते रहते हैं और इस प्रकार इसे सदा मापते रहते हैं। वेद में अश्वी[2] यातायात और समाचार पहुंचाने वाले राजकीय विभागों के

---

१. माङ् धातु का नापना और निर्माण करना दोनों अर्थ होते हैं।

२. अश्विन् शब्द 'अशू व्याप्तौ' धातु से बनता है। अश्नुते व्याप्नोति इति अश्वी। जो किसी चीज में व्याप्त हो, लगा हो, रम रहा हो, वह अश्वी कहलायेगा। अश्विन् शब्द का द्विवचन अश्विनौ होता है। यास्काचार्य ने निरुक्त में अश्विन् शब्द को इसी अशू धातु से बना माना है। अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वम्। निरु० १२। १॥ शतपथ ब्राह्मण ने भी अश्विन् शब्द को इसी धातु से बना हुआ स्वीकार किया है। अश्विनौ इमे हीदं सर्वमाश्नुवाताम्। श० ४। १। ५। १६॥ निरुक्त और शतपथ ब्राह्मण की इन निरुक्तियों का अर्थ यही है कि

मुख्य अधिकारी या मन्त्री को कहते हैं। इन विभागों में दो प्रकार की गति हो रही होती है। एक गति तो वह है जिसमें पदार्थ और समाचार केंद्र से बाहर की ओर जा रहे होते हैं और दूसरी गति वह है जिसमें पदार्थ और समाचार बाहर से केंद्र की ओर आ रहे होते हैं। इस गति-द्वैध के कारण—इस दो प्रकार की गति के कारण इस विभाग के मुख्य अधिकारी में द्वैध की कल्पना करके अश्वी पद का अश्विनौ इस प्रकार द्विवचन में प्रयोग होता है। वेद में अश्वी पद और भी अनेक चीजों का वाचक है जिन के दो-दो के जोड़े होते हैं। इसलिये भी "अश्विनौ" यह द्विवचन का प्रयोग इस पद में रहता है। हमारे राष्ट्र के अश्वी अपने यातायात और समाचार पहुँचाने वाले विभागों द्वारा राष्ट्र के विभिन्न केन्द्रों से भांति-भांति के पदार्थों और समाचारों को केन्द्रों से दूर के स्थानों तक पहुंचाते रहते हैं और दूर के स्थानों से पदार्थों और समाचारों को केंद्र तक लाते रहते हैं। अपनी इस यातायात की गति द्वारा वे मानो सारे राष्ट्र को हर समय नापते रहते हैं। इस आलंकारिक रूप में ही नहीं, यातायात के मार्ग बनाने और निश्चित करने के लिये अश्वियों को राष्ट्र की भूमि वास्तव में भी मापनी पड़ती है। अपनी इस यातायात की क्रिया द्वारा हमारे राष्ट्र के ये अश्वी लोग राष्ट्र के एक भाग को दूसरे भाग से मिलाये रखते हैं, राष्ट्र के सब लोगों को उनकी आवश्यकता के पदार्थ और समाचार देते हैं, राष्ट्र के सब लोगों में एक-सूत्रता और आत्मीयता पैदा करते और इस प्रकार राष्ट्र की रक्षा तथा निर्माण करते हैं।

क्योंकि ये दोनों सब को व्याप्त करते हैं इसलिये अश्विनौ कहे जाते हैं। इस धात्वर्थ के आधार पर वेद में अश्विनौ के अनेक अर्थ होते हैं। प्रकरण-प्रकरण में आये हुए अश्विनौ के विशेषणों और वर्णित कार्यों के आधार पर निश्चय होता है कि किस प्रकरण में इस पद का क्या अर्थ करना है और किस प्रकरण में क्या। अधिराष्ट्र या राजनीति-सम्बन्धी अर्थ में अश्विनौ का अर्थ यातायात और समाचार पहुँचाने वाले विभागों (Communications Department) का मुख्य अधिकारी या मन्त्री होगा। इस पद का यह अर्थ कैसे होता है इस सम्बन्धमें हम अपने ग्रंथ "वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त" में विस्तार से विचार करेंगे। यहां उस विस्तार में जाने का स्थान और समय नहीं है। ऋषि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में एक स्थान पर अश्विनौ का अर्थ करते हुए लिखा है कि 'गमन-प्राप्ति-निमित्ते अश्विनौ गृह्येते" (ऋग्० १।३।१)। ऋषि के इस वाक्य में हमारे इस अर्थ की सूचना है। अपने इस अर्थ के लिये वेद के विशेष प्रमाण हम अपने उक्त ग्रंथ में देंगे।

अश्विनौ[1] का अर्थ नर-नारी भी होता है। हमारे राष्ट्र के नर-नारी अपनी मातृभूमि को सदा नापते रहते हैं। अपने विभिन्न प्रकार के कार्यों के सम्पादन के लिये वे इस भूमि पर सदा इधर से उधर फिरते रहते हैं और इस प्रकार वे मानो अपने पैरों से इस को हर समय नापते रहते हैं। इधर-उधर फिर कर वे जो भांति-भांति के व्यवसायों और व्यवहारों की सिद्धि करते हैं उसके द्वारा वे अपने राष्ट्र की रक्षा और निर्माण भी कर रहे होते हैं। प्रजा-जनों के विभिन्न प्रकार के व्यवसाय-व्यापारों के ऊपर ही तो राष्ट्र का जीवन अवलम्बित रहता है।

हमारे राष्ट्र में विष्णु भी विचरण करता है। वेद में विष्णु के भी अनेक अर्थ होते हैं। इसका एक अर्थ प्रधान मंत्री[2] भी होता है। हमारे राष्ट्र का प्रधान मन्त्री राष्ट्र के विभिन्न कार्यों को देखने के लिये उसमें सर्वत्र विचरण करता है, उसके सब स्थानों में पहुँचता है और राज्य की सारी व्यवस्था को ठीक रखता

---

१. इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ। श० ४। १। ५। १६॥ तत् कावश्विनौ द्यावापृथिव्यौ इत्येके। निरु० १२। १॥ इन स्थलों में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त ने अश्विनौ का अर्थ द्युलोक और पृथिवीलोक किया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों और वेद में द्युलोक और पृथिवीलोक का अर्थ पिता और माता, पति और पत्नी भी किया गया है। तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः। तै० २। ७। १६। ३॥ उपहूतो द्यौष्पिता। श० १। ८। १। ४१॥ द्यौरहं पृथिवी त्वम्। अथर्व० १४। २। ७१॥ अथर्ववेद का यह वाक्य विवाह-प्रकरण का है और वर द्वारा पत्नी को कहा जा रहा है। इसमें वर वधू से कहता है कि मैं पति 'द्यौ' हूँ और तू पत्नी 'पृथिवी' है। द्यौः पिता पृथिवी माता। अथर्व० २। ६। १॥ द्यौः पिता पृथिवी माता। अथर्व० ३। २३। ६॥ इस प्रकार अपने एक अर्थ में अश्विनौ=द्यावापृथिवी=पति-पत्नी या पितृशक्ति और मातृशक्ति के पर्यायवाची हो जाते हैं। इसलिये अश्विनौ का एक सामान्य अर्थ वेद में स्त्री और पुरुष भी होता है। सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ (दयानन्दः यजुः० ३८। १२ भाष्ये)। अश्विनौ के नर-नारी अर्थ में भी धात्वर्थ वही रहता है—विविध-व्यवहारेषु अश्नुवानौ व्याप्नुवन्तौ—विविध व्यवहारों में व्याप्त रहने वाले।
२. वेवेष्टि व्याप्नोति विविध-राजव्यवहारेषु इति विष्णुः। विष्लृ व्याप्तौ। विष्णु का अर्थ प्रधान मंत्री किस प्रकार होता है इस पर हम विस्तार से विचार अपने ग्रंथ "वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' में करेंगे। यहां पर इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करने का स्थान और समय नहीं है।

है। "वि" उपसर्गपूर्वक "क्रम" धातु का अर्थ विक्रम के कार्य करना भी होता है। हमारे राष्ट्र का प्रधानमन्त्री अपने सम्राट् के साथ मिल कर अनेक प्रकार के विक्रम के, वीरता और बहादुरी के, कार्य करता है। इस प्रकार हमारा प्रधानमन्त्री भी हर समय अपने राष्ट्र की उन्नति के साधनों में लगा रहता है।

विष्णु[१] का शब्दार्थ होता है विविध प्रकार के कामों में व्याप्त रहने वाला। इस शब्दार्थ को ध्यान में रख कर इस पद का एक सामान्य अर्थ अनेक प्रकार के कामों में व्याप्त रहने वाला, लगा रहने वाला, प्रजा-जन भी हो सकता है। हमारे राष्ट्र का प्रत्येक प्रजा-जन विष्णु है। वह प्रत्येक समय किसी न किसी काम में लगा रहता है। वह आलसी होकर नहीं बैठता। हर समय किसी न किसी काम में लगे रहने वाले ये हमारे प्रजा-जन-रूप विष्णु लोग हमारे राष्ट्र में सर्वत्र विचरण करते हैं, सर्वत्र विद्यमान हैं, और अनेक प्रकार के विक्रम के कार्य करते हैं। और अपने इन कार्यों से राष्ट्र की उन्नति में लगे रहते हैं।

हमारे राष्ट्र में इन्द्र भी रहता है। वह शचीपति[२] है। वह वाणी, प्रज्ञा और कर्म का धनी है। वह वाणी का धनी है। उसे वाङ्मय पर पूरा अधिकार है, वह अनेक विद्याओं को जानता है और प्रभावशाली व्याख्याता है। वह प्रज्ञा का धनी है। बड़ा बुद्धिमान् है। उसकी विचार-शक्ति और समझ बड़ी सूक्ष्म और पैनी है। वह कर्म का भी धनी है। बड़ा क्रियाशील. बड़ा कर्मठ है। उस इन्द्र ने अपने लिये और अपनी प्रजाओं के लिये हमारी मातृभूमि को शत्रुरहित कर दिया है। उसने राष्ट्र का कोई शत्रु नहीं रहने दिया है। उसने अपनी शची द्वारा, अपनी वाक्शक्ति, अपनी प्रज्ञाशक्ति और अपनी कर्मशक्ति, द्वारा ऐसी उत्तम व्यवस्था की है कि राष्ट्र के भीतर और बाहर उसका कोई शत्रु नहीं रह गया है। इन्द्र वेद में सम्राट्[३] को भी कहते हैं। एक आदर्श सम्राट् किस योग्यता का होना चाहिये और राष्ट्र के प्रति उसका क्या कर्तव्य है यह मन्त्र में संक्षिप्त

---

१. वेवेष्टि व्याप्नोति विविध-व्यवहारेषु इति विष्णुः। विष्लृ व्याप्तौ। व्यवहारशीलः प्रजाजनः।

२. शची वाङ्नाम। निघं० १। ११॥ शची कर्मनाम। निघं० २।१॥ शची प्रज्ञानाम। निघं० ३।६॥ शच्याः पतिः शचीपतिः।

३. वेद में इन्द्र का अर्थ सम्राट् भी होता है। इस सम्बन्ध में विस्तार से विशेष विचार अपने ग्रन्थ "वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त" में करेंगे। इस अर्थ में अति संक्षेप से कुछ प्रमाण ऊपर छठे मन्त्र की व्याख्या में २० पृष्ठ पर (३) संख्या की टिप्पणी में दिये गये हैं।

शब्दों में बड़ी सुन्दर रीति से बता दिया गया है। ऐसे इन्द्र से, ऐसे सम्राट् से. हमारी मातृभूमि सदा रक्षित और पालित रहती है।

अश्विनौ,[१] विष्णु और इन्द्र आदि पद वेद में परमात्मा के लिये भी प्रयुक्त होते हैं। परमात्मा के भिन्न-भिन्न गुणों के कारण उसके अश्विनौ, विष्णु आदि नाम होते हैं। वह सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक होकर उसे नाप रहा है, उससे बाहर कुछ भी नहीं है, वह सब तक उनके लिये उपयोगी पदार्थों को पहुँचाता है, इसलिये वह अश्वी है। वह सब जगत् में व्याप्त हो रहा है, और जगत्-निर्माण और धारण के विक्रम के कार्य कर रहा है इस लिये वह विष्णु है। वह सब से अधिक ऐश्वर्यवान् है और सब जगत् का राजा है, उसका कोई शत्रु नहीं है, इस लिये वह इन्द्र भी है। ऐसे अश्वी, विष्णु और इन्द्र नाम वाले परमात्मा ने हमारे राष्ट्र की भूमि का निर्माण किया है, इस लिये हमारे लिये यह भूमि बड़ी पवित्र है। उसी प्रभु की कृपा से हमारे राष्ट्र में अनेक विक्रम के कार्य हो रहे हैं और उसी की कृपा से हमारे राष्ट्र का कोई शत्रु नहीं रहा है। हमारे राष्ट्र के निवासियों के हृदयों में सदा उस प्रभु का वास रहता है और उसके कारण उनमें वह शक्ति आ जाती है जिससे वे अपने राष्ट्र को बलवान, सुखी, समृद्ध बनाने वाले भांति-भांति के विक्रम के कार्य करते हैं और अपने राष्ट्र को शत्रुरहित बना लेते हैं।

ऐसे अश्वी, विष्णु और इन्द्र देवों से रक्षित और पालित हे हमारी मातृभूमि! तू हमें पय प्रदान कर, भांति-भांति के पौष्टिक अन्न, दूध और जल प्रदान कर जिन को खा-पी कर हम पुष्ट और सुखी बन सकें। हे राष्ट्रभूमि! तू मेरी

---

१. यो देवानां नामध एक एव। अथर्व० २।१।३॥ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु वायुस्तदु चन्द्रमाः, तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः। यजुः० ३२।१॥ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्, एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ऋग्० १।१६४।४६॥ इत्यादि स्थलों पर स्वयं वेद ने अति स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वेद में आने वाले अग्नि, इन्द्र आदि विभिन्न देव-नाम परमात्मा के ही हैं, उसी एक को इन विभिन्न नामों से कहा जाता है। अश्नुते सर्वमिति अश्वी परमात्मा। अशू व्याप्तौ। वेवेष्टि व्याप्नोति विश्वमिति विष्णुः परं ब्रह्म। विष्लृ व्याप्तौ। इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति इति इन्द्रः परमेश्वरः। इदि परमैश्वर्ये। इन्द्र के इस अर्थ में कुछ प्रमाण ऊपर छठे मन्त्र की व्याख्या में २१ पृष्ठ पर (२) संख्या की टिप्पणी में भी दिये गये हैं।

माता है और मैं तेरा पुत्र हूँ। मुझ पुत्र पर तू यह पय प्रदान करने की कृपा सदा ही करती रहना।

मातृभूमि के इस स्तुति-गान द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र में यातायात और समाचार पहुँचाने के साधन प्रचुर मात्रा में रहने चाहियें, राज्याधिकारियों को सब स्थानों पर पहुँच कर वहां की स्थिति को देखना चाहिये, राज्याधिकारियों को विद्वान्, बुद्धिमान् और क्रियाशील होना चाहिये। राज्य-प्रबन्ध ऐसा उत्तम होना चाहिये कि राष्ट्र का कोई बाहर और भीतर का शत्रु न रह जाये। सब उसके मित्र हो जायें। राष्ट्र के नर-नारियों को हर समय किसी न किसी काम में लगे रहने वाला होना चाहिये। उन्हें भांति-भांति के व्यवसाय और व्यापार करने चाहियें। राज्याधिकारी और प्रजा-जन सब को विक्रमशील होना चाहिये। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को अपने राष्ट्र को अपनी माता समझना चाहिये। पुत्र जैसे माता को पवित्र समझता है और उसका आदर और हित-चिन्तन करता है वैसे ही प्रत्येक राष्ट्रवासी को अपने राष्ट्र को पवित्र समझना चाहिये और उसका आदर और हित-साधन करना चाहिये। प्रत्येक राष्ट्रवासी के हृदय में परमात्मा का वास रहना चाहिये। जिस राष्ट्र में ये सब बातें रहती हैं उसी राष्ट्र के लोगों को आदर्श और पूर्ण-रूप में खाने-पीने को "पय" पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं।

११
तीन रङ्गों वाली भूमि

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥

अर्थ—(पृथिवि) हे हमारी मातृभूमि (ते) तुम्हारी (गिरयः) पहाड़ियें और (हिमवन्तः) हिमाच्छादित (पर्वताः) पहाड़ (ते) तुम्हारे (अरण्यम्) वन-जङ्गल (स्योनम्) सुखदायक (अस्तु) हों (बभ्रुम्) भूरे रंग वाली अथवा भरण-पोषण करने वाली (कृष्णाम्) काले रंग वाली अथवा कृषि करने योग्य (रोहिणीम्) लाल रंग वाली अथवा उपजाऊ (विश्वरूपाम्) अनेक रूपों वाली (ध्रुवाम्) स्थिरता वाली (भूमिम्) सब का आश्रय-स्थान (पृथिवीम्) विस्तृत तथा विस्तार करने वाली और ख्याति देने वाली (इन्द्रगुप्ताम्) सम्राट् से अथवा परमात्मा से रक्षित (पृथिवीम्) अपनी मातृभूमि पर (अहम्) मैं (अजीतः)

पूर्ण आयु वाला (अहतः) अहिंसित, और (अक्षतः) सब प्रकार के घावों से रहित होकर (अध्यष्ठाम्) अधिष्ठित रहूँ।

हे हमारी मातृभूमि ! तेरे ऊपर छोटी-छोटी पहाडियें भी हैं। और सदा हिम से आच्छादित रहने वाले गगनचुम्बी उत्तुङ्ग पर्वत भी हैं। तेरे ऊपर बड़े-बड़े वन और जंगल भी हैं। हे मां ! तेरी ये पहाड़ियें, पर्वत और जंगल सब हमारे लिये सदा सुखदायक रहें। इन से हमें कभी किसी प्रकार का कष्ट प्राप्त न हो। इनसे हमें सदा सुख ही मिले। सदा इनसे हमें भांति-भांति के लाभ ही मिलते रहें।

हे मातृभूमि ! तेरे अनेक रूप हैं। तू बभ्रु[1] है, भूरे रंग की है। कृष्णा[2] है, काले रंग की है। और रोहिणी[3] भी है, लाल रंग की भी है। इन रंगों वाली तेरी मट्टी में अलग-अलग प्रकार के तत्त्व और गुण हैं। हमारे राष्ट्र के चतुर कृषक लोग तेरी मट्टियों के इन विभिन्न तत्त्वों और गुणों को ध्यान में रख कर उन पर विभिन्न प्रकार की खेतियें करते हैं। उनकी ये खेतियें अनुकूल भूमि पाकर खूब फलती-फूलती हैं। और इस प्रकार हमारे राष्ट्र के कृषक लोग खेती से प्रचुर लाभ उठाते हैं। हे मातृभूमि ! तू सबका भरण-पोषण करती है, इस कारण भी तू बभ्रु है। तुझ पर भांति-भांति की कृषियें होती हैं, कृषि-योग्य होने के कारण भी तू कृष्णा है। तू बड़ी उपजाऊ है, बड़ी रोहणशीला है, इस कारण भी तू रोहिणी है। इस प्रकार तू विश्वरूपा है। तेरे और भी अनेक रूप हैं। तू अपने इन अनेक रूपों में राष्ट्रवासियों के सामने आती है। तू अपने इन अनेक रूपों से राष्ट्रवासियों को सदा अनेक प्रकार के लाभ पहुँचाती रहती है।

हे मातृभूमि ! तू ध्रुवा है, स्थिर है। तुझ में बड़ी स्थिरता है। तू पहाड़ की तरह अडिग खड़ी है। तेरा राज्य-प्रबन्ध और तेरी अन्य सब व्यवस्थाएँ इतनी उत्तम हैं और तू उनके कारण इतनी शक्तिशाली बन गई है कि तुझे किसी प्रकार का कोई शत्रु हिला नहीं सकता, डिगा नहीं सकता, तेरा किसी प्रकार का

---

१. बभ्रुः पिंगलवर्णा। भूरे रंगवाली। बिभर्ति इति बभ्रुः इति योगार्थेन भरण-पोषण-कर्त्री इति वा।

२. कृष्णा कृष्णवर्णा। काले रंग वाली। कृष्यते विलिख्यते हलेन कृष्यर्थमिति कृष्णा इति योगार्थेन कृषियोग्या वा।

३. रोहिणी रोहितवर्णा। वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः (अष्टा॰ ४। १ ३९) इति ङीप, तकारस्य च नकारः। णत्वम्। लाल रंग वाली। रोहयतीति रोहिणी इति योगार्थेन रोहणकर्त्री उर्वरा वा। उपजाऊ।

पराभव और पराजय नहीं कर सकता।

तू भूमि[१] है, सब का आश्रय-स्थान है। राष्ट्र के सब प्राणी और अप्राणी तेरे ऊपर ही टिके हैं और तुझ से ही पोषण और रक्षा प्राप्त करते हैं। तू पृथिवी भी है, स्वयं बड़ी विस्तृत है और राष्ट्रवासियों को विस्तार और ख्याति प्रदान करती है। तू इन्द्रगुप्ता है। प्रजाओं द्वारा चुना हुआ इन्द्र अर्थात् योग्य सम्राट् तेरी रक्षा करता है। तू इन्द्र अर्थात् परमात्मा द्वारा रक्षित रहती है, इस कारण भी तू इन्द्रगुप्ता है। हमारे राष्ट्र के सब निवासी ईश्वर-भक्त हैं। वे भक्ति-भाव के साथ परमात्मा के श्रेष्ठ गुणों का चिन्तन करके उन्हें अपने जीवनों में धारण करते हैं और इस प्रकार परम श्रेष्ठ बन जाते हैं। अपनी श्रेष्ठता से वे अपने राष्ट्र की रक्षा और उन्नति करते हैं। उनके इस पुरुषार्थ में भगवान् भी उनकी सहायता करते हैं। इस प्रकार इन्द्रगुप्ता हो कर हमारी पृथिवी[२], हमारी मातृभूमि, ध्रुवा और भूमि बन गई है। हमारा राष्ट्र अपराभवनीय और सब को आश्रय, पोषण और रक्षा देने वाला बन गया है।

हे मातृभूमि! इन्द्रगुप्ता तुझ पर निवास करता हुआ मैं अजीत[३] हो कर रहूँ। मेरी आयु को कोई व्यक्ति और कोई बात क्षीण न कर सके। मैं पूरी आयु भोगने वाला दीर्घ-जीवी बनूँ। मैं अहत[४] रहूँ। मुझे कहीं से किसी तरह की हिंसा, किसी तरह का कष्ट, प्राप्त न हो। मैं अक्षत[५] रहूँ। मुझे किसी प्रकार का व्रण, किसी प्रकार का घाव न लग सके। मेरी किसी प्रकार की त्रुटि, किसी प्रकार की हानि, न हो सके। मैं स्वयं और मेरी सब चीजें अक्षत रूप में, व्रण और त्रुटि-रहित पूर्ण रूप में मेरे पास रहें। हे मां! ऐसी कृपा तू सदा मुझ पर रख।

मातृभूमि से भक्त की इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि

---

१. भवन्ति अस्यामिति भूमिः। भुवः किन् (उणादि० ४।४५) भू सत्तायामिति धातोः अधिकरणे मि प्रत्ययः। सर्वेषामाश्रयस्थानम्। सब का आश्रय-स्थान।

२. मन्त्र के चौथे चरण में जो भूमि और पृथिवी पद आये हैं वे मन्त्र के छठे चरण में आये पृथिवी पद के विशेषण हैं। इसलिये मन्त्र की व्याख्या में उक्त भूमि और पृथिवी पदों का—आश्रय-स्थान और विस्तार तथा ख्याति देने वाली—ऐसा यौगिक अर्थ कर लिया गया है। तथा छठे चरण में प्रयुक्त पृथिवी पद का अर्थ भूमि अर्थात् मातृभूमि ऐसा किया गया है।

३. अजीतः वयो-हानि-रहितः। ज्या वयोहानौ धातोः निष्ठायां रूपम्।

४. अहतः अहिंसितः। हन् हिंसागत्योरिति धातोः निष्ठायां रूपम्।

५. अक्षतः न क्षतः। क्षतरहितः व्रणरहितः।

राष्ट्र के इन्द्र अर्थात् राज्य-प्रबन्ध और प्रजा के लोगों को मिल कर अपने राष्ट्र की ऐसी उत्तम व्यवस्था करनी चाहिये कि राष्ट्र के पहाड़ों और जंगलों में फिरते हुए भी किसी को किसी प्रकार का कष्ट प्राप्त न हो सके। पहाड़ों और जङ्गलों के विभिन्न प्रकार के पदार्थों से उपयोग ले सकने की व्यवस्था करनी चाहिये जिससे राष्ट्र के लोगों की सुख-वृद्धि हो सके। राष्ट्र की भिन्न-भिन्न रंगों वाली मट्टी के घटक तत्त्वों का पता लगा कर उसके गुणों का पता लगाना चाहिये और इस प्रकार जिस मट्टी में जो खेती अच्छी हो सकती हो उसमें वही खेती करने की व्यवस्था करनी चाहिये। अपने राष्ट्र को शक्ति-शाली, अडिग और अपराजेय बना कर रखना चाहिये। सब राष्ट्रवासियों को ऐसे उत्तम कर्म करने चाहिये जिनसे सब को आश्रय, रक्षा, विस्तार और ख्याति प्राप्त हो सके। जिससे सब की आयु लम्बी हो, किसी को कोई कष्ट न प्राप्त हो सके, सब स्वस्थ और सब प्रकार के व्रणों तथा त्रुटियों से रहित हो कर रह सकें—ऐसी उत्तम व्यवस्था राष्ट्र की राजा और प्रजा को मिल कर करनी चाहिये।

१२

राष्ट्रभूमि मेरी माता और मैं उसका पुत्र

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥

अर्थ—(पृथिवि) हे मातृभूमि! (यत्) जो (ते) तेरी (मध्यम्[१]) मध्य भाग में उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ हैं (यच्च) और जो (नभ्यम्[२]) नाभि-भाग में उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ हैं (याः) जो (ऊर्जः) अन्न, रस आदि बलकारक पदार्थ (ते) तेरे (तन्वः) शरीर से (संबभूवुः) उत्पन्न होते हैं (तासु) उन सब में (नः) हमें (धेहि) तू धारण कर अर्थात् उन सब का हमें प्रदान कर (नः) हमें (अभिपवस्व) तू पवित्र बना दे (भूमिः) तू भूमि (माता) मेरी माता है, और (अहम्) मैं (पृथिव्याः) तुझ भूमि का (पुत्रः) पुत्र हूं (पर्जन्यः) अन्न आदि को खूब उत्पन्न करने वाला मेघ, राजा अथवा परमात्मा (पिता) हमारा पालक पिता है (सः) वह (उ) भी (नः) हमारी

१. मध्ये भवं वस्तु मध्यम्।
२. नहौ नाभौ भवं वस्तु नभ्यम्। ह्रस्य भश्छान्दसः।

(पिपर्तु) पालना करे और हमें पूर्ण बनावे।

हे हमारी मातृभूमि ! तुझ से अनेक प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। तेरे ऊपर के स्तर से भी भांति-भांति के पदार्थ प्राप्त होते हैं, उससे गहरे मध्य भाग से भी और बहुत ही गहरे नाभि-भाग से भी। तेरे ऊपर के स्तर पर भांति-भांति की वनस्पतियें उत्पन्न होती हैं। उनसे हमें अनेक प्रकार की लकड़ियें, वस्त्र बनाने के लिए कपास, खाने के लिए भांति-भांति के अनाज, फल और मेवे प्राप्त होते हैं, तथा अनेक प्रकार का व्यापारोपयोगी सामान प्राप्त होता है। उससे गहरे मध्य भाग से और उससे भी बहुत गहरे नाभि-भाग से हमें कुओं का पानी, भांति-भांति के पत्थर, गन्धक,सोना,चांदी, लोहा,ताम्बा, अभ्रक, पारा, पत्थर का कोयला, मट्टी का तेल, हीरे, मणि, माणिक्य आदि अनेक प्रकार के बहुमूल्य और उपयोगी पदार्थ प्राप्त होते हैं। इस प्रकार तेरे शरीर से हे हमारी मातृभूमि ! तरह-तरह के "ऊर्ज[1]" पदार्थ—तरह-तरह के अन्न, तरह-तरह के रस और तरह-तरह के बलदायक पदार्थ—हमें मिलते हैं। हे मां ! तू हमें अपने शरीर से मिलने वाले भांति-भांति के पदार्थों में सदा धारण रखना—इन सब का हमें सदा प्रदान करती रहना। हमें इन पदार्थों में से किसी की कभी कमी न पड़े।

हे माँ ! तू हमें पवित्र बना कर रखना। तुझ से मिलने वाले इन भांति-भांति के पदार्थों की प्राप्ति के प्रयत्न में हम कभी पवित्रता को हाथ से न जाने दें। इन्हें प्राप्त करने के लिये हम कभी अधर्म न करें। इन्हें प्राप्त करने के लिये हम कभी सत्य को, न्याय को और औचित्य को न छोड़ें। हम कभी किसी दूसरे के अधिकार को हड़प कर, दूसरे को सता कर, दूसरे के सुख को छीन कर, दूसरे को दुःखी और क्लेशित बना कर, तेरे इन पदार्थों को प्राप्त न करें। हम सत्य, न्याय, दया, अहिंसा, उदारता, सहानुभूति आदि धर्म के अङ्गों का अनुसरण करते हुए अपने परिश्रम द्वारा ही तेरे से मिलने वाले इन पदार्थों को प्राप्त करें। इस प्रकार हम तुझ से जो कुछ प्राप्त करें वह पवित्रतापूर्वक प्राप्त करें, अपवित्रतापूर्वक नहीं।

हे मेरे राष्ट्र की भूमि ! तू मेरी माता है और मैं तेरा पुत्र हूँ। तू मुझ पुत्र पर ऐसी कृपा सदा करती रहना कि तेरे ये भांति-भांति के पदार्थ जीवन-भर मुझे निरन्तर मिलते रहें और पवित्रता के साथ मिलते रहें।

---

१. ऊर्क् अन्नं च रसं च। निरु० ६।४२॥ ऊर्क् अन्ननाम। निघं० २।७॥ पराक्रमः (दयानन्दः यजुः० १७।१ भाष्ये)। Strength, vigour. (आप्टेकोश)।

हे मातृभूमि ! तू हमारी माता है और पर्जन्य हमारा पिता है। वह पर्जन्य भी हमारी पालना करता रहे और हमें पूर्ण बनाता रहे। बादल भी पर्जन्य[1] है। वह परम जनयिता है। वह बहुत बड़े परिमाण में चीजों को उत्पन्न करने वाला है। मेघ जब बरसता है तो उसके द्वारा सारी धरती पर प्राण[2] बरसता है, जीवन बरसता है। उस जीवन को पा कर धरती-माता के अणु-अणु से वनस्पतियें उग पड़ती हैं। सारी धरती हरित वस्त्र से-परिवेष्टित हो जाती है। सम्राट् भी पर्जन्य है। वह भी परम जनयिता है। प्रजाओं द्वारा चुने हुए योग्य सम्राट् की रक्षा में राष्ट्र खूब उन्नति करता है, खूब फलता और फूलता है। राष्ट्र की प्रजायें भी बढ़ती हैं और उसमें भांति-भांति के पदार्थों का निर्माण भी खूब होता है। परमात्मा भी पर्जन्य है। वह भी परम जनयिता है। उससे बढ़ कर तो कोई और जनयिता है ही नहीं। सारे विश्व-ब्रह्माण्ड का मूल जनयिता तो वही है। उसी ने सारे जगत् का निर्माण किया है। हमारा भी उसी ने निर्माण किया है, पशु-पक्षियों और वनस्पतियों का भी। एक शब्द में सारे जड-जङ्गम जगत् का जनयिता, निर्माता, वही है।

ये तीनों पर्जन्य हमारे पालक पिता हैं। हमारे राष्ट्र के योग्य सम्राट् सदा उसकी पालना करते रहें। उनकी राज्य-व्यवस्था ऐसी उत्तम हो कि उस में रहते हुए प्रत्येक राष्ट्रनिवासी धरती-माता के शरीर से मिलने वाले पदार्थों को यथेष्ट मात्रा में प्राप्त कर सके। राष्ट्र में भांति-भांति के पदार्थों का प्रचुर मात्रा में निर्माण हो, राष्ट्र के उद्योग-धन्धे खूब बढ़ें। राष्ट्र सब प्रकार से पूर्ण बने। उसकी सर्वतोमुखी उन्नति और वृद्धि हो। भगवान् की भी हमारे राष्ट्र पर सदा कृपा रहे। उनकी कृपा से हमारे राज्याधिकारियों और प्रजा-जनों के उन्नति करने और समृद्धि प्राप्त करने के सब प्रयत्न खूब सफल होते रहें। उनकी कृपा से हमारे राष्ट्र में मेघ सदा समय पर वर्षा करता और हमारी धरती को हरा-भरा बनाता रहे।

---

१. पर्जन्यः परो जनयिता। निरुक्ते यास्कः। पिपर्ति जनं पर्जन्यः। क्षीरस्वामी अमरकोशे ३। १४६ श्लोक टीकायाम्। पर्जन्यो वै भवः पर्जन्याद्धीदं सर्वं भवति। श० ६। १। ३। १५।। अनेनापि पर्जन्यस्य भवत्वमुत्पादकत्वं जनकत्वं सूच्यते।

२. देखो अथर्ववेद के प्राण-सूक्त (अथर्व० ११। ४) के मन्त्र २—६ और १७। वहाँ बड़े सुन्दर ढंग में यह बतलाया गया है कि वृष्टि का मेघ प्राणरूप है और वर्षा के साथ धरती पर सब प्राणियों और वनस्पतियों के लिये प्राण की—जीवन की—वर्षा होती है।

मातृभूमि से भक्त की इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र की उन्नति के लिये राष्ट्र के लोगों को अपने राष्ट्र की धरती के ऊपरी स्तर से और उसके मध्य तथा नाभि-भाग से अर्थात् उसकी खानों से तरह-तरह की चीजें प्राप्त करनी चाहियें। इन चीजों के प्राप्त करने में राष्ट्रवासियों का परस्पर के साथ बरताव पूर्ण पवित्र होना चाहिये जिससे राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण सुखी हो सके। राष्ट्र के लोगों को अपने राष्ट्र को अपनी माता समझना चाहिये और अपने आपको उसके पुत्र। तथा राष्ट्र-निवासियों को आपस में एक दूसरे को अपना भाई समझना चाहिये और सब को हरेक काम में एक दूसरे की भाई-भाई की भांति सहायता करनी चाहिये। राष्ट्र के सम्राट् को—राज्य-प्रबन्ध को—राष्ट्र के लिए पर्जन्य बनना चाहिए। उसे ऐसा सुन्दर प्रबन्ध करना चाहिये कि राष्ट्र में भांति-भांति की चीजों का खूब निर्माण हो, उसकी समृद्धि खूब बढ़े। राष्ट्रवासियों को सच्चे अर्थों में प्रभु-भक्त होना चाहिये जिससे प्रभु की कृपा से राष्ट्र में सदा समय पर बादल बरसा करें और वह सदा हरा-भरा, समृद्धिशाली रहा करे।

१३

विश्वकर्माओं द्वारा किये जाने वाले यज्ञ

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस (भूम्याम्) भूमि पर (वेदिम्) वेदि का (परिगृह्णन्ति) परिग्रह करते हैं अर्थात् निर्माण करते हैं (विश्वकर्माणः) भांति-भांति के कर्म करने में निपुण लोग (यस्याम्) जिसमें (यज्ञम्) यज्ञों का (तन्वते) विस्तार करते हैं (यस्याम्) जिस (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (आहुत्याः) आहुति के (पुरस्तात्) पहले (ऊर्ध्वाः) ऊँचे (शुक्राः) उज्ज्वल वर्ण के (स्वरवः) स्वरु (मीयन्ते) रचे जाते हैं (सा) वह (भूमिः) हमारी मातृभूमि (वर्धमाना) हमारे द्वारा बढ़ती हुई (नः) हमें (वर्धयत्) बढ़ावे।

हमारी मातृभूमि में विश्वकर्मा लोग रहते हैं और वे सदा यज्ञ करते रहते हैं। उन यज्ञों के लिये वे वेदियों का निर्माण करते हैं। और यज्ञ-वेदियों के समीप ऊँचे-ऊँचे उज्ज्वल वर्ण के स्वरु बना कर खड़े करते हैं।

समुदाय का अङ्ग बन कर समुदाय के योग-क्षेम के लिये—समुदाय के भले

के लिये—जो कार्य किये जाते हैं वे यज्ञ[1] कहलाते हैं। यज्ञ शब्द जिस "यज" धातु से बनता है उसका एक अर्थ "संगतीकरण" अर्थात् मिल कर काम करना भी होता है। इसलिये जितने भी हमारे काम ऐसे हैं जो कि संगत होकर, मिल कर, किये जाते हैं और जिनके करने में समुदाय की भलाई लक्ष्य होती है, वे सब यज्ञ कहलाते हैं। इस दृष्टि से हमारे विद्यालय, विश्वविद्यालय, अनुसंधान-शालायें, कारखाने, कम्पनियें, विभिन्न उद्देश्यों को लेकर चलाई गई सभा-समितियें—हमारा सारा सामूहिक और सामाजिक जीवन ही—यज्ञ हो जाते हैं।

हमारे राष्ट्र के लोग विश्वकर्मा[2] हैं। वे भांति-भांति के कर्म करने में निपुण हैं। वे मिल कर भांति-भांति के यज्ञों का सम्पादन करते हैं—अनेक प्रकार के लोकोपयोगी कार्य करते हैं। वे अपने निज के लिये जो कुछ करते हैं वह भी यज्ञ की सिद्धि के साधन के रूप में, परोपकार के काम कर सकने में समर्थ बनने की दृष्टि से, करते हैं। इस लिये उनके अपने निज के लिये किये गये कार्य भी अन्त में यज्ञ का साधन होने से यज्ञ ही बन जाते हैं।

हमारे राष्ट्र के विश्वकर्मा लोग अपने यज्ञों को करने के लिये वेदियों का परिग्रह[3] करते हैं—निर्माण करते हैं। उन स्थानों की रचना करते हैं जहां यज्ञ

---

१. सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायाङ्गतया क्रियमाणं कर्म यज्ञः। यज देव-पूजा-संगतीकरण-दानेषु इत्यस्माद्धातो यजयाचेति (अष्टा० ३। ३। ६०) सूत्रेण नङि प्रत्यये यज्ञशब्दो निष्पद्यते। इज्यते संगत्य क्रियते इति यज्ञः लोकोपकारकं कर्म। यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म श० १। ७। १। ५॥ यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म। तै० ३। २। १। ४॥

२. विश्वानि कर्माणि करोति इति विश्वकर्मा। विविधकर्मसु निपुणः। अखिलेषु कर्मसु कुशलः (दयानन्दः यजुः १७। २३ भाष्ये)।

३. वेदि के परिग्रह का अर्थ हमने वेदि का निर्माण ऐसा कर दिया है। परिग्रह का तात्पर्यार्थ यहां निर्माण ही है। परिग्रह का शब्दार्थ चारों ओर से ग्रहण करना, पकड़ना, घेरना होता है। जब किसी प्रयोजन से कोई भवन या स्थान बनाया जाता है तब उसके लिये आवश्यक भूमि को चारदीवारी आदि से घेर लिया जाता है और उस परिधि के भीतर आवश्यक भवनों आदि का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार यज्ञ-कार्यों के निमित्त जो आवश्यक भूमि को घेर कर वहां भवन आदि बनाये जाते हैं उस की सूचना परिग्रह शब्द से मिलती है।

किये जायेंगे। विद्यालय, विश्वविद्यालय, सभा-समितियों, अनुसंधानशालाओं, कारखानों आदि के लिये सुन्दर और उपयोगी भवनों का निर्माण करते हैं, जिनमें बैठकर लोकोपयोगी कार्य किये जायेंगे। इन वेदियों के पास वे विश्वकर्मा लोग ऊंचे-ऊंचे और शुक्र[1] अर्थात् उज्ज्वल स्वरु खड़े करते हैं। स्वरु शब्द "स्वृ"[2] धातु से बनता है जिस का एक अर्थ शब्द करना भी होता है। इसलिये स्वरु का अर्थ होगा—शब्द करने वाला, घोषणा करने वाला। जिन चिन्हों से दूर से ही यह घोषणा होती हो, यह सूचना मिलती हो, कि अमुक स्थान में अमुक कार्य हो रहा है, उन उन्नत और स्पष्ट चिन्हों को स्वरु कहेंगे। भवनों के ऊंचे मुख्य द्वार और नामांकित बड़े-बड़े सूचना-पट्ट आदि सब स्वरु कहे जायेंगे, जिन को देख कर लोग समझ लेंगे कि इस स्थान में अमुक कार्य हो रहा है।

इन यज्ञों को, इन लोकोपयोगी कार्यों को, निरन्तर चलाते रहने के लिये इनमें जो व्यय किया जाता रहता है वह इन यज्ञों की आहुति[3] है। आहुति-दान से पहले वेदियें और स्वरु बनाये जाते हैं—कर्मशालायें और उनके सूचक चिन्ह ऊंचे मुख्य द्वार आदि बनाये जाते हैं। इन के बन जाने पर उन स्थानों में कार्य प्रारम्भ होता है और उसमें धन व्यय किया जाने लगता है—यज्ञ को संतत रखने के लिये, चालू रखने के लिये, उसमें आहुति पड़ने लगती है।

हे मातृभूमि! हमारे विश्वकर्माओं द्वारा किये जाने वाले ये यज्ञ, ये विभिन्न प्रकार के लोकोपयोगी कार्य, तेरी वृद्धि करने वाले हैं—तेरे राष्ट्र को समृद्ध बनाने वाले हैं। हम इन यज्ञों द्वारा हे मां! सदा तेरी वृद्धि करते रहेंगे। हमारे द्वारा वृद्धि पाकर तू भी हमारी वृद्धि करती रहना।

कर्मकाण्ड में प्रसिद्ध यज्ञ करने, उनके लिये वेदियें बनाने और उनके समीप स्वरु अर्थात् यज्ञ-स्तम्भ खड़े करने की सूचना भी इस मन्त्र से मिलती है। इस अर्थ में मन्त्र का भाव यह होगा कि राष्ट्रवासियों को कर्मकाण्ड में

---

१. शुक्राः भास्वराः। उज्ज्वल-वर्णाः। शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। निरु० ८। ११॥ भास्वर. (दयानन्दः यजुः ११। ५४ भाष्ये)। Bright, radiant, shining (आप्टेकोश)

२. स्वृ शब्दोपतापयोः। मन्त्रस्थं स्वरवः इति पदं स्वरुशब्दस्यैव बहुवचनम्।

३. आहूयते प्रदीयते इति आहुतिः। प्रारब्ध-कर्म-सन्तत्यै तत्र सततं धनविनियोग.। हु दानादनयोः इति धातोः आहुतिशब्द निष्पद्यते

प्रसिद्ध अग्निहोत्रादि यज्ञ भी करने चाहियें । इन यज्ञों के करने से यजमान में आध्यात्मिकता और पवित्रता उत्पन्न होती है और जल-वायु की शुद्धि द्वारा प्रजाओं का स्वास्थ्य बढ़ता है । जिस राष्ट्र में घर-घर में यज्ञ होते हैं वहां यथेष्ट वर्षा होती है और कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता ।

भक्त के मुख से मातृभूमि के इस वर्णन और उससे की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि अपने राष्ट्र को उन्नत करना चाहने वाले लोगों को विश्वकर्मा बनना चाहिये—भांति-भांति के कर्म करने में निपुण बनना चाहिये । उन्हें परस्पर मिल कर अनेक प्रकार के लोकोपयोगी कार्यरूप यज्ञ करते रहना चाहिये । इन कार्यों को चलाते रहने के लिये उन्हें इनमें पुष्कल धन की आहुति देते रहना चाहिये । और इस प्रकार अपने राष्ट्र को सदा बढ़ाते रहना चाहिये । जिस राष्ट्र के लोग राष्ट्र की वृद्धि में, परस्पर की वृद्धि में, सहयोग देते हैं, उसी के लोगों की निजी वैयक्तिक वृद्धि भी होती है ।

१४
हमें कोई दास नहीं बना सकेगा

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥

अर्थ—(पृथिवि) हे हमारी मातृभूमि ! (यः) जो (नः) हम से (द्वेषत्) द्वेष करे (यः) जो, हम पर (पृतन्यात्[1]) सेना से आक्रमण करे (यः) जो (मनसा) मन से, और (यः) जो (वधेन[2]) शस्त्र से (अभिदासात्[3]) हम को दास बनाना चाहे अथवा क्षीण करना चाहे (तं) उसको (पूर्वकृत्वरि[4])

१. पृतन्यात्—अस्मासु आक्रमणार्थं पृतनां सेनामात्मन इच्छेत् ।
२. वधेन—वधसाधनेन शस्त्रेण ।
३. अभिदासात् । अभिदासति दासं करोति । नामधातुप्रकरणे तत्करोति तदाचष्टे इति णिच्प्रकरणे "सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्य." इति वार्तिकेन आचरत्यर्थे क्विब्भवति । छन्दसि व्यत्ययेन करोत्यर्थेऽपि तेनैव क्विप् । अभिदासादिति अभिदासते नामधातो लेटि रूपम् । अथवा दसु उपक्षये इति धातोः लेटि रूपम् । अभिदासात् दासं कुर्यात् क्षीणं वा कुर्यात् ।
४. पूर्वकृत्वरी—पूर्वं पूर्णम् । पुर्व पूरणे । पूर्वं पूर्णं करोति इति पूर्वकृत्वरी । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अष्टा० ३ । २ । ७५) इति क्विप् । तुक् । वनो र च (अष्टा० ४ । १ । ७) इति ङीप् रश्चान्तादेश ।

हमारे मनोरथों को पूर्ण करने वाली (भूमे) हे हमारी मातृभूमि ! (रन्धय) तू रांध दे, नष्ट कर दे ।

हे मातृभूमि ! हम तेरे निवासी किसी अन्य राष्ट्र और उसके निवासियों से द्वेष नहीं करते हैं । हम तो सब के साथ प्रेम-पूर्वक मित्र-भाव से रहना चाहते हैं । इस पर भी यदि कोई अन्य राष्ट्र हम से द्वेष करता है और उसके निवासी हमारे राष्ट्र के प्रति दुर्भावना रखते हैं तो उसके इस द्वेष और दुर्भावना को हे मातृ-भूमि ! तूने सहन मत करना । यदि द्वेष और दुर्भावना से प्रेरित हो कर कोई दूसरा राष्ट्र हम पर सेना ले कर आक्रमण करना चाहता है और हमें अपने अधीन करके अपना दास बनाना चाहता है तो हे मातृभूमि ! तू उस आक्रमण-कारी का डट कर मुकाबला करना और उसके दांत खट्टे कर देना ।

दुष्ट बुद्धि के राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण करके उन्हें दो तरह से अपना दास बनाया करते हैं । एक शस्त्र से और दूसरे मन से । शस्त्र का प्रयोग करके वे पराजित राष्ट्र में रुधिर की नदियें बहाते हैं, ज़रा-ज़रा-सी बात पर वे पराजित राष्ट्र के लोगों की हत्या कर डालते हैं । जिस किसी ने उनकी नृशंसता का विरोध किया, जिस किसी ने उनकी गुलामी के पंजे से निकलने का प्रयत्न किया, उसी की गरदन धड़ से अलग कर दी जाती है या उसे लम्बे समय के लिये जेलों और काल-कोठरियों में डाल दिया जाता है अथवा उसकी धन-सम्पत्ति छीन कर कंगाल और दर-दर का भिखारी बना दिया जाता है । उनका विरोध करने वालों की कभी कोड़ों की मार से चमड़ी उधेड़ दी जाती है या कोई और क्रूरता-पूर्ण दण्ड दिये जाते हैं । इस प्रकार शस्त्र के बल से दबा कर वे पराजित राष्ट्र के लोगों को अपने अधीन रख कर अपना दास बनाये रखना चाहते हैं ।

पराजित राष्ट्र को अपना गुलाम बनाये रखने का उनका दूसरा साधन मानसिक होता है । वे पराजित राष्ट्र के लोगों को मन से अपना दास बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं । जब तक पराजित राष्ट्र के लोगों के केवल शरीर ही विजेता राष्ट्र के गुलाम बने हैं, परन्तु उनके मन स्वतन्त्र हैं—उनके मन विजेता की पराधीनता स्वीकार नहीं करते हैं, तब तक यह आशा और संभावना रहती है कि किसी न किसी दिन वे प्रयत्न करके अनुकूल अवसर पाते ही विजेता राष्ट्र के जूए को अपने कन्धे पर से उतार कर फैंक देंगे और अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता को फिर से प्राप्त कर लेंगे । इसलिये विजेता राष्ट्र पराजित राष्ट्र के लोगों के मन को ही दास बनाने का प्रयत्न करते हैं । वे पराजित राष्ट्र के विद्यालयों में उसकी भाषा और उसके साहित्य का पठन-पाठन बन्द करके उनके स्थान में अपनी

भाषा और अपने साहित्य का पठन-पाठन आरम्भ कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पराजित राष्ट्र के लोग शनैः-शनैः अपनी भाषा, अपने इतिहास, अपनी वीर-गाथाओं, अपने दर्शन-शास्त्रों, अपने काव्यों, अपने धर्म-ग्रन्थों और अपनी सारी ही चिन्तनाओं और विचार-परम्पराओं को भूल जाते हैं। उनके स्थान में उन्हें विजेता राष्ट्र की भाषा, उसके साहित्य, उसके इतिहास, उसकी वीर-गाथाओं, उसके दर्शन-शास्त्रों, उसके काव्यों, उसके धर्म-ग्रन्थों और उसकी चिन्तनाओं और विचार-परम्पराओं का ही ज्ञान रह जाता है। विजेता राष्ट्र की ये चीजें ही उनकी अपनी चीजें बन जाती हैं। उन्हें विजेता की इन चीजों से प्रेम हो जाता है। विजेता राष्ट्र अपनी भाषा द्वारा चतुराई से तैयार किया हुआ ऐसा साहित्य भी प्रसंग से पराजित राष्ट्र के लोगों को पढ़ने को देता है जिसमें पराजित राष्ट्र के भूतकाल की निन्दा की होती है। इस प्रकार के साहित्य को पढ़ने से पराजित राष्ट्र के लोगों के मन में अपनी पुरानी चली आ रही परम्पराओं और जीवन के तरीकों से घृणा हो जाती है। इस सब का परिणाम यह होता है कि पराजित राष्ट्र के लोगों को विजेता राष्ट्र की सभी बातें अच्छी और अपनी सभी बातें बुरी लगने लगती हैं। विजेता की भाषा ही उनकी भाषा हो जाती है, उसका इतिहास उनका इतिहास, उसके वीर पुरुष उनके वीर पुरुष, उसके कवि उनके कवि, उसके दर्शन-शास्त्र उनके दर्शन-शास्त्र, उसका धर्म उनका धर्म, उसकी चिन्तना और विचार-परम्परा उनकी चिन्तना और विचार-परम्परा, उसकी वेशभूषा उनकी वेशभूषा, उसका खान-पान उनका खान-पान, उसके खेल उनके खेल—एक शब्द में उसका सारा ही रहन-सहन उनका रहन-सहन हो जाता है। उनकी चमड़ी का रंग भले ही न बदल सकता हो, वे और सब बातों में बदल जाते हैं और विजेता जैसे बन जाते हैं। उनका मन पूर्ण रूप से विजेता का पुजारी बन जाता है। पुजारी से भी आगे उनका मन विजेता का गुलाम बन जाता है। इसके फलस्वरूप उनके मन में विजेता का विरोध करने की भावना नहीं रह जाती, विजेता की पराधीनता का जूआ उतार कर फेंक देने की उनकी व्यग्रता और आतुरता नष्ट हो जाती है। वे विजेता के शासन में अपने को सुखी और उसी में अपना कल्याण समझने लगते हैं। पराजित राष्ट्र के लोगों में मन की यह पराधीनता और दासता उत्पन्न हो जाने पर वहां विजेता की प्रभुता अटल हो जाती है। पराजित राष्ट्र के लोग कभी उसका विरोध भी कर सकते हैं यह भय ही उसे नहीं रह जाता। यह मन की दासता शस्त्र की दासता से कहीं अधिक भयंकर है—यह दासता तो

राष्ट्र का आत्मघात कर देती है।

हे मातृभूमि ! यदि कोई दूसरा राष्ट्र द्वेष और लोभ-लालच आदि की दुर्भावना से प्रेरित हो कर तुझ पर आक्रमण करे और शस्त्र या मन से तेरे निवासियों को दास बना कर शारीरिक और आत्मिक दृष्टि से उन्हें क्षीण करना चाहे तो तूने उसका वह सामना करना कि उसे लोहे के चने चबाने पड़ जायें। हे हमारे सब मनोरथों को पूरा करने वाली हमारी मां ! उस समय आततायी का तेरा विरोध साधारण छोटा-मोटा विरोध न हो, उस समय आततायी का तेरा विरोध तेरी समग्र शक्ति से, तेरी शक्ति के अणु-अणु को संचित करके, किया हुआ विरोध हो। उस समय तू अभेद्य चट्टान का रूप धारण कर लेना जिससे टकरा कर आततायी का चूरा निकल जाये। उस समय तू अपना अजेय रूप दिखाना। उस समय तू शत्रु को धूल में मिला देना, मटियामेट कर देना, रौंध देना—उसे बता देना कि तेरी ओर टेढ़ी आंख करके देखने का क्या परिमाण होता है।

भक्त के मुख से मातृभूमि से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि हमें अपने राष्ट्र को सदा इतना शक्तिशाली बना कर रखना चाहिये कि कोई दूसरा राष्ट्र द्वेष और दुर्भावना से प्रेरित हो कर उस पर आक्रमण करने का, उसे दास बनाने का और इस प्रकार उसे क्षीण करने का साहस न कर सके। और यदि कभी कोई गर्वित राष्ट्र इस प्रकार दुश्चेष्टा कर ही बैठे तो हमें उसका पूरी शक्ति से मुकाबला करना चाहिये और उस समय उसे धूल में मिला कर ही चैन लेनी चाहिये। हमें अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता की पूर्ण रूप से रक्षा करनी चाहिये।

१५
पांच प्रकार के मानव

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥

अर्थ—हे मातृभूमि ! (मर्त्याः) हमारे राष्ट्र के सब मनुष्य (त्वज्जाताः) तुझ से उत्पन्न हुए हैं, और (त्वयि) तुझ पर ही (चरन्ति) विचरण करते हैं (त्वम्) तुम (द्विपदः) दोपायों और (त्वम्) तुम (चतुष्पदः) चौपायों को (बिभर्षि) धारण करती हो और उनका भरण-पोषण करती हो (पृथिवि)

हे हमारी मातृभूमि ! (इमे) ये (पञ्च) पांचों प्रकार के (मानवाः) मनुष्य—(येभ्यः) जिन (मर्त्येभ्यः) मनुष्यों के लिये (उद्यन्) उदय होता हुआ (सूर्यः) सूर्य (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (अमृतम्) अमर (ज्योतिः) ज्योति का (आतनोति) चारों ओर विस्तार करता है—(तव) तुम्हारे ही हैं।

हे हमारी मातृभूमि ! तुम राष्ट्र के सब दोपाये और चौपाये प्राणियों को अपने ऊपर धारण कर रही हो और तुम्हीं उन सब का भरण-पोषण भी कर रही हो। राष्ट्र के सब मनुष्य, सब नर-नारी, तुझ से ही उत्पन्न हो कर तुझ पर विचरण करते हैं।

राष्ट्र के ये नर-नारी पांच[1] प्रकार के हैं। कुछ तो इनमें से वे लोग हैं जिन्होंने अपने लिये ब्राह्मण वर्ण[2] का चुनाव किया है, जिन्होंने ब्राह्मण बनने का निश्चय किया है। जिन्होंने यह व्रत ले लिया है कि वे सारी आयु-भर ज्ञान का सम्पादन करने में लगे रहेंगे, नये ज्ञान का आविष्कार करेंगे और पूर्वज लोगों द्वारा आविष्कृत ज्ञान को सीखेंगे और फिर इस सम्पादित ज्ञान का निःस्वार्थ भाव से जनता के कल्याण के लिये प्रचार करते रहेंगे; जिन्होंने यह व्रत ले लिया है कि वे तपस्या का, सादगी का, संयम का, सत्य और अहिंसा का जीवन व्यतीत करेंगे; जिन्होंने यह व्रत ले लिया है कि वे अपरिग्रह को अपने जीवन का आदर्श रखेंगे, अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को कम से कम रखेंगे और इस प्रकार धन-सम्पत्ति के संग्रह के पीछे नहीं दौड़ेंगे; जिन्होंने यह व्रत ले लिया है कि वे अपने जीवन को न्याय की रक्षा तथा प्राणिमात्र पर दया और परोपकार करने में लगायेंगे—ऐसे तत्त्वदर्शी विद्वान लोगों को ब्राह्मण कहते हैं। हमारे राष्ट्र में कुछ लोग तो ऐसे हैं जिन्होंने इस प्रकार का ब्राह्मणों का जीवन अपनाने का निश्चय किया है।

इनमें से कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने क्षत्रिय वर्ण का चुनाव किया है। जिन्होंने यह व्रत लिया है कि वे धनुर्वेद का विशेष रूप से अध्ययन करेंगे, राजनीति-शास्त्र और शस्त्रास्त्रविद्या के अध्ययन में विशेष समय देंगे और शारीरिक शक्ति का विशेष सम्पादन करेंगे; जिन्होंने यह व्रत लिया है कि वे शत्रुओं से अपने राष्ट्र की रक्षा को अपने जीवन का उद्देश्य बनायेंगे; जिन्होंने यह व्रत लिया है कि वे अपनी

---

१. चत्वारो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यमनभिमन्वाना अपि राष्ट्रधर्ममनुपालयन्तश्चेतरे जनाः पञ्च-मानवाः।

२. व्रियते इति वर्णः। वर्णो वृणोतेः। निरु० २। ३॥ व्रियते स्वीक्रियते इति वर्णः। वृणोतेः स्वीकारार्थात् औणादिकः नः प्रत्ययः (उणादि० ३। १०)।

आंखों के आगे बलवान् द्वारा निर्बल पर अत्याचार नहीं होने देंगे, अपने देखते अत्याचारी के द्वारा किसी के अधिकारों को कुचलने नहीं देंगे, और इस प्रकार अन्याय और अत्याचार को रोकने के काम में अपना रक्त बहाने की आवश्यकता पड़ेगी तो उसे भी बहा देंगे और गर्दन कटाने की आवश्यकता होगी तो हंसते-हंसते उसे भी कटा देंगे—उन शक्तिशाली वीर पुरुषों को क्षत्रिय कहते हैं। हमारे राष्ट्र में कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने यह क्षत्रिय बनने का निश्चय किया है।

इनमें से कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने वैश्य वर्ण का चुनाव किया है। जिन्होंने यह व्रत लिया है कि वे खेती करके, पशुओं का पालन करके, तथा भांति-भांति के व्यवसाय चला कर राष्ट्र-निवासियों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विविध पदार्थों का निर्माण करेंगे और व्यापार करके इन पदार्थों को राष्ट्र-निवासियों तक पहुँचायेंगे ; जिन्होंने यह व्रत लिया है कि वे तरह-तरह के उद्योग-धन्धे करके राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति को बढ़ायेंगे—ऐसे स्वार्थविहीन राष्ट्र-हितैषी व्यवसाय-व्यापार करने वाले पुरुषों को वैश्य कहते हैं। हमारे राष्ट्र में कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने यह वैश्य बनने का निश्चय किया है।

और इनमें से कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने शूद्र वर्ण का चुनाव किया है। जिन्हें शिक्षणालयों में भेज कर खुला अवसर दिया गया कि वे विद्या सीख कर और अपनी शक्तियों का विकास कर के चाहें तो अपने को ब्राह्मण बना लें, चाहें तो क्षत्रिय बनालें और चाहें तो वैश्य बनालें, फिर भी बुद्धि-शक्ति की कमी होने के कारण जो इन तीनों वर्णों में से किसी की भी योग्यता अपने भीतर पैदा नहीं कर सके—उन लोगों को शूद्र कहते हैं। शूद्र वे लोग हैं जो ऐसे कार्य नहीं कर सकते जिनमें बुद्धि की, विचार की, समझ की, विशेष आवश्यकता पड़ती है; जो भार उठाना, बरतन मांजना, झाड़ू लगाना, रोड़ी कूटना आदि ऐसे साधारण काम ही कर सकते हैं जिनमें बुद्धि की विशेष आवश्यकता नहीं होती। जो लोग विशेष पढ़ लिख न सकने के कारण शूद्र रह जाते हैं वे शेष तीनों वर्णों के लोगों की सेवा का काम अपने लिये चुन लेते हैं और यह सेवा का काम असूयारहित, ईर्ष्यारहित हो कर करते हैं। हमारे राष्ट्र में कुछ लोग इस प्रकार के शूद्र हैं।

हमारे राष्ट्र के ब्राह्मण-वृत्ति के लोग शिक्षणालयों और अनुसन्धानशालाओं का संचालन करते हैं, राज्य-सभाओं में जाकर राष्ट्र के लिये उपयोगी नियम और कानून बनाते हैं, न्यायाधीश बन कर विवादों को सुलझाते हैं, राज्य के मन्त्री बन कर राजा को राज्य-संचालन में सहायता देते हैं। राज्य-सूत्र ऐसे सत्य-परायण, तपस्वी, निःस्वार्थ और अपरिग्रह की वृत्ति वाले ब्राह्मणों के हाथ में

रहने से उसमें धन की प्रधानता नहीं रहती और इसी लिये उसमें धन-लिप्सा-जनित बुराइयें और भ्रष्टाचार नहीं पनप सकते। हमारे राष्ट्र के क्षत्रिय-वृत्ति के लोग राष्ट्र की पुलिस तथा सेनाओं में काम करते हैं और इस प्रकार राष्ट्र की रक्षा करते हैं तथा राज्य के अन्य प्रबन्ध-विभागों में काम करके राज्य का संचालन करते हैं। इस प्रकार राज्य का समग्र संचालन ब्राह्मण और क्षत्रिय-वृत्ति के लोग मिल कर करते हैं। हमारे राष्ट्र के वैश्य-वृत्ति के लोग ब्राह्मण और क्षत्रियों द्वारा संचालित राज्य में सुरक्षित रह कर भांति-भांति के उद्योग-धन्धे करके राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति को बढ़ाते हैं जिसके द्वारा राष्ट्र के सभी वर्णों के लोगों का पालन होता है। हमारे राष्ट्र के शूद्र-वृत्ति के लोग अपने शरीर से शेष तीनों वर्णों के लोगों की सेवा करते हैं। और इस प्रकार उन्हें राष्ट्र-हित के काम करने में सहायता देते हैं।

इस प्रकार इन चारों वर्णों के सहयोग से हमारी मातृभूमि खूब उन्नति कर रही है।

हमारे राष्ट्र में एक पांचवें[१] प्रकार के लोग और रहने हैं। वे लोग

१. यास्काचार्य ने निरुक्त में "पञ्चमानवाः" का अर्थ किया है—"निषाद-पञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः," अर्थात् ब्राह्मण आदि चार वर्ण और पांचवां निषाद। निषाद का अर्थ यास्क ने किया है—"निषण्णमस्मिन् पापकमिति", अर्थात् जो पाप में रत रहता है। हमें पांचवें मानव का यह अर्थ स्वीकार नहीं है। वेद में पंचजनाः या पंचमानवाः के ऐसे वर्णन आते हैं जिनमें पांचवें मानव का पापी अर्थ संगत नहीं हो सकता। एक जगह वेद में यजमान प्रार्थना कर रहा है कि "पंचजनाः मम होत्रं जुषध्वम्" (ऋग्० १० ।५३। ४), अर्थात् पांचों प्रकार के लोग मेरे यज्ञ में आकर बैठें। कोई गृहस्थ यजमान अपने यज्ञ में पापी पुरुष को बुलाना नहीं चाहेगा। एक स्थान पर सम्राट् का वर्णन करते हुए वेद में कहा है, "यत् पांचजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत, अस्तृणात् बर्हणा विपोऽर्यो मानस्य स क्षयः" (ऋग्० ८। ६३। ७), अर्थात् जब पांचों जनों से बनी प्रजा सम्राट् (इन्द्र) की पुकार लगाती है तो सम्राट् उनके हिंसक शत्रुओं को मार देता है और इस प्रकार वह स्वामी सम्राट् बुद्धिमान् पुरुषों के मान का आश्रय बनता है अर्थात् उनसे मान पाता है। पापी दुष्ट लोग सम्राट् को नहीं बुलाया करते, वे तो उससे बचा करते हैं। एक जगह वेद में आया है—"इन्द्रः···पंचजनाः सुशर्माणः स्ववसः

वे हैं जो अपने किसी विचार-भेद के कारण वेद-प्रतिपादित धर्म को तथा उसमें प्रतिपादित चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। वेद-प्रतिपादित धर्म और उसका चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त यद्यपि राष्ट्रिय उन्नति के लिये परम हितकारक हैं पर फिर भी अपने विचार-भेद के कारण ये लोग उन्हें स्वीकार नहीं करते। पर ये लोग इन सिद्धान्तों को न स्वीकार करते हुए भी स्वयं अच्छे लोग हैं, राज्य के सर्वहितकारी नियमों का पालन करते हैं, और राष्ट्र की सार्वजनिक उन्नति में सहयोग देते हैं। ये लोग भी हमारे राष्ट्र के अङ्ग हैं। इन पर वेद का धर्म और चातुर्वर्ण्य-सिद्धान्त स्वीकार न करने के कारण किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया जा सकता। इन्हें भी हमारे राष्ट्र में रहने की पूरी स्वतन्त्रता है। हमारे राष्ट्र में दस्यु लोग दण्डित होते हैं—डाकू, चोर, लुटेरे, ठग और हत्यारे आदि दुष्ट वृत्ति के लोग दण्डित होते हैं। हमारे राष्ट्र में आर्य लोग दण्डित नहीं होते—सच्चरित्र, सज्जन और श्रेष्ठ वृत्ति के लोग दण्डित नहीं होते—चाहे विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में उनके विचार किसी प्रकार के क्यों न हों।

हे हमारी मातृभूमि! तेरी छाती पर हमारे राष्ट्र के ये पांचों प्रकार के लोग प्रेम से परस्पर मिल कर सुखपूर्वक रहते हैं और आनन्द से विचरण करते हैं। सूर्य प्रतिदिन उदय हो कर हमारे राष्ट्र के इन पांचों प्रकार के लोगों पर अपनी अमर ज्योति की वर्षा करता रहता है। अपने स्वास्थ्यप्रद, लम्बी आयु और शक्तिशाली जीवन प्रदान करने वाले, अमृतभरे प्रकाश और गरमी की उन पर धारा बहाता रहता है। और हमारे राष्ट्र के ये पांचों प्रकार के लोग अमृत की उस धारा में स्नान करके उससे पूरा लाभ उठाते रहते हैं।

सुनीथाः भवन्तु नः सुत्रात्रासः सुगोपाः" (ऋग्० ६। ५१। ११), अर्थात् इन्द्र आदि राज्याधिकारी और पांचों प्रकार के राष्ट्र के लोग हमारे लिये सुन्दर सुख देने वाले, अच्छी तरह रक्षा करने वाले, अच्छी तरह मार्ग दिखाने वाले, अच्छी तरह पालना करने वाले और अच्छी तरह संभाल कर रखने वाले हों। पापी लोगों में ये गुण नहीं हो सकते और न ही उनसे कोई ऐसी प्रार्थना कर सकता है। वेद से और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे पता लगेगा कि पंचजनाः के पांचवें जन का अर्थ पापी नहीं लिया जा सकता। पांचवें जन का वही अर्थ लेना चाहिये जो हमने ऊपर मंत्र की व्याख्या में किया है। पांचवें जन के अर्थ के सम्बन्ध में विस्तृत विचार हम अपने "वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त" ग्रन्थ में करेंगे।

भक्त के मुख से मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र की उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि उसके निवासी अपने लिये यह निश्चय कर लें कि वे अपने जीवन में किस प्रकार के कार्य करके राष्ट्र की सेवा करेंगे। उन्हें अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों में से किसी एक का चुनाव करना चाहिये और जीवन भर उस वर्ण के अनुसार कार्य करते हुए निःस्वार्थ भाव से राष्ट्र की सेवा करनी चाहिये। राज्य-प्रबन्ध ऐसा उत्तम होना चाहिये कि प्रत्येक बालक को अपनी रुचि के अनुसार ब्राह्मण आदि बन सकने की स्वतन्त्रता और तदनुकूल योग्यता प्राप्त करने के लिये खुला अवसर मिल सके। यदि विचार-भेद के कारण राष्ट्र में कभी ऐसे व्यक्ति भी हो जायें जो वेद के धर्म तथा चातुर्वर्ण्य-सिद्धान्त को स्वीकार न करते हों परन्तु यों अच्छे लोग हों और राज्य के सर्वहितकारी नियमों का पालन करते हों तो उन्हें भी राष्ट्र में रहने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। राष्ट्र के लोगों को सूर्य के प्रकाश और गरमी का खूब सेवन करना चाहिये। इसके लिये उन्हें खुले स्थानों में भ्रमण करना, खेलना और व्यायाम करना चाहिये। उनके रहने और काम करने के भवन ऐसे होने चाहियें जिनमें सूर्य का प्रकाश और गरमी खुले आ सकें। सूर्य के प्रकाश और गरमी का सेवन जीवन के लिये अमृत प्रदान करता है--शरीर को स्वस्थ और शक्तिशाली बनाता है तथा आयु लम्बी करता है।

१६

वाणी का मधु

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्राः।
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्॥

अर्थ—(ताः) वे (समग्राः) सब (प्रजाः) प्रजायें (नः) हमें (सं दुह्रताम्[१]) मिल कर सुख-मंगल-रूप दुग्ध से परिपूर्ण करें (पृथिवि) हे हमारी मातृभूमि! (मह्यम्) मेरे लिये (वाचः) वाणी की (मधु) मधुरता को (धेहि) धारण करो—प्रदान करो।

हे हमारी मातृभूमि! हमारे राष्ट्र का राज्य-प्रबन्ध ऐसा उत्तम हो और उस पर भगवान् की ऐसी कृपा हो कि हमारे राष्ट्र के ये

१. दुह प्रपूरणे धातोः लोटि प्रथमपुरुषे बहुवचनम्।

पञ्चमानव¹, हमारे राष्ट्र की ये पांचों प्रकार की सारी प्रजायें, हमारे राष्ट्र के ये सब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और इतर लोग परस्पर मिल कर हमारे राष्ट्र को सब भांति के सुख-मंगल-रूप दुग्ध से परिपूर्ण कर सकें।

राष्ट्र के सुख-मंगल की अभिवृद्धि उसी अवस्था में हो सकती है जबकि राष्ट्र के लोग सदा एक-दूसरे की सहायता करते हों, एक-दूसरे के काम आते हों। हमारे राष्ट्र का प्रत्येक प्रजा-जन दूसरे प्रजा-जनों से सहायता की आशा रखता है और आवश्यकता होने पर उनसे सहायता की याचना भी करता है। और वह दूसरे प्रजाजनों के प्रति अपना व्यवहार सदा इस प्रकार का रखता है कि उसकी आवश्यकता के समय दूसरे लोग उसकी सहायता करने के लिये खुशी से आकृष्ट होते हैं। हमारे सभी राष्ट्रवासियों का व्यवहार परस्पर के प्रति इसी प्रकार का रहता है।

हमारे राष्ट्र के लोगों में एक सबसे बड़ा गुण, जिसके कारण वे एक-दूसरे की सहायता करने के लिये सदा आकृष्ट होते हैं, यह है कि उनकी वाणी में मधु रहता है, उनकी वाणी में शहद रहता है, उसमें से माधुर्य और मिठास बरसता है। वे एक-दूसरे के साथ सभी प्रकार के व्यवहारों में और प्रत्येक समय, जो वाणी बोलते हैं वह बड़ी मीठी होती है। अपनी वाणी के इस मीठेपन से वे दूसरों को मोह लेते हैं, उन्हें अपना बना लेते हैं। इस स्नेहपूर्ण और शहद-भरी मीठी वाणी के बन्धन से वे दूसरों को अपने साथ बांध लेते हैं। उन्हें इस वाणी के बल से वे अपना मित्र बना लेते हैं। इस प्रकार हमारे राष्ट्र

१. मन्त्र के "ताः प्रजाः"—वे प्रजायें—इस कथन में ऊपर के पन्द्रहवें मन्त्र में वर्णित "पञ्चमानवाः"—पांच प्रकार के मनुष्यों—की ओर निर्देश है। प्रस्तुत मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि वे पांचों मानव हमारे राष्ट्र को सब प्रकार के सुख-मंगल-रूप दूध से परिपूर्ण करें। अब यदि पञ्चमानवाः के पाचवें मानव से अभिप्राय निषाद अर्थात् चोर, डाकू, लुटेरे आदि पापी पुरुष लिया जाये तो वह अर्थ प्रस्तुत मन्त्र की प्रार्थना से संगत नहीं होता। ये पापी पुरुष राष्ट्र को सुख-मङ्गल-रूप दूध से भरने में सहायक नहीं हुआ करते। वे तो सदा लूट-पाट आदि कुकर्म करके राष्ट्र के लोगों के जीवन को कष्ट-क्लेश-रूप विष से भरने का प्रयत्न करते रहते हैं। इस लिये पञ्चमानवाः में पांचवें मानव का अर्थ निषाद न लेकर वह लेना चाहिये जो हमने ऊपर पन्द्रहवें मन्त्र की व्याख्या में लिया है।

के ये पांचों प्रकार के सभी मानव एक-दूसरे के स्नेही मित्र बन कर रहते हैं। और इस स्नेह से खिंचा रहने के कारण वे आवश्यकता के समय दौड़ कर एक दूसरे की सहायता करने के लिये पहुंचते हैं।

हे मां ! तू हम राष्ट्रवासियों की वाणी में यह परस्पर को मोह लेने वाला मधु सदा भरती रहना। अपनी कृपा और प्रबन्ध-व्यवस्था ऐसी रखना कि हम राष्ट्रनिवासी सदा ही अपनी वाणी से शहद बरसाने वाले, माधुर्य प्रवाहित करने वाले, मिठास झरने वाले बने रहें।

मातृभूमि से इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि जो राष्ट्र अपने आपको सब प्रकार के सुख-मङ्गलों से परिपूर्ण रखना चाहता है उसके पांचों प्रकार के निवासियों को हर समय एक दूसरे की सहायता-सेवा करने के लिये उद्यत रहना चाहिये, सदा एक दूसरे के काम आना चाहिये और जिससे सब परस्पर की सहायता के लिए आकृष्ट हो सकें, इसके लिए सब को अपना एक दूसरे के प्रति बरताव मिठास-भरी वाणी का रखना चाहिये।

१७

धर्म का शासन

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनुचरेम विश्वहा॥

अर्थ—(विश्वस्वम्) सब को उत्पन्न करने वाली (ओषधीनाम्) सब प्रकार के अन्न-ओषधियों की (मातरम्[1]) माता अर्थात् निर्माण करने वाली (ध्रुवाम्) स्थिर रहने वाली (भूमिम्) सब को आश्रय देने वाली (धर्मणा) धर्म से (धृताम्) धारण की हुई (शिवाम्) कल्याण करने वाली और (स्योनाम्) सुख देने वाली (पृथिवीम्) अपनी मातृभूमि की (विश्वहा) सब प्रकार से

१. माता निर्माणकर्त्री। उणादिषु (२।९५) मा माने धातोः तृच्प्रत्यये कृते सिद्ध्यति। मातान्तरिक्षम्, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि। निरु० २।८॥ अनेन यास्काचार्यवचनेनापि मातृशब्दे माधातोर्निर्माणार्थो गृह्यते।

२. विश्वहा = विश्वधा। संख्याया विधार्थे धा (अष्टा० ५।३।४२) इति विश्वशब्दात् धा प्रत्ययः। धकारस्य छान्दसो हकारः। विश्वधा सर्वप्रकारेण इत्यर्थः। यद्वा विश्वशब्दात् सप्तम्यर्थे ह प्रत्ययः। छान्दसो दीर्घः। विश्वहा विश्वस्मिन् काले सर्वदा इत्यर्थः।

अथवा सदा (अनुचरेम) हम सेवा करते रहें।

हमारी मातृभूमि विश्वम्भू है। इसमें सब कुछ उत्पन्न होता है। वह ओषधियों की माता है। सब प्रकार के अनाज और जड़ी-बूटियें उसमें पैदा होती हैं। वह ध्रुवा है, स्थिर है। वह इतनी मजबूत और शक्तिशाली है कि उस पर आक्रमण करके कोई शत्रु उसे हिला नहीं सकता—अपने अधीन नहीं कर सकता। उससे टकराने वाला स्वयं चकनाचूर हो जायेगा। वह भूमि है। वह सब का आश्रय-स्थान है, सब को उससे आसरा और रक्षा मिलती है। वह धर्म से धारित है। उसके सब निवासी धर्म का आचरण करते हैं। उनके सब व्यवहार धर्मानुसार होते हैं। उनका प्रत्येक काम धर्म के, सत्य, न्याय, दया, अहिंसा, सहानुभूति और संयम आदि उदात्त अङ्गों से अनुप्राणित हो कर होता है। हमारी मातृभूमि का राज्य-प्रबन्ध भी धर्म पर अवलम्बित है। उसका सारा शासन-चक्र धर्म के अनुसार चलता है। उसके राज्याधिकारियों का सारा जीवन धर्म के सत्य, न्याय आदि ऊँचे अङ्गों से प्रेरित रहता है। इस धर्म-तत्त्व से अनुप्राणित हो कर ही वे प्रजाओं पर शासन करते हैं। हमारे राष्ट्र के धर्मानुप्राणित शासकों में स्वार्थ की भावना बिल्कुल नहीं रहती। वे तो प्रजा के कल्याण की कामना से उनका शासन-प्रबन्ध करते हैं। प्रजाओं के प्रति उनका व्यवहार माता-पिता की भांति पूर्ण स्नेह और हित-बुद्धि से भरा होता है। इस प्रकार हमारी मातृभूमि धर्म से धारित है—धर्म से रक्षित और पालित है। इसीलिये वह शिवा है। सब का कल्याण करने वाली है। और इसीलिये वह स्योना है। सब को सुख देने वाली है। उसके सब निवासी सदा सब प्रकार से उसकी सेवा करते हैं। उसकी उन्नति और अभ्युदय बढ़ाने के लिये वे सब प्रकार के उपाय करते हैं और सब प्रकार के कष्ट सहने के लिये उद्यत रहते हैं।

हे मां ! हम भी सदा सब प्रकार से तेरी सेवा करने के लिए तत्पर रहेंगे और तुझे शिवा और स्योना बना कर तुझ पर सानन्द विचरण करेंगे।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि जो लोग अपने राष्ट्र को उन्नत और समृद्ध बनाना चाहते हैं उन्हें अपने राष्ट्र की सदा सेवा करनी चाहिये। राष्ट्र में सब प्रकार के पदार्थ उत्पन्न करने का यत्न करना चाहिये। कृषि द्वारा सब तरह के अन्न-औषध, सब प्रकार के वनस्पति, अपने राष्ट्र में पैदा करने चाहियें। अपने राष्ट्र को, स्थिर, मजबूत, दृढ़ और शक्तिशाली बनाना चाहिये। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का आचरण धर्म से अनुप्राणित रहना चाहिये। राष्ट्र के राज्याधिकारियों को भी धर्मानुसार चलने वाला होना चाहिये और उन्हें

धर्मानुसार ही राष्ट्र का शासन करना चाहिये। इस प्रकार धर्म से धारित राष्ट्र ही प्रजाओं के लिये शिवकारी और सुखदायी बन सकता है।

१८

महान् राष्ट्र के महान् निवासी

महत्सधस्थं महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे।
महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥

अर्थ—हे मातृभूमि ! तू (महती) बड़ी है, और इसीलिये तू हम सब का (महत्) बड़ा (सधस्थम्) मिल कर रहने का आश्रय-स्थान (बभूविथ) बनी है (ते) तेरा (वेगः) वेग (एजथुः) चलना और (वेपथुः) हिलना (महान्) महान् है (त्वा) तुझे (महान्) महान् (इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली साम्राट् और परमात्मा (अप्रमादम्) प्रमादरहित हो कर (रक्षति) रक्षित करता है (भूमे) हे मातृभूमि ! (सा) वह तू (नः) हमें (हिरण्यस्य इव) सुवर्ण के से (संदृशि) रूप में (प्ररोचय) चमका दे (कश्चन) कोई भी (नः) हमसे (मा) मत (द्विक्षत) द्वेष करे।

हे हमारी मातृभूमि ! तू महती है—बड़ी महान् है। सब दृष्टियों से तू महान् है। तेरे निवासी शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति की दृष्टि से महान् हैं। वे सांसारिक धन-वैभव की दृष्टि से महान् हैं। विद्या-विज्ञान की दृष्टि से महान् हैं और चरित्र की दृष्टि से भी महान् हैं। अपने निवासियों की महत्ता के कारण हे हमारी मातृभूमि ! तू भी महान् बन गई है।

ऐसी महान् हे मातृभूमि ! तू हम सब का महान् सधस्थ[१] है। हम सब के मिल कर रहने का महान् स्थान है। तेरे ऊपर मिल कर रहते हुए हमारे राष्ट्र-निवासी परस्पर के सहयोग और सहायता से अपने आपको सभी दृष्टियों से महान् बनाते हैं और स्वयं महान् बन कर तुझे भी महान् बनाते हैं।

इस प्रकार महान् बनी हुई हे हमारी मातृभूमि ! तेरा वेग तथा तेरा एजथु और वेपथु, तेरा चलना और हिलना, भी महान् हो गया है। तेरी सभी प्रकार की गति-विधि महान् हो गई है। तेरी सभी प्रकार की हरकतों और चेष्टाओं

१. सधस्थम्=सहस्थानम्। सधस्थे सहस्थाने। निरु० ३। १५ ॥ सधमाधस्थयोश्छन्दसि (अष्टा० ६। ३। ९६) इति सहस्य सधादेशः।

में महत्ता है, उदात्तता है, श्रेष्ठता है, ऊँचापन है। तेरी चेष्टाओं में किसी प्रकार की क्षुद्रता और तुच्छता नहीं होती है। तू शक्ति की दृष्टि से भी महान् है। तेरी शक्ति बड़ी प्रचण्ड है। तेरी उस शक्ति के कारण तेरी चेष्टाओं को, तेरी गति-विधि को, कोई विरोधी शक्ति रोकने और उनमें बाधा डालने का साहस नहीं कर सकती।

महान् इन्द्र, हे हमारी मातृभूमि! तेरी रक्षा करता है। हम प्रजाओं द्वारा चुना हुआ हमारा सम्राट् और उसके अधीनस्थ सारा राज्य-प्रबन्ध तेरी रक्षा करता है। और यह रक्षा-कार्य हमारा वह इन्द्र प्रमादरहित होकर करता है। अपने इस रक्षा-कार्य में वह किसी प्रकार का प्रमाद, किसी प्रकार की सुस्ती, किसी प्रकार की ढील, किसी प्रकार की असावधानता नहीं आने देता। वह हर समय जागरूक, सतर्क, तत्पर और चौकन्ना रहकर तेरी रक्षा करता है। हमारा वह इन्द्र महान् है। उसमें शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सभी प्रकार की योग्यतायें महान् हैं। महान् योग्यताओं वाले हमारे इन्द्र और उसके योग्य राज्याधिकारियों द्वारा निरन्तर चौकन्ने रहकर तेरी रक्षा किये जाते रहने का परिणाम यह होता है कि तू भी महान् बन जाती है। तेरे अन्दर महान् वेग उत्पन्न हो जाता है। तू उन्नति के मार्ग पर बड़े वेग से आगे बढ़ने लगती है। तेरी सभी चेष्टायें, सभी गति-विधियें, महान् हो जाती हैं। कोई विरोधी शक्ति तेरे महान वेग और तेरी महान् गति-विधियों की राह में आकर खड़ी नहीं रह सकती।

महान इन्द्र अथात् महान् परमात्मा भी हे हमारी मातृभूमि! सदा तेरी रक्षा करता है। तेरे सारे निवासी परमात्मा में विश्वास रखते हैं, उसकी दोनों समय प्रेम में भर कर उपासना करते हैं। इस उपासना में उसके सत्य, न्याय, दया, उपकार, ज्ञान, बल और संयम आदि महान् गुणों का चिन्तन करते हैं और उसके इन गुणों का अपने साथ मिलान करते हैं। और इस प्रकार अपने अवगुणों को त्यागने का तथा परमात्मा के गुणों को अपने में धारण करने का संकल्प करते हैं। परमात्मा के इन पवित्र गुणों को धारण करके अपने छोटे क्षेत्र में परमात्मा जैसा बनने का प्रयत्न करते हैं। परमात्मा की उपासना द्वारा परमात्मा के गुण धारण करके परमात्मा जैसा बनने और उसकी आज्ञा मान कर चलने का परिणाम यह होता है कि हे हमारी मातृभूमि! तेरे निवासी और तुम सभी महान् बन जाते हो। तुम्हारे महान् बनने के प्रयत्नों में परमात्मा तुम पर कृपा और तुम्हारी सहायता करते हैं।

ऐसी महान् और ऐसे महान् इन्द्र द्वारा रचित हे हमारी मातृभूमि ! तू हमें चमका दे, तेजस्वी और कान्ति वाला बना दे । तू हमें हिरण्य के सदृर्शन[1] में, सुवर्ण के रूप में चमका दे । सुवर्ण की सी मनोहर कान्ति वाला, सुवर्ण का सा तेजस्वी तू हमें बना दे । तू हमें सभी दृष्टियों से सुवर्ण का सा रूप दे दे । तू हमें सब श्रेष्ठताओं, सब गुणों, का आगार सुवर्ण बना दे, कुन्दन बना दे ।

हे मां ! तू हमें ऐसा बना दे कि हम से कोई भी द्वेष न कर सके । हमारा औरों के प्रति व्यवहार और आचरण ऐसा उदार, ऐसा सहानुभूति से पूर्ण, ऐसा मधुर, ऐसा मिठास और शहद से भरा बना दे कि हम से कोई भी द्वेष न करे । हमारे सभी मित्र बन जायें, हमारा कोई भी शत्रु न रहे । और हे मां ! तू हमें वह प्रचण्ड शक्ति भी दे कि जिसके कारण हमारे प्रेम के व्यवहार को कोई विरोधी हमारी दुर्बलता समझ कर हमसे द्वेष और दुर्भावना के साथ बरताव करने का साहस न कर सके । यदि कोई विरोधी हमारे उदारता के व्यवहार को हमारी दुर्बलता समझने की भूल कर के हमारे प्रति द्वेष का आचरण करने लगे तो हमारे पास उसका दमन करने के लिये इतनी पर्याप्त और प्रचण्ड शक्ति हो कि उसे पता लग जाये कि उसका पाला किस के साथ पड़ा है । ऐसा महान् और दुर्धर्ष शक्तिशाली हे मां ! तू हमें बना दे ।

मातृभूमि की इस महत्ता के वर्णन और उससे इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि जो लोग अपने राष्ट्र को सब दृष्टियों से महान बनाना चाहते हैं उन्हें परस्पर प्रेम से मिल कर रहना चाहिये। उन्हें महान गुणों वाले व्यक्ति को अपना सम्राट् बनाना चाहिये और ऊंचे गुणों वाले व्यक्तियों को ही अपना राज्याधिकारी बनाना चाहिये। उन्हें परमात्मा के विश्वासी भक्त और उपासक बन कर परमात्मा के गुण धारण करके परमात्मा जैसा पवित्र बनना चाहिये और इस प्रकार परमात्मा की कृपा प्राप्त करनी चाहिये । राज्याधिकारियों को प्रमाद-रहित हो कर राष्ट्र की रक्षा का कार्य करना चाहिये । राष्ट्र-निवासियों का बरताव ऐसा मधुर होना चाहिये कि उनसे कोई भी द्वेष करने वाला न रहे। राष्ट्र के पास शक्ति भी इतनी प्रचण्ड रहनी चाहिये कि कोई विरोधी उसके उदारता और प्रेम के बरताव को कमजोरी समझ कर उससे शत्रुता करने तथा उसे हानि पहुंचाने का साहस न कर सके। राज्य-प्रबन्ध ऐसा उत्तम होना चाहिये कि सब प्रजा-जन सुवर्ण जैसी कांति वाले, कुन्दन जैसे गुणों वाले—महान और श्रेष्ठ बन सकें।

---

१. संदृशि=संदर्शने=स्वरूपे ।

१६

अग्नि से भरे हुए राष्ट्रवासी

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु ।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥

अर्थ—(भूम्याम्) हमारी मातृभूमि में (अग्निः) अग्नि है, इसकी (ओषधीषु) अन्न-ओषधियों में अग्नि है, इसके (आपः) जल (अग्निम्) अग्नि को (बिभ्रति) धारण कर रहे हैं, इसके (अश्मसु) पत्थरों में (अग्निः) अग्नि है, इसके (पुरुषेषु-अन्तः) पुरुषों में (अग्नि) अग्नि है, इसकी (गोषु) गौवों में, और इसके (अश्वेषु) घोड़ों में (अग्नयः) अग्नियें हैं।

हे हमारी मातृभूमि ! तेरे एक-एक व्यक्ति, एक-एक पशु और एक-एक पदार्थ में अग्नि भरा हुआ है, तेज भरा हुआ है। इसलिये कोई विरोधी शक्ति, कोई शत्रु, तेरा धर्षण नहीं कर सकता, तेरा पराभव नहीं कर सकता, तुझे अपमानित और निरादृत नहीं कर सकता, तुझे अपने अधीन नहीं कर सकता । जो कोई तेरा धर्षण करने आयेगा, तू उसे अपने भीतर के अग्नि से, अपनी तेजस्विता से, जला डालेगी।

हे मातृभूमि ! तेरे पुरुषों में, तेरे राष्ट्र-निवासियों में, वह अग्नि, वह तेजस्विता, तो है ही जिसके कारण कोई विरोधी शक्ति उनका धर्षण, उनका पराभव, अपमान और निरादर नहीं कर सकती । उनमें एक और भी अग्नि है । उनका वह अग्नि[1] है उनमें रहने वाली निरन्तर आगे बढ़ने की भावना, निरन्तर उन्नति करते रहने का दृढ़ संकल्प । इस अग्नि के कारण तेरे निवासी प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक दिशा में, आगे बढ़ रहे हैं—सर्वतोमुखी उन्नति कर रहे हैं और स्वयं उन्नत हो कर अपने राष्ट्र को भी उन्नत कर रहे हैं।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि जो राष्ट्र स्वतन्त्रता, मान और आदर का जीवन व्यतीत करना चाहते हैं उनके निवासियों को अग्निमय, तेजस्वी, बनना चाहिये। उनका राज्य-प्रबन्ध ऐसा होना चाहिये कि प्रत्येक राष्ट्र-निवासी शक्ति-सम्पन्न और तेजस्वी बन सके । प्रत्येक राष्ट्र-निवासी

---

१. अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवति । निरु० ७ । १४ ॥ अग्रणीः=अग्र + णी=अग्रे नयति। आकूतिः अग्निः (यजुः०११ । ६६), आकूतिः संकल्पः ।

के भीतर अपने राष्ट्र की तेजस्विता में गहरे विश्वास की वह भावना भरी जानी चाहिये जिसका चित्र मन्त्र में खेंचा गया है।

२०

राष्ट्र का अग्नि से भरा हुआ आकाश

अग्निर्दिव आतपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥

अर्थ—(दिवः) द्युलोक से, हमारी मातृभूमि पर (अग्निः) अग्नि (आतपति) आ कर तप रहा है, हमारा (उरु) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) आकाश (देवस्य) दिव्य गुण वाले (अग्नेः) अग्नि का है—अर्थात् हमारे राष्ट्र के आकाश में अग्नि व्याप रहा है (मर्तासः) हमारे राष्ट्र के मनुष्य (हव्यवाहम्) हव्य का वहन करने वाले और (घृतप्रियम्) घृत को चाहने वाले (अग्निम्) अग्नि को, अपने जीवनों में (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं।

हे हमारी मातृभूमि ! द्युलोक तेरे ऊपर सब ओर से अग्नि की वर्षा कर रहा है और उस अग्नि से तू निरन्तर तप रही है, तेजस्वी बन रही है। तेरे आकाश में भी अग्नि व्याप रहा है—तेरा आकाश भी तेजस्विता से भरा हुआ है। तेरे ऊपर रहने वाले मनुष्य भी, सब नर-नारी भी, अपने भीतर अग्नि को प्रदीप्त कर रहे हैं—अपने को शक्ति-सम्पन्न और तेजस्वी बना रहे हैं।

तेरे नर-नारियों में प्रदीप्त होने वाला अग्नि हव्यवाह [१] है। वह भांति-भांति के द्रव्य पदार्थों को वहन करके, प्राप्त करके, उनका सेवन करता है और उनसे प्रदीप्त होता है। खाने के लिये पेट में डाले जाने वाले तरह-तरह के भक्ष्य पदार्थ हव्य हैं और उनको पचा कर शरीर का अङ्ग बनाने वाला जाठराग्नि हव्यवाह अग्नि है। वह अग्नि घृत-प्रिय भी है। उसे घृत बहुत प्रिय है। वह घृत को और घृत से उपलक्षित दूध, दही आदि पौष्टिक पदार्थों को बहुत पसन्द करता है। इसलिये उस अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये हे मातृभूमि ! तेरे निवासी उसमें भांति-भांति के भोज्य-पदार्थ-रूप हव्य-पदार्थों की आहुति देते रहते हैं और घृत-दुग्धादि सात्त्विक पौष्टिक खाद्य पदार्थों की आहुति उसमें विशेष रूप से देते हैं। उनका जाठराग्नि इन सात्त्विक पुष्टिप्रद भोज्य पदार्थों का सेवन करके उन्हें

१. हव्यवाहम्—हव्यं वहतीति हव्यवाट् तम्। हव्यं होतुं दातुं योग्यम्। हु दानादनयोः। वह प्रापणे। जाठराग्नौ प्रक्षेप्तुं योग्यं भक्ष्य-पदार्थ-जातम्।

पचाकर राष्ट्र-निवासियों के शरीर का अंग बना देता है। जिससे उनमें बल, उत्साह, स्फूर्ति और कान्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार तेरे राष्ट्रवासियों के शरीर का जाठराग्नि घृत आदि हव्य पदार्थों का सेवन करके उनमें स्वास्थ्य, शक्ति, कान्ति, उत्साह और तेजस्वितारूप अग्नि को प्रदीप्त करता रहता है।

इस प्रकार हे हमारी मातृभूमि ! तुझ में और तेरे निवासी नर-नारियों में सब कहीं अग्नि-ही-अग्नि, तेज-ही तेज, व्याप रहा है। उस अग्नि, उस तेजस्विता, के कारण संसार की कोई विरोधी शक्ति तेरा धर्षण नहीं कर सकती, तेरा पराभव, अपमान और अनादर नहीं कर सकती।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि जो राष्ट्र स्वतन्त्र, स्वाभिमान और सन्मान का जीवन व्यतीत करना चाहता है उसके निवासियों में अग्नि प्रदीप्त रहना चाहिये, उन्हें तेजस्वी होना चाहिये। तेजस्विता उत्तम स्वास्थ्य से प्राप्त होती है। इस के लिये राष्ट्र के नर-नारियों को घृत-दुग्धादि सात्विक पुष्टिप्रद पदार्थों का प्रचुर मात्रा में सेवन करना चाहिये। उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिये राष्ट्र के नर-नारियों को खुले और कम वस्त्रों के साथ खुले आकाश में, खुले स्थानों में व्यायाम और भ्रमण करना चाहिये जहां द्युलोक से आने वाला अग्नि—गरमी और प्रकाश—उनके शरीरों के साथ खुले रूप में स्पर्श में आ सके। उनके रहने और काम करने के स्थान भी ऐसे खुले होने चाहियें कि उनमें द्युलोक की, सूर्य की, गरमी और प्रकाश यथेष्ट मात्रा में आ सकें। उत्तम स्वास्थ्य और तेजस्विता प्राप्त करने के लिये घृत-दुग्धादि भोज्य पदार्थों का और सूर्य के प्रकाश और गरमी का सेवन नितान्त आवश्यक है। राज्य को ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि प्रत्येक राष्ट्र-निवासी को घृत-दुग्धादि पौष्टिक पदार्थ खाने को मिल सकें। और सूर्य के प्रकाश से आलोकित खुले स्थान उन्हें रहने और काम करने के लिये प्राप्त हो सकें।

२१

अग्नि के वस्त्रों वाली मातृभूमि

अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु।

अर्थ—(पृथिवी) हमारी मातृभूमि (अग्निवासाः) अग्नि का वस्त्र ओढ़े हुए है, और इसी लिये (असितज्ञूः) अपने निवासियों को बन्धनरहित जतलाने वाली है, वह मातृभूमि (मा) मुझको (त्विषीमन्तम्) तेजस्वी, और (संशितम्) तीक्ष्ण (कृणोतु) कर देवे।

हे हमारी मातृभूमि ! तू अग्निवासाः[१] है। तूने अग्नि का वस्त्र ओढ़ा हुआ है। भला तेरे तेज और प्रताप के क्या कहने ! तू तो तेज के परिधान में लिपटी हुई है। तेरा पहरावा भी अग्नि का, तेरा बिछौना भी अग्नि का और तेरा ओढ़ना भी अग्नि का है। तुझ में सर्वतोमुखीन अग्नि है—तुझ में सब ओर तेजस्विता ही तेजस्विता है। किसी क्षेत्र और किसी दिशा में भी तुझ में तेज की कमी नहीं है। तेजस्वी होने के कारण हे हमारी मातृभूमि ! तू असितज्ञु[२] बन गई है। अपने प्रजा-जनों को, वे बन्धनरहित हैं, ऐसा जतलाने वाली, ऐसा प्रख्यापित करने वाली, बन गई है। क्योंकि हमारा राष्ट्र तेजस्वी है इसलिये उसका कोई भी अधिवासी बन्धन-युक्त नहीं हो सकता, ऐसी घोषणा मानो हमारा राष्ट्र सदा करता रहता है। हमारे तेजस्वी राष्ट्र के निवासियों को भला कौन बन्धन में डाल सकता है ? अपने राष्ट्र की तेजस्विता के कारण हमारे सब राष्ट्रवासी स्वाधीन हैं, स्वतन्त्र हैं, स्वछन्द हैं। उन्हें किसी प्रकार के बन्धन का भय नहीं है।

हे अग्नि के वस्त्रों को ओढ़ने वाली हमारी मातृभूमि ! तू हमें सदा त्विषीमान्[३]—प्रदीप्त तेज से युक्त—बनाती रहना। हमें सदा संशित[४]—पैना, तीक्ष्ण, चुभने वाला—बनाती रहना। हमें सदा वह प्रदीप्त तेजस्विता और तज्ज-नित तीक्ष्णता प्रदान करती रहना जिसे देख कर शत्रुओं के दिल दहलते रहें, वे हमारे राष्ट्र की ओर आंख उठा कर देखने का साहस न कर सकें, हमारे राष्ट्र-वासियों को किसी प्रकार के बन्धन में डालने की बात तक न सोच सकें। तेजस्वी नर-नारियों की यह परम्परा हे मां ! तू हमारे राष्ट्र में निरन्तर जारी रखना।

मातृभूमि के इस वर्णन और इससे इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि जो राष्ट्र स्वतन्त्रता, स्वाभिमान और सन्मान से जीना चाहते हैं उन्हें अग्नि के वस्त्र ओढ़ने वाला असीम तेजस्वी होना चाहिये। उनके अधि-

---

१. अग्निवासाः—अग्निः वासः वस्त्रं यस्याः सा अग्निवासाः।

२. असितज्ञुः—असितान् बन्धनरहितान् ज्ञापयति बोधयतीति असितज्ञुः। सर्वे मय्यधिवासिनो जना असिताः बन्धनरहिता इत्येवं प्रत्यहमाघोषयन्ती राष्ट्रभूमिः असितज्ञूः। सितः बद्धः बन्धनयुक्तः। षिञ् बन्धने। असितः बन्धनरहितः।

३. त्विषीमान्—त्विषी प्रदीप्तं तेजः। त्विष दीप्तौ। त्विषी अस्यास्ति इति त्विषी-मान्। प्रदीप्ततेजोयुक्तः।

४. संशितम्—संपूर्वात् शो तनूकरणे धातोः निष्ठारूपम्। सम्यक्तया तनूकृतम् तीक्ष्णीकृतम् संशितम् कुशाग्रवृत्तिम्।

वासियों को प्रदीप्त तेज और तीक्ष्णता से युक्त होना चाहिये। उसका राज्य-प्रबन्ध ऐसा उत्तम होना चाहिये कि उसमें रहने वाला प्रत्येक प्रजा-जन अभिमान से कह सके कि मैं प्रदीप्त तेजस्वी और तीक्ष्ण हूं। मेरा और मेरे राष्ट्र का कोई धर्षण नहीं कर सकता—हमें कोई पराभूत और अपमानित नहीं कर सकता।

उपर्युक्त तीनों मन्त्रों का समुदित, इकट्ठा, भाव यह है कि अपना कल्याण और सुख-समृद्धि चाहने वाले तथा स्वाधीनता और सन्मान का जीवन बिताना चाहने वाले लोगों को अपने राष्ट्र को सदा तेजस्वी बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। तेजोहीन राष्ट्रों के अधिवासी सदा दुःख में निमग्न और अपमानित रहते हैं तथा अपनी स्वाधीनता को भी खो बैठते हैं। राष्ट्र के मान और गौरव को अक्षुण्ण और सुरक्षित रखने के लिये राष्ट्र के जीवन में अग्नि-तत्त्व का, तेजस्विता का, रहना नितान्त आवश्यक है। अग्नि-विरहित, तेजो-विहीन, ठण्डे पड़गये, मुर्दा राष्ट्रों को सब कहीं अपमानित, निरादृत और पद-दलित होना पड़ता है। इस अग्नि-विहीनता से सदा बचना चाहिये। राष्ट्रिय जीवन में अग्नि-तत्त्व की महत्ता दिखाने के लिये उसका यहां लगातार तीन मन्त्रों में वर्णन किया गया है।

२२

देवों को हव्य देने वाले यजमान

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु॥

अर्थ—(भूम्याम्) हमारी मातृभूमि पर, हमारे राष्ट्र के प्रजा-जन (देवेभ्यः) देवों के लिये (यज्ञम्) यज्ञ और (अरंकृतम्) उत्तम रीति से तैयार किये हुए (हव्यम्) हव्य पदार्थों को (ददति) देते हैं (भूम्याम्) हमारी मातृभूमि पर (मर्त्याः) मरणधर्मा (मनुष्याः) मनुष्य (स्वधया) जल से और (अन्नेन) अन्न से (जीवन्ति) जीवन प्राप्त कर रहे हैं (सा) वह (भूमिः) हमारी मातृभूमि (नः) हमारे लिये (प्राणम्) प्राण को और (आयुः) आयु को, लम्बे जीवन को (दधातु) धारण करे—प्रदान करे (पृथिवी) विस्तार देने वाली हमारी मातृभूमि (मा) मुझे (जरदष्टिम्) वृद्धावस्था को प्राप्त करने वाला—दीर्घजीवी (कृणोतु) बनावे।

हमारे राष्ट्र के लोग देवों के लिये यज्ञ करते हैं और इन यज्ञों द्वारा भांति-भांति के उत्तम रीति से तैयार किये हुए पदार्थों को देवों तक पहुंचाते हैं। राष्ट्र-हित की भावना से किये जाने वाले विविध प्रकार के उद्योग-धन्धों, व्यवसाय-व्यापारों और अन्य संगठन के कार्यों को यज्ञ कहते हैं। इन यज्ञों को जारी रखने के लिये इनमें जो पदार्थ और सम्पत्ति लगाई जाती है वे भी हव्य[1] हैं, और इन यज्ञों द्वारा जो पदार्थ उत्पन्न किये जाते हैं वे भी हव्य हैं। राष्ट्र के विविध व्यवहारों में लगे हुए विद्वान् प्रजाजन देव कहलाते हैं। प्रजा के कुछ लोग कोई यज्ञ करते हैं और कुछ लोग कोई। प्रजा के एक समुदाय के लोगों द्वारा चलाये जा रहे एक प्रकार के यज्ञ से उत्पन्न पदार्थ जहां उस यज्ञ के संचालकों के काम आते हैं वहां अन्य प्रकार के यज्ञों को चला रहे लोगों के काम भी आते हैं। और अनेक अवस्थाओं में तो ऐसा होता है कि एक विशेष प्रकार के यज्ञ से उत्पन्न होने वाले पदार्थ उस यज्ञ के संचालकों के काम नहीं आते प्रत्युत वे दूसरे प्रकार के यज्ञों को चलाने वाले लोगों के ही काम आते हैं। इस प्रकार हमारे राष्ट्र के विविध कामों में कुशल प्रजाजन-रूप देवपुरुष अपने-अपने यज्ञों द्वारा उत्पन्न पदार्थों को दूसरे-दूसरे यज्ञों के संचालन में लगे हुए देव-पुरुषों तक पहुँचाते हैं। जिससे सबको सब से लाभ पहुँचता है। सब को खानेपीने, पहनने को मिलता है।

राष्ट्र के राज्यधिकारियों को भी देव कहते हैं। वे विविध प्रकार के राज्य-व्यवहारों में कुशल होने के कारण देव कहलाते हैं। प्रजाजन अपने यज्ञों द्वारा इन देवों को हव्य देते हैं। प्रजाजन भांति भांति के यज्ञ कर के जो पदार्थ या सम्पत्ति उत्पन्न करते हैं उसका एक निश्चित अंश राज्याधिकारियों को दिया जाता है जिसे प्राप्त करके राज्याधिकारी लोग राष्ट्र की राज्यव्यवस्था को चलाते हैं। सुन्दर चल रही राज्य-व्यवस्था के कारण राष्ट्र के सब लोगों को लाभ पहुँचता है। सबको भली प्रकार खाने-पीने, पहिनने को मिलता है।

जल,वायु, सूर्य आदि दिव्य गुणों वाले भौतिक पदार्थों को भी देव[2] कहते

---

१. होतुं योग्यं हव्यम्। हु दानादनयोः। यत्किञ्चित्पदार्थजातं क्वचिद्दीयते विनियुज्यते वा तत्सर्वं हव्यम्। दानार्थक हु धातु से हव्य शब्द बनता है। जो भी पदार्थ कहीं दिये जाते या विनियुक्त किये जाते हैं वे सब हव्य हैं। प्रकरणानुसार हव्य का अर्थ भिन्न-भिन्न होता रहेगा।

देवः—दीव्यति विविधं व्यवहरति इति देवः। दिवु क्रीड़ा-विजिगीषा व्यवहारा-दिष्वर्थेषु॥ देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा,द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। निरु० ७। १५॥ विद्वांसो हि देवाः। श० ३। ७। ३। १०॥

हैं। और यज्ञ का अर्थ अग्निहोत्र आदि यज्ञ भी होता है। अग्निहोत्र आदि यज्ञों में जो पदार्थ अग्नि में दिये जाते हैं उन्हें भी हव्य कहते हैं। इन हव्यों में जो पदार्थ होते हैं वे आयुर्वेद की दृष्टि से रोगनाशक, पुष्टिदायक और सुगन्धि-अर्थात् स्वच्छता-कारक होते हैं। यज्ञाग्नि द्वारा छिन्न-भिन्न और सूक्ष्म हो कर ये हव्य पदार्थ राष्ट्र के वायुमण्डल में फैल जाते हैं। इससे वायुमण्डल स्वच्छ हो जाता है और रोग-नाशक तथा पुष्टिदायक परमाणुओं से व्याप्त हो जाता है। ऐसे वायुमण्डल से जब वर्षा होती है तो उसके जल में भी ये गुण आ जाते हैं। इस प्रकार इन यज्ञों द्वारा राष्ट्र के जल और वायु स्वच्छ, नीरोग और पुष्टिदायक बन जाते हैं। इस जल-वायु में जो अन्न उत्पन्न होते हैं उनमें भी ये गुण आ जाते हैं। इस रीति से यज्ञों द्वारा शुद्ध, नीरोग और पुष्टिप्रद बने हुए जल, वायु और अन्न के सेवन से प्रजाजन भी नीरोग और पुष्ट हो जाते हैं। उन्हें जीवन प्राप्त होता है, उन्हें प्राण मिलता है, वे स्वस्थ तथा शक्तिसंपन्न हो कर दीर्घजीवी बनते हैं।

देव शब्द दिवु धातु से बनता है। इस धातु के अनेक अर्थ हैं जिनमें से एक अर्थ व्यवहार भी है। धातु के सब अर्थों को ध्यान में रख कर देव का एक सामान्य अर्थ यह होगा कि जो विविध प्रकार के व्यवहारों में कुशल हो। यास्काचार्य ने निरुक्त में देव शब्द को दानार्थक "दा" धातु से दीपनार्थक और द्योतनार्थक "दीप्" और "द्युत" धातु से, बना हुआ भी माना है। इन अर्थों को ध्यान में रखते हुए देव वह कहलायेगा जो अपनी शक्तियों का दूसरों के कल्याण के लिये दान करता है, जिसमें दीप्ति अर्थात् प्रकाश हो और जो अपने प्रकाश से औरों को द्योतित करता हो। यास्क ने देव का अर्थ द्युस्थान में, प्रकाशमय स्थान में, रहने वाला भी किया है। शतपथ ब्राह्मण ने देव का अर्थ विद्वान् भी किया है। इन सब अर्थों को ध्यान में रखते हुए वेद में प्रकरणानुसार देव के अनेक अर्थ हो जाते हैं। कहीं यह शब्द विविध व्यवहारों में लगे हुए विद्वान् प्रजा-जनों का वाचक होता है, कहीं विविध राज्यव्यवहारों में लगे हुए विद्वान् राज्याधिकारियों का वाचक होता है। कहीं यह अन्य प्रकार के विद्वानों का वाचक होता है। कहीं यह जल, वायु, अग्नि, विद्युत्, चन्द्र, सूर्य आदि जड़ देवों का वाचक होता है। कहीं इसके मन, इन्द्रिय आदि अर्थ होते हैं। देव का राजा अर्थ तो लौकिक संस्कृत साहित्य में भी प्रसिद्ध है। देव का एक पर्यायवाची विबुध भी होता है। विबुध का अर्थ पंडित या विद्वान् सारे संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध है।

इस प्रकार यज्ञों द्वारा हव्य प्राप्त कर के तीनों प्रकार के ये देव हमारे राष्ट्र के लोगों को स्वधा[1]—शक्तिदायक स्वच्छ जल—और खाने को पुष्टिप्रद अन्न प्रदान करते हैं। और स्वधा तथा अन्न से उपलक्षित अन्य जीवनोपयोगी वस्त्रादि पदार्थ भी उत्तम कोटि के प्रदान करते हैं।

ऐसे यजमानों और देवों से पालित और रक्षित हे हमारी मातृभूमि! तू हमें सदा प्राण और आयु देती रहना। तू हमारे लिये सदा ऐसी व्यवस्था करती रहना कि हम में से कोई भी छोटी आयु में प्राणों से वियुक्त न होने पावे। सब के सब जरदष्टि[2] अर्थात् बुढ़ापे को प्राप्त करने वाले, लम्बी आयु वाले, हम बन सकें, ऐसा उपाय हे मां! तू सदा करती रहना।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि प्रत्येक प्रजाजन को बुढ़ापे तक जीने वाला, लम्बी आयु वाला, बनना चाहिये। इस के लिये प्रजाओं को नीरोग और पौष्टिक अन्न-जल खाने-पीने को मिलना चाहिये। इन से उपलक्षित अन्य भोग्य पदार्थ भी उन्हें उत्तम कोटि के मिलने चाहियें। इस के लिये राष्ट्र में भांति भांति के उद्योग-धन्धे-रूप यज्ञ और अग्निहोत्र आदि यज्ञ होने चाहियें। यह सब हो सके इसका प्रबन्ध राज्य को करना चाहिये।

२३

मातृभूमि का दिव्य गन्ध

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु।
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥

अर्थ—(पृथिवि) हे हमारी मातृभूमि! (ते) तुम से (यः) जो (गन्धः) गन्ध (संबभूव) उत्पन्न हो रहा है (यं) जिस गन्ध को (ओषधयः) ओषधियें (बिभ्रति) धारण कर रही हैं (यं) जिसको (आपः) जल, धारण

१. स्वधा उदकनाम। निघं० १। १२॥

२. जरदष्टिः=(जॄष् वयोहानौ, अशू व्याप्तौ, अश भोजने) जरां वृद्धावस्थां पूर्णमायुः व्याप्तो यः सः (दयानन्दः यजुः० ३४। ५२ भाष्ये)। यद्वा जरता (जीर्यतेरतृन्। अष्टा० ३। २। १०४) जीर्णेन वृद्धेन अष्टिः व्याप्तिः प्राप्तिर्यस्याः सा वृद्धावस्था जरदष्टिः। सा विद्यते यस्य सोपि जरदष्टिः लक्षणया।

कर रहे हैं (यं) जिसको (गन्धर्वाः[१]) सुन्दर युवा लोग (च) और (अप्सरसः[२]) सुन्दर युवतियें (भेजिरे) प्राप्त कर रही हैं (तेन) उस अपने गन्ध से (मा) मुझ को भी (सुरभिं) सुन्दर गन्ध वाला (कृणु) बना दे (नः) हमको (कश्चन) कोई भी (मा) मत (द्विक्षत) द्वेष करे।

हे हमारे राष्ट्र की महिमाशालिनी भूमि ! तुम्हारा राष्ट्रिय शरीर जितना मनोहर है तुम्हारा भौतिक शरीर भी उतना ही मनोहर है। तुम्हारे भौतिक शरीर में दिव्य गन्ध रहता है। तुम्हारे शरीर का वह गन्ध-गुण बड़ा ही मनोमोहक है। वह हमारी घ्राणेन्द्रिय और मन को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। तुम्हारे उस गन्ध-गुण के कारण हमारा मन तुम्हारी ओर खिंच जाता है, हमारे हृदय में तुम्हारे लिये प्रेम उत्पन्न हो जाता है।

तुमने अपना वह गन्ध-गुण अपने तक ही सीमित नहीं रखा है। तुमने उसे खुले हाथों से अपने ऊपर उत्पन्न होने वाले पदार्थों और प्राणियों में बखेरा है। तेरे उस गन्ध से तुझ पर रहने वाले भी सब के सब गन्ध वाले बन गये हैं। तेरे ऊपर उगने वाली ओषधियों में भी तेरा वह गन्ध-गुण आया है। पर्वतों की चोटियों पर, जंगलों में और वाटिकाओं में उगने वाले नाना प्रकार के वृक्षों, पौदों और लताओं में, जो देखने वालों की आंखों और नासिका को अपने साथ बांध लेने वाले चित्र-विचित्र रङ्गों तथा अद्भुत गन्धों से युक्त भांति-भांति के पुष्पों की मालायें लटक पड़ती हैं, वे तुम से ही तो वह अपना मनोहर रूप और मोहक गन्ध प्राप्त करती हैं। उन में यह प्रेमोत्पादक आकर्षण तुम से ही तो आता है।

तुम्हारे ऊपर बहती हुई चांदी सी शुभ्र जल-धाराओं में,झरते हुए झरनों में, बरसती हुई बादल की झड़ियों में, पत्तों पर झलकती हुई ओस की मुक्ता-मालाओं में और पर्वत-शिखरों पर चढ़े हुए राजत हिम किरीटों में जो सरसता, जो मोहकता और अपने प्रति आकर्षण और प्रेम उत्पन्न करने का गुण है वह तुम से ही तो उन में आया है।

और इन बांके युवकों[३] और इन सुकुमारता की मूर्ति युवतियों में जो सौन्दर्य

१. गन्धर्वाः युवानः शोभनाः। १३।४।३।७॥

२. अप्सरसः युवतयः शोभनाः। श० १३।४।३।८

३. शतपथ ब्राह्मण में गन्धर्व का अर्थ सुन्दर युवक और अप्सरा का अर्थ सुन्दर युवतियें किया गया है। उसके अनुसार ऊपर व्याख्या की गई है। शतपथ में गन्धर्व सूर्य को भी कहा गया है (सूर्यो गन्धर्वः। श० ६।४।१।८) और

है, इन के अङ्ग-अङ्ग से जो लावण्य बरस रहा है, वह तुम से ही तो इन में आया है। इन के शरीर जैसे सुन्दर हैं इन के मन भी वैसे ही सुन्दर हैं। यह सब सौन्दर्य इन में हे मां! तुम्हारा ही दिया हुआ है। इन का सब गन्ध, इन के प्रति आकर्षण और स्नेह पैदा करने वाले इन के सब सरस और मोहक गुण, तुम ने ही इन में दिये हैं।

हे मां! अपने वनस्पतियों में, अपने जलों में, अपने युवकों और युवतियों में जो तूने गन्ध दिया है वह गन्ध मुझे भी दे दे। उस गन्ध से मुझे भी सुरभि कर दे। जिस प्रकार इन में गन्ध है, इन में आकर्षण है, और उस के कारण इन से प्रेम करने को जी चाहता है, उसी प्रकार मुझ में भी गन्ध उत्पन्न हो जाये, मुझ में भी आकर्षण हो जाये. मुझ से भी सब का जी प्रेम करने को तरसने लगे। मैं सब का प्यारा बन जाऊं, मैं सब के साथ मधुरता, स्नेह और मिठास का बरताव करूं, मैं अपने गुणों और व्यवहार से सब को अपनी ओर खींचने वाला बन जाऊं, सभी मुझ से प्रेम करने लगें। हे मां! मुझ पर और हम सभी राष्ट्रवासियों पर ऐसी कृपा करती रहना। हम सभी को दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला, अपना मित्र बनाने वाला, वह माधुर्य और मिठास-भरा व्यवहार-रूप गन्ध सदा देती रहना। जिससे कोई भी हम से द्वेष न करे। सब हमारे हितैषी और मित्र बन जायें।

इस मन्त्र में और अगले दो मन्त्रों में मातृभूमि का भक्त उस से जिस गन्ध की याचना कर रहा है उसका भाव समझ लेना चाहिये। वह गन्ध केवल सामान्य गन्ध नहीं है। इन मन्त्रों का गन्ध शब्द उन सब गुणों का प्रतिनिधि है जिन से दूसरे लोग हमारी ओर आकृष्ट होते हैं। गन्ध का शब्दार्थ होता है—"गां दधाति"—अर्थात् "जो किसी इन्द्रिय को अपनी ओर आकृष्ट करे।" लोक में यह शब्द घ्राणेन्द्रिय को, नासिका को, आकृष्ट करने वाले गन्ध-गुण में रूढ हो गया है। परन्तु इन तीनों मन्त्रों में यह शब्द इस विशिष्ट अर्थ में रूढ नहीं है। यहां यह मन को आकृष्ट करने वाले सभी गुणों को द्योतित करता है। भूमि पर पाये जाने

अप्सरा सूर्य-किरणों को भी कहा गया है (तस्य मरीचयोऽप्सरसः। श० ६। ४। १। ८)। वहां गन्धर्व वायु को भी कहा गया है (वातो गन्धर्वः श० ६। ४। १। १०) और साहचर्य से वायु की लहरों को अप्सरा कहेंगे। इन भौतिक अर्थों में भाव यह होगा कि जिस गन्ध को सूर्य और उसकी किरणें तथा वायु और उसकी लहरें प्राप्त करती हैं और अपने में प्राप्त करके इधर-उधर फैलाती हैं। सूर्य-किरणों और वायु के द्वारा ही गन्ध आकाश में सब ओर फैलता है।

वाले मट्टी,ओषधि,जल,वायु,कमल,युवक-युवति,स्त्री-पुरुष,अश्व और अश्वारोही वीर जन, मृग और हाथी तथा कन्या आदि, जिन का इन तीनों मन्त्रों में उल्लेख हुआ है, सभी में कुछ गुण ऐसे हैं जो दूसरे प्राणियों को उनकी ओर आकृष्ट करते हैं—उन से प्रेम करने को प्रेरित करते हैं। इन्हीं प्रेमोत्पादक गुणों को यहां गन्ध कहा गया है। गन्ध शब्द का प्रयोग करते-करते मन्त्रों में उस के स्थान पर जो भगः, रुचिः और वर्चः शब्दों का प्रयोग कर दिया गया है वह भी इसी बात का सूचक है। भग आदि शब्दों के अर्थ ऊपर मन्त्रों की व्याख्या में स्पष्ट कर दिये गये हैं। तीनों मन्त्रों के अन्तिम चरण की प्रार्थना—"हमसे कोई भी द्वेष न करे"—भी यही सूचित करती है कि इन मन्त्रों में गन्ध का अर्थ प्रेमोत्पादक गुण है। मन्त्रों की प्रार्थना का भाव यह है कि राष्ट्रवासियों में परस्पर के लिये तथा राष्ट्र-रूप में दूसरे राष्ट्रों के लिये गन्ध अर्थात् आकर्षण रहना चाहिये,जिस से सब सबसे प्रेम करें। कोई किसी से द्वेष न करे। राष्ट्रों की आदर्श उन्नति के लिये राष्ट्रवासियों में आपस में एक दूसरे के प्रति तथा राष्ट्र-रूप में दूसरे राष्ट्रों के प्रति स्नेह के, मधुरता के, प्रेम के, व्यवहार की इतनी अधिक महत्ता है कि उस का पूरे तीन मन्त्रों में वर्णन किया गया है।

मातृभूमि के इस कवितामय वर्णन और उस से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि सब राष्ट्रवासियों को अपने भीतर ऐसा आकर्षण, ऐसे सुन्दर गुण उत्पन्न करने चाहियें और अपना व्यवहार ऐसा मीठा रखना चाहिये कि सब उन से प्रेम करने लगें। कोई उन से द्वेष न करे—सब उन के मित्र बन जायें। राष्ट्रवासियों का आपस में एक दूसरे के प्रति भी ऐसा ही प्रेम का बरताव रहना चाहिये और राष्ट्र-रूप में दूसरे राष्ट्रों के प्रति भी उनका व्यवहार ऐसा ही मधुर रहना चाहिये।

२४

मातृभूमि का दिव्य गन्ध

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥

अर्थ—(यः) जो (ते) तेरा (गन्धः) गन्ध (पुष्करम्) कमल में (आविवेश) प्रविष्ट हो रहा है (पृथिवि) हे मातृभूमि ! (यं) जिस (गन्धम्) गन्ध को (सूर्यायाः) सूर्या के (विवाहे) विवाह में (अमर्त्याः) अमर शक्तियें (अग्रे) सब से

पहले (संजभ्रुः) लाती हैं (तेन) उस अपने गन्ध से (मा) मुझ को भी (सुरभि) सुन्दर गन्ध वाला (कृणु) बना दे (नः) हम को (कश्चन) कोई भी (मा) मत (द्विक्षत) द्वेष करे।

हे हमारी मातृभूमि ! तेरे सरोवरों में खिले हुए कमल के फूलों में जो मनोहर गन्ध है और उस के कारण उन में जो अपने प्रति आकर्षण तथा प्रेम उत्पन्न करने का गुण है वह तू मुझे दे दे । अमर सत्तायें सृष्टि के प्रारम्भ में सूर्या[१] के विवाह के समय जो गन्ध, जो आकर्षण, सूर्या में लाती रही हैं वह गन्ध, वह आकर्षण, भी हे मातृभूमि ! तू मुझे दे दे । कमलों के और सूर्या के इस गन्ध को, उन की ओर आकृष्ट करने वाले—उन से स्नेह करने के लिये प्रेरित करने वाले—उन के मधुर गुणों को प्राप्त करके मैं भी सुरभि बन जाऊँ, सुन्दर गन्ध वाला—अपनी ओर आकर्षण और प्रेम पैदा करने वाले गुणों वाला—बन जाऊँ। मेरी उस सुरभि के कारण—मेरे इन मधुर गुणों के कारण—कोई मुझ से द्वेष न करे । सब मेरे मित्र बन जायें।

हे मां ! यह सुरभि प्रदान करने की कृपा हम राष्ट्रवासियों पर सदा करती रहना। अपने इस प्रसाद को हमें सदा बांटती रहना।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह

१. वेद में सूर्या-सावित्री और सोम के विवाह के वर्णन आते हैं (देखो अथर्व० १४। १, २ सूक्त और ऋग्० १० । ८५ सूक्त) । ये वर्णन सूर्य की किरणों के चन्द्रमा में जाकर प्रकाशित होने के आलंकारिक वर्णन हैं। सूर्या=सूर्य की पुत्री, उस की कांति या किरणें, और सोम=चन्द्रमा। सूर्य-किरण और चन्द्रमा में जो आकर्षण है उसे यहां गन्ध के नाम से कहा गया है। अमर्त्य शब्द से यहां सूर्य, चन्द्र आदि मनुष्य की अपेक्षा से अमर सत्ताओं को कहा गया है। सूर्या सावित्री और सोम के विवाह के ये वर्णन मनुष्य-वधू और वर पर भी लगते हैं । विवाह-संस्कार में पढ़े जाने वाले मन्त्र इन्हीं प्रसंगों से लिये गये हैं। उस अर्थ में सविता उत्पादक पिता का वाचक हो जाता है और सूर्या आदित्य ब्रह्मचारिणी का । सूर्या-सावित्री=पिता की, विवाह के लिये तैयार, आदित्य ब्रह्मचारिणी कन्या । सोम=विवाह के लिये तैयार स्नातक वर। विवाह की उमर में पहुंची हुई, विवाह के लिये तैयार, अलंकृत वधू में जो आकर्षण होता है उसे यहां गन्ध नाम से कहा गया है । इस अर्थ में अपने उत्तम गुणों के कारण अपना यश और नाम अमर कर जाने वाले वधू और वर के माता-पिता आदि सम्बन्धियों को अमर्त्य कहा जायेगा।

उपदेश दिया है कि राष्ट्रवासियों में परस्पर के लिये और राष्ट्र-रूप में दूसरे राष्ट्रों के लिये गन्ध रहना चाहिये—आकर्षण और प्रेम रहना चाहिये। जिस से सब सब के मित्र हो जायें और कोई किसी से द्वेष न करे।

२५

मातृभूमि का दिव्य गन्ध

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः ।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु ।
कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज ।
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥

अर्थ—(पुरुषेषु) पुरुषों में, और (स्त्रीषु) स्त्रियों में (यः) जो (ते) तेरा (गन्धः) गन्ध है (पुंसु) पुरुषों में (भगः) जो सौभाग्यशालिता, और (रुचिः) कान्ति है (यः) जो गन्ध (अश्वेषु) घोड़ों में और (वीरेषु) वीर जनों में है (यः) जो गन्ध (मृगेषु) मृगों में (उत) और (हस्तिषु) हाथियों में है (भूमे) हे हमारी मातृभूमि ! (कन्यायाम्) कन्या में (यत्) जो (वर्चः) कान्ति है (तेन) उस गन्ध और कान्ति से (अस्मान्) हम को (अपि) भी (संसृज) जोड़ दे (नः) हम को (कश्चन) कोई भी (मा) मत (द्विक्षत) द्वेष करे।

हे हमारी मातृभूमि ! तेरे पुरुषों में और स्त्रियों में जो गन्ध है, जो आकर्षण है, वह तू मुझे दे दे। तेरे पुरुषों में जो भग है, जो छः[१] प्रकार का ऐश्वर्य है, उन में जो रुचि है, कान्ति है, शोभा और सौन्दर्य है, जिस के कारण उन की ओर सब की रुचि, सब का आकर्षण होता है वह भग और रुचि—कान्ति—तू मुझे भी दे दे। तेरे घोड़ों में और उन पर चढ़ने वाले अश्वारोही वीर पुरुषों में जो गन्ध है, उन में जो बांकापन है, उन में जो शौर्य और तेजस्विता है और इस के कारण उन में जो आकर्षण और अपने लिये प्रेम पैदा करने का गुण है तू वह मुझे भी दे दे। तेरे मृगों में और तेरे हाथियों में जो गन्ध है, जो आकर्षण और अपने लिये स्नेह पैदा करने का गुण है, तू वह मुझे भी दे दे। हे मातृभूमि ! तेरे राष्ट्र की छोटी-छोटी, भोली-भाली, मुग्ध, निर्दोष, फूल सी खिली हुई और पक्षियों सी चहकती हुई

१. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

कन्याओं में जो गन्ध है, जो आकर्षण है, बरबस अपनी ओर खेंच लेने का जो मधुर गुण है, वह तू मुझे भी दे दे।

इस गन्ध को पा कर मैं भी सुरभि बन जाऊं, सुगन्ध वाला बन जाऊं। मेरी सुगन्ध से सब प्राणी मेरी ओर आकृष्ट होने लगें। मेरे गुणों और स्नेहपूर्ण उदार भावों की सुगन्ध की लपटें सबको अपनी ओर खेंचने लगें। सब मेरे मित्र बन जायें। कोई भी मुझ से द्वेष करने वाला न रहे। हे मां! हम सभी राष्ट्रवासियों को तू इस प्रेम की गन्ध से सुरभित करती रहना। तेरी यह कृपा हम सब पर सदा बरसती रहे।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्रवासियों को परस्पर में एक दूसरे के प्रति और राष्ट्र-रूप में दूसरे राष्ट्रों के प्रति प्रेम, उदारता और मधुरता की सुगन्ध का बरताव करना चाहिये। जिस से सब सब के मित्र बने रहें, कोई किसी से द्वेष न करे। राष्ट्रों की आदर्श उन्नति और सुख-समृद्धि के लिये उन के अधिवासियों में परस्पर के प्रति इस प्रेम की भावना का रहना नितान्त आवश्यक है। इसीलिये इस भाव को गहरे रूप में अंकित करने के लिये इतने अद्भुत कवितामय ढंग से यह बात निरन्तर इन तीन मन्त्रों में कही गई है।

२६

मातृभूमि की उत्पत्ति

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः॥

अर्थ—(भूमिः) राष्ट्र की भूमि (शिला) शिला है (अश्मा) पत्थर है (पांसुः) धूल है (सा) वह (संधृता) सम्यक् प्रकार से धारण की गई हो कर (धृता) धारण की जाने पर (भूमिः) वास्तव में भूमि अर्थात् आश्रय-स्थान मातृभूमि बन जाती है (हिरण्यवक्षसे) सुवर्ण आदि हितकारी और रमणीय पदार्थों को अपनी छाती में धारण करने वाली (तस्यै) उस (पृथिव्यै) मातृभूमि के लिये (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैं करता हूं।

हमारे राष्ट्र की यह ऊपर-ऊपर से दीखने वाली भूमि क्या है? यह भूमि तो बड़ी-बड़ी शिलाओं का, पत्थरों का और धूल-मट्टी का एक बहुत बड़ा ढेर है। इससे अधिक यह और कुछ नहीं है। इस प्रकार ऊपर-ऊपर से इसके स्थूल भौतिक रूप

को देखने पर इस में मातृभूमित्व कुछ भी नहीं दीखता। परन्तु यही शिलाओं, पत्थरों और धूल-मट्टी का ढेर भूमि एक अवस्था में हमारी मातृभूमि बन जाती है। जब इसे राष्ट्रवासियों द्वारा संभृता बना कर, सम्यक प्रकार से धारण की हुई बना कर, भलीभांति संभाली हुई बना कर, धारण कर लिया जाता है, जब इसे मातृभूमि समझ लिया जाता है तथा इस पर उत्पन्न हुए सब मनुष्यों को इस के पुत्र समझ लिया जाता है और अत एव उन्हें अपना भाई मान लिया जाता है, उन के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख, उन के मानापमान को अपना मानापमान, उन की अवनति को अपनी अवनति और उन के उन्नति-अभ्युदय को अपना उन्नति-अभ्युदय समझ लिया जाता है और ऐसा समझ कर उन के सुख, मान, उन्नति और अभ्युदय को बढ़ाने के लिये वैसा ही प्रयत्न किया जाने लगता है जैसा कि अपनी जन्मदात्री मानवी माता के पेट से उत्पन्न हुए अपने सहोदर भाइयों की इन चीजों की अभि-वृद्धि के लिये किया जाता है, तब यह भूमि खाली शिलाओं, पत्थरों और धूल-मट्टी का ढेर न रह कर वास्तव में भूमि[१]—राष्ट्रवासियों को अपने ऊपर आश्रय देने वाली उनकी मातृभूमि—बन जाती है। उसके नमस्कार का विषय बन जाती है।

हम ने अपने राष्ट्र की इस भूमि को इसी प्रकार संभृता बनाया है, इसी प्रकार संभाल कर इस को धारण किया है। अब यह हमारे लिये निरा शिलाओं, पत्थरों और धूल-मट्टी का ढेर नहीं है। यह तो हमारी माता—हमारी मातृभूमि बन गई है। और हम इस पर उत्पन्न हुए सब राष्ट्र-निवासी आपस में भाई-भाई हैं। और यह हमारी मातृभूमि हम सब राष्ट्र-निवासियों के नमस्कार की आदर की, पात्र बन गई है।

हे मातृभूमि ! सोने-चान्दी से असंख्य हितकारी और रमणीय बहुमूल्य पदार्थों को अपने वक्षःस्थल में, अपनी छाती में, धारण करके रखने वाली हे हमारी माता ! तुझे मैं नमस्कार करता हूं। सौ-सौ बार नमस्कार करता हूं। मेरे नमस्कार को स्वीकार करो। हे माँ ! अपने ये दिव्य पदार्थ हम राष्ट्रवासियों के सुख-मंगल के लिये सदा देती रहना।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस में इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि मातृभूमि का मातृभूमित्व किसी राष्ट्र की स्थूल मट्टी में सम्बन्ध नहीं रखता। उसका सम्बन्ध हमारे मन से रहता है। मातृभूमित्व का भाव भौतिक

१. भवन्ति भूतानि अस्यामिति भूमिः। औणादिक. किन् मि प्रत्ययः (उणा० ४। ४५)। भू सत्तायाम्। सर्वेषां सत्तास्थानम् आश्रयस्थानम्।

नहीं है। यह भाव मानसिक है। जब हम अपने मन से किसी भूखण्ड में मातृत्व का आरोप कर लेते हैं तभी वह हमारे लिये मातृभूमि बनता है। फिरन्दर जातियों में यह मानसिक भाव नहीं रहता। वे किसी भूखण्ड को माता की भावना से नहीं देखते। इसीलिये कोई देश उन की मातृभूमि नहीं होता। यह हमारे अपने अधीन है कि हम कितने भूखण्ड को अपनी मातृभूमि समझें। हम जितने अधिक भूखण्ड के साथ चाहें मातृभूमित्व का भाव बांध सकते हैं। हम चाहें तो सारी धरती को ही अपनी मातृभूमि समझ सकते हैं और धरती के सभी देशों के निवासियों को अपना भाई समझ सकते हैं। और वेद की आन्तरिक प्रेरणा भी यही है कि हम सारी धरती को ही अपनी मातृभूमि समझें।

इस मन्त्र में यह भी उपदेश दिया गया है कि मनुष्यों को किसी न किसी भूखण्ड को अपनी मातृभूमि बना कर रहना चाहिये। उस भूमि के सब निवासियों को परस्पर भाइयों की तरह मिल कर रहना चाहिये और सब की उन्नति में सब को सहयोग देना चाहिये। अपनी मातृभूमि के प्रति सब में नमस्कार की भावना रहनी चाहिये। सब को अपने राष्ट्र के राज्य-प्रबन्ध का आदर करना चाहिये और उसके नियमों को पालन करने के लिये उद्यत रहना चाहिये। तभी वे अपनी राष्ट्रभूमि की छाती से हिरण्य-पदार्थों को प्राप्त करने और उन से अपना सुख-मंगल बढ़ाने में समर्थ हो सकेगें।

२७

राष्ट्र के वृक्ष और वनस्पतियें

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छा वदामसि॥

अर्थ—(यस्याम्) जिसमें (वृक्षाः) वृक्ष और (वानस्पत्याः[1]) वनस्पतियें (विश्वहा) सदा (ध्रुवाः) स्थिर हो कर (तिष्ठन्ति) खड़े हैं (विश्वधायसम्) सब को धारण करने वाली, और हमारे द्वारा (धृताम्) धारण की हुई (पृथिवीम्) अपनी मातृभूमि को (अच्छ) अच्छी तरह (आ वदामसि) हम अभिवादन-

१. वानस्पत्याः=वनस्पतयः। दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः (अष्टा० ४। १। ८५) इति छान्दसः स्वार्थे ण्यः प्रत्ययः।

करते हैं अथवा उस के गुणों का बखान करते हैं।

हमारी मातृभूमि का रूप बड़ा मनोहर है। उस ने हरित वर्ण के परम सुहावने वस्त्र ओढ़े हुए हैं। उस के ऊपर भांति-भांति के, अपनी ऊंचाई से गगन का चुम्बन करने वाले, अपनी शाखाओं के विस्तार से दिगन्त को व्याप्त करने वाले, दिन में भी अन्धकार सा उत्पन्न कर देने वाली सघन पत्रावली से परिवेष्टित, विशालकाय वृक्षों से भरे हुए जङ्गल खड़े हुए हैं। बड़े-बड़े वृक्षों के अतिरिक्त और भी अनेक तरह की वनस्पतियों—पौदों, झाड़ियों, जड़ी-बूटियों और घास आदि—से वह आच्छादित रहती है। उस में ये वृक्ष और वनस्पति सदा स्थिर हो कर रहते हैं। उस के वृक्षों, जंगलों और वनस्पतियों का कभी उच्छेद नहीं होने दिया जाता, उन्हें नष्ट नहीं होने दिया जाता। उन की यत्न से रक्षा की जाती है।

इन वृक्षों और वनस्पतियों से जहां हमारी मातृभूमि की शोभा बढ़ी रहती है वहां इन के कारण राष्ट्र को भांति-भांति के अन्य लाभ भी मिलते हैं। इन के कारण राष्ट्र में वर्षा अधिक होती है जिस से हमारे राष्ट्र में खेतियें खूब होती हैं और सदा सुभिक्ष रहता है, दुर्भिक्ष कभी नहीं पड़ता। इन की जड़ों के कारण भूमि में वर्षा का पानी देर तक संचित रहता है जिस के कारण नदी-नाले साल-भर प्रवाहित रहते हैं। इनकी जड़ों के ही कारण वर्षा के पानी के वेग से भूमि कट कर बहने नहीं पाती। इन वृक्षों, वनस्पतियों तथा इनके कारण होने वाली वर्षा के कारण राष्ट्र की भूमि का कोई भी भाग मरुस्थल नहीं होने पाता। इन के कारण गरमी की ऋतु में राष्ट्र का वायुमण्डल अपेक्षाकृत शीतल रहता है। इन से भांति-भांति की लकड़ी प्राप्त होती है जिस के द्वारा राष्ट्रवासियों के अनेक प्रकार के कार्य सिद्ध होते हैं। गाँवों और नगरों के समीप के जंगलों में राष्ट्र के पशु चरते हैं और इन पशुओं से दूध प्राप्त होता है जो राष्ट्रवासियों के लिये नितान्त आवश्यक है। इस लिये हमारे राष्ट्र में वृक्षों और वनस्पतियों की सदा रक्षा की जाती है। यह राष्ट्र की बहुमूल्य सम्पत्ति है। इस की यत्न से रक्षा और वृद्धि की जाती है।

इन वृक्षों और वनस्पतियों के कारण हमारी मातृभूमि 'विश्वधायाः'—सब को धारण करने वाली, सब की पालना और रक्षा करने वाली—बनी रहती है। हम अपनी 'विश्वधायाः'—राष्ट्र के सब नर-नारियों और पशु-पक्षियों का पालन-पोषण तथा रक्षण करने वाली—मातृभूमि का अभिवादन करते हैं और उस के गुणों का अभिमान से बखान करते हैं। उस की महिमा और गुणावली का बखान करते हुए हमारी जिह्वा कभी थकती नहीं है।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र में वृक्षों, बनस्पतियों और जंगलों की सदा प्रयत्न से रक्षा और वृद्धि की जानी चाहिये। राष्ट्र के वृक्ष और जंगल उस की अमूल्य संपत्ति होते हैं। उन के कारण राष्ट्र विश्वधायाः बनता है—सब का पालन-पोषण करने में समर्थ बनता है। प्रत्येक राष्ट्रवासी को अपने राष्ट्र के प्रति अभिवादन की भावना रखनी चाहिये। आदर से उसके राज्य-नियमों का पालन करना चाहिये और अपने राष्ट्र के गुणों का अभिमान से बखान करना चाहिये।

२८

अपने राष्ट्र में हमें कोई व्यथा नहीं है

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्॥

अर्थ—(उदीराणाः) उठते हुए (उत) और (आसीनाः) बैठे हुए (तिष्ठन्तः) खड़े हुए, और (दक्षिणसव्याभ्याम्) दाहिने और बांये (पद्भ्याम्) पैरों से (प्रक्रामन्तः) चलते हुए हम (भूम्याम्) अपनी मातृभूमि पर (मा) मत (व्यथिष्महि) व्यथा को प्राप्त होवें।

हम अपनी मातृभूमि के क्या गुण बखान करें! इस की महिमा और गुणावली कही नहीं जा सकती। हमारी मातृभूमि की व्यवस्था इतनी उत्तम है कि उस में हमें कहीं से किसी प्रकार की कोई व्यथा प्राप्त नहीं होती। उठते हुए, बैठे हुए, खड़े हुए, चलते हुए, किसी अवस्था में भी तो हमें अपनी मातृभूमि में कोई व्यथा, कोई कष्ट, प्राप्त नहीं होता। हम प्रत्येक अवस्था में सुख से ही रहते हैं।

हे मां! हमारे लिये इस सब अवस्थाओं में व्यथारहित, सब अवस्थाओं में सुख से पूर्ण, जीवन की व्यवस्था सदा करती रहना।

मातृभूमि के इस वर्णन से वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र का राज्य-प्रबन्ध इतना उत्तम और सुव्यवस्थित होना चाहिये कि उसमें प्रजा-जनों को चलते-फिरते और अपने व्यवहार-धन्धे करते हुए कहीं से किसी प्रकार का कष्ट प्राप्त न हो।

२६

शुद्ध, पवित्र और क्षमाशील राष्ट्र

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥

अर्थ—(विमृग्वरीम्) विशेष रूप से शुद्ध करने वाली अथवा विशेष रूप से अन्वेषण करने योग्य अथवा विशेष रूप से अन्वेषण करने वाली (क्षमाम्) सब कुछ सहन करने वाली (भूमिम्) सब को आश्रय देने वाली (ब्रह्मणा) वेद-ज्ञान, ब्राह्मण लोगों और परमात्मा द्वारा (वावृधानाम्) बढ़ने वाली (ऊर्जम्) बलदायक रसीले पदार्थों को (पुष्टम्) पुष्टिकारक पदार्थों को (अन्नभागम्) भोज्य-पदार्थों को और (घृतम्) घृत को (बिभ्रतीम्) धारण करने वाली (पृथिवीम्) विस्तार और ख्याति देने वाली मातृभूमि को (आवदामि) मैं आवाहन करता हूँ अथवा उस के गुणों का बखान करता हूँ (भूमे) हे मातृभूमि ! (त्वा) तुझ पर, हम (अभिनिषीदेम) सदा आसरा लेते रहें ।

हे हमारी मातृभूमि ! तू विमृग्वरी[1] है । तू हम सब राष्ट्रवासियों को शुद्ध करने वाली है । साधारण रूप में नहीं, तू हमें विशेष रूप में शुद्ध करती है । हमारे अन्दर रहने वाली तेरे प्रति मातृत्व की बुद्धि हम प्रजाजनों में परोपकार के, एक दूसरे की हित-साधना के, भाव जगाती है और इन भावों को जगा कर हमारे स्वार्थ-परायणता के भावों का नाश कर देती है । इस प्रकार तू हमारे लोभ,लालच, स्वार्थ-सिद्धि आदि के निन्दित और अपवित्र भावों को मार कर उनके स्थान में सहानुभूति,पर-दुःख-कातरता, परोपकार-वृत्ति आदि के सुन्दर और पवित्र भावों को हमारे भीतर भर देती है । और इस तरह तू हमें विशेष रूप से शुद्ध करने वाली बन जाती है । हमारे राष्ट्र का राज्य-प्रबन्ध भी बहुत उत्तम है । राज्य की उत्तम व्यवस्था के कारण हमारे ग्रामों और नगरों का प्रबन्ध ऐसा सुन्दर रहता है और उन के निवासियों को रहन-सहन की ऐसी उत्तम शिक्षा मिलती है कि राष्ट्र निवासियों के शरीर,

---

१. विमृग्वरीम्=विशेषेण शुद्धिकरीम् । मृजूष् शुद्धौ । क्वनिप् (अष्टा० ३। २। ७५)। ङीप् नकारस्य रकारश्च (अष्टा० ४ । १ । ७) अथवा मृग अन्वेषणे । विमृग्यते विशेषेण अन्विष्यते इति विमृग्वरी ताम् । रूप-सिद्धि-प्रक्रिया सैव । केवलमत्र क्वनिप् प्रत्ययस्य भावे छान्दस. प्रयोग उन्नेयः। यद्वा विमृगयते विशेषेण अन्वेषणं कुरुते इति विमृग्वरी इति कर्त्तर्येव क्वनिमन्तव्यः ।

वस्त्र, भोजन के पात्र और खाद्य पदार्थ सब साफ-सुथरे और शुद्ध रहते हैं तथा उन के घर, गली-कूचे, सड़कें और नालियें भी सब साफ-सुथरी और शुद्ध रहती हैं। इस दृष्टि से भी हे मातृभूमि ! तू विमृग्वरी है।

और यह अपनी राष्ट्रभूमि को माता और उस के निवासियों को अपना भाई समझने की भावना, और इस भावना से उत्पन्न होने वाली उपकारशीलता आदि की पवित्र वृत्तियें राष्ट्रवासियों में अनायास ही उत्पन्न नहीं हो जातीं। इन्हें सीखने के लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ता है, विशेष मानसिक प्रयत्न से इन भावनाओं को जगाना पड़ता है। ये दैवी भावनायें आसुरी वृत्तियों के नीचे दबी पड़ी रहती हैं। उन के नीचे से इन्हें मानों अन्वेषण कर के, खोज कर के, बड़े यत्न से बाहर निकालना पड़ता है। इस लिये भी हे मातृभूमि ! तू विमृग्वरी है।

हे मातृभूमि ! तू अन्वेषण करने वाली होने के कारण भी विमृग्वरी है। हमारे राष्ट्र में नये-नये तत्त्वों का अन्वेषण होता रहता है, नई-नई चीजों की खोज होती रहती है, नये-नये आविष्कार होते रहते हैं,नने-नये ज्ञान उपलब्ध किये जाते रहते हैं. सत्य के अप्रकट पहलुओं को प्रकट किया जाता रहता है, इस दृष्टि से भी हे मातृभूमि ! तू विमृग्वरी है।

हे मातृभूमि ! तू क्षमा[१] है। तेरे अन्दर क्षमा करने की—सहने की—बड़ी शक्ति है। तू जहां अपने भौतिक शरीर के रूप में अपने ऊपर रहने वाले सब निवासियों की सारी बातों को सहती रहती है, वहां राष्ट्र-रूप में भी तू बड़ी क्षमाशील है। तेरे राज्य-प्रबन्ध द्वारा राष्ट्रवासियों को ऐसी शिक्षा दी जाती है जिस से वे क्षमाशील, सहनशील, बनते हैं। परस्पर के व्यवहारों में भी वे क्षमाशील रहते हैं, और राष्ट्रान्तर-सम्बन्धों में भी वे क्षमाशील रहने का प्रयत्न करते हैं। उन की इस वृत्ति से मानव-सम्बन्धों को शान्त और सुख-पूर्ण बनाने में सहायता मिलती है।

हे मातृभूमि ! तू भूमि तो है ही। तेरे ऊपर रहने वाले हम सब प्राणियों को आश्रय देने वाली, हमारी सत्ता को बचाने वाली और हमारी रक्षा करने वाली तो तू है ही।

हे मां ! तू 'ब्रह्मणा वावृधाना' है। तू ब्रह्म से बढ़ने वाली है। वेद-ज्ञान-रूप ब्रह्म से तू बढ़ती है। तेरे निवासी वेद-ज्ञान का अध्ययन करते हैं तथा वेद से उपलक्षित भांति-भांति के अन्य विद्या-विज्ञानों का भी अध्ययन करते हैं। इस वेद और अन्य विद्या-विज्ञान-रूप ब्रह्म का गहरा अध्ययन कर के तेरे राष्ट्र-निवासी अपना आचरण भी उस ज्ञान के अनुसार बिताने का प्रयत्न करते हैं। उन के इस ज्ञान और

१. क्षमा = क्षमते सहते इति क्षमा। क्षमाकर्त्री. सहनशीला। क्षमूष् सहने।

तदनुसार आचरण से हमारे राष्ट्र की खूब उन्नति होती है।

ब्राह्मण-रूप ब्रह्म से भी तू बढ़ती है। तेरे राज्य-प्रबन्ध द्वारा तेरे अन्दर ब्राह्मण-कोटि के नर-नारी तैयार करने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसे नर-नारी तैयार करने का प्रयत्न किया जाता है जो तपस्वी हों, संयमी हों, सत्य और अहिंसा के व्रती हों, न्यायपरायण हों, धन के लोभ-लालच से ऊपर रह कर अपरिग्रह-वृत्ति का आचरण करने वाले हों, स्वार्थ-सिद्धि से परे रहने वाले हों, परोपकार का जीवन बिताने वाले हों, उदार हों, क्षमाशील हों, भांति-भांति की विद्याओं के पण्डित हों, क्रियाशील हों, ईश्वर-भक्त हों—एक शब्द में जो पूर्ण रूप से धर्मशील हों। ऐसे ब्राह्मण-वृत्ति के महान् पुरुष हे मातृभूमि! सदा तेरी वृद्धि और उन्नति करने में लगे रहते हैं।

ईश्वर-रूप ब्रह्म से भी तू बढ़ती है। तेरे निवासी ईश्वर के विश्वासी और भक्त हैं। वे प्रतिदिन परमात्मा की उपासना में बैठ कर अपने आप को परमात्मा से अनुप्राणित करते हैं। परमात्मा से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। परमात्मा के गुणों का चिन्तन कर के उस के पवित्र गुणों को अपने भीतर धारण करते हैं और अपने सीमित क्षेत्र में परमात्मा जैसा दिव्य बनने का प्रयत्न करते हैं। ब्रह्म से, परमात्मा से, प्राप्त होने वाली यह प्रेरणा तेरे निवासियों को महान् बना देती है। और अपनी इस महत्ता द्वारा हे मातृभूमि! वे तुझे भी महान् बना देते हैं। उन की ब्रह्मविद्या और उन की आध्यात्मिकता तुझे भी खूब समृद्ध और उन्नत कर देती है। तू सचमुच में पृथिवी, विस्तार और ख्याति देने वाली, बन जाती है।

हे मातृभूमि! तेरे इन नामों से सूचित होने वाले इन सब कारणों से तू ऐसी समृद्ध बन जाती है कि तेरे किसी भी निवासी को ऊर्ज् की, बलकारक और रसीले पदार्थों की; पुष्ट की, पुष्टि-दायक पदार्थों की; खाने योग्य विभिन्न प्रकार के अन्नों की और घृत तथा दुग्ध की कमी नहीं रहती। हे माँ! तू हमें सदा ये पदार्थ देती रहना। हमें कभी इन की कमी न रहे। इन पदार्थों को प्राप्त कर के हम सदा सुख-पूर्वक तुझ पर बसते रहें।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्रवासियों को सब दृष्टियों से अपने आप को शुद्ध बनाना चाहिये। यह सार्वभौम शुद्धि प्राप्त करने के लिये उन्हें विशेष प्रयत्न करना चाहिये। राष्ट्र में नये-नये आविष्कार होते रहने चाहियें। राष्ट्रवासियों को क्षमाशील बनना चाहिये। राष्ट्र में वेद और अन्य भांति-भांति की विद्याओं का प्रचार होना चाहिये। राष्ट्र की शिक्षा ऐसी हो जो कि ब्राह्मण-कोटि के नर-नारी राष्ट्र में पैदा करने में सहायक हो। राष्ट्र में ब्रह्मविद्या का प्रचार कर के उन्हें आध्यात्मिक बनाया जाना

चाहिये। तभी राष्ट्र पूर्ण रूप से समृद्ध हो सकेगा। उस के निवासी सुख और शान्ति से रहेंगे तथा अन्य राष्ट्रों में ख्याति प्राप्त कर सकेंगे।

३०

हानिकारक व्यवहार हमें प्रिय नहीं हैं

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः।
पवित्रेण पृथिवि मोत्पुनामि ॥

अर्थ—(नः) हमारे (तन्वे) शरीर के लिये (शुद्धाः) पवित्र (आपः) जल, हमारी मातृभूमि पर (क्षरन्तु) प्रवाहित होते रहें (यः) जो (नः) हमारा (सेदुः) नाश करने वाला व्यवहार है (तं) उसको (अप्रिये) अप्रिय श्रेणी में (निदध्मः) हम रखते हैं (पृथिवि) हे मातृभूमि ! (पवित्रेण) पवित्र आचारण से (मा) अपने आपको (उत्पुनामि) मैं पवित्र करता हूँ।

हमारे राष्ट्र में राष्ट्रवासियों के शरीर के लिये सर्वत्र शुद्ध जल प्रवाहित हो रहे हैं। राष्ट्रवासी उन जलों में स्नान कर के अपने शरीरों को शुद्ध रखते हैं। उन में अपने वस्त्रों और पात्रों को धो कर उन्हें स्वच्छ रखते हैं। उन्हें पी कर अपने स्वास्थ्य की रक्षा और उन्नति करते हैं। प्रत्येक राष्ट्रवासी को साफ-सुथरा, प्रत्येक प्रकार की गन्दगी से रहित, शुद्ध जल यथेष्ट मात्रा में प्राप्त हो सके इस की व्यवस्था हमारे राष्ट्र ने कर रखी है।

जो सेदु[1] व्यवहार हैं, जो नाशकारी व्यवहार हैं, उन को हमारे राष्ट्रवासी अप्रिय श्रेणी में रखते हैं। जितने भी इस प्रकार के व्यवहार हैं जिन से कि व्यक्ति की किसी प्रकार की हानि और अवनति होती है, समाज को और राष्ट्र को किसी प्रकार का नुकसान पहुंचता है, उन सब व्यवहारों से हमारे राष्ट्र के लोग प्रेम नहीं करते। उन को वे अप्रिय श्रेणी में रखते हैं। उन से द्वेष करते हैं। उन्हें सदा अपने से परे रखते हैं। वे सदा ऐसे ही व्यवहार रखते हैं जिन से व्यक्ति और समाज की सदा उन्नति होती रहे।

---

१. सेदुः विशरणकारी अवसादनकारी नाशनकारी व्यवहारः। षद्लृ विशरण गत्य-वसादनेषु। कुर्भ्रश्च (उणा० १। २२) इति औणादिकः कुः प्रत्ययः। पृषोदरादि-त्वात् अकारस्य एकारः अभ्यासलोपश्च। सूत्रे चकारग्रहणादन्यधातुभ्योपि कुप्रत्ययो भवति धातोश्च द्वित्वम्॥

हमारे राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति सदा पवित्र आचरण करता है । और उस पवित्र आचरण से अपने आप को सदा पवित्र रखता है ।

हे हमारी मातृभूमि ! हम पर सदा ऐसी कृपा रखना कि हमें उपभोग के लिये शुद्ध जल प्राप्त होता रहे । हमारी शिक्षा-दीक्षा ऐसी रखना कि हम सब प्रकार के हानिप्रद और विनाशकारी व्यवहारों से दूर रहें और अपने आचरणों को पवित्र बना कर सदा पवित्र बने रहें ।

मातृभूमि और उस के निवासियों के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्रवासियों के स्वास्थ्य के लिये उस में सब को यथेष्ट परिमाण में शुद्ध जल मिल सकने की व्यवस्था होनी चाहिये । राष्ट्र के लोगों की शिक्षा-दीक्षा ऐसी होनी चाहिये जिस से कि वे सब प्रकार के हानिकारक और विनाशकारी व्यवहारों से बचे रह सकें और पवित्र आचरणों वाले हो कर पवित्र बने रह सकें । मन्त्र में बताये प्रकार से प्रत्येक राष्ट्रवासी को पवित्र बनने का दृढ संकल्प अपने मन में रखना चाहिये । आचरण की पवित्रता पर ही राष्ट्र की उन्नति और उसका अभ्युदय निर्भर करते हैं ।

३१

हमारे राष्ट्र की सब दिशायें सुरक्षित हैं

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद्याश्च पश्चात् ।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥

अर्थ—(भूमे) हे मातृभूमि ! (याः) जो (ते) तेरी (प्राचीः) पूर्व की ओर की (प्रदिशः) दूर-दूर तक फैली हुई दिशायें हैं (याः) जो (उदीचीः) उत्तर की ओर की (याः) जो (ते) तेरी (अधरात्) दक्षिण की ओर की (च) और (याः) जो (पश्चात्) पश्चिम की ओर की दिशायें है (ताः) वे सब (चरते) तुझ पर विचरण करते हुए (मह्यम्) मेरे लिये (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) हों (भुवने) इस तुम्हारे संसार में (शिश्रियाणः) आश्रय ले रहा मैं (मा) मत (निपप्तम्) उन्नति के पथ से पतित होऊं ।

हे मातृभूमि ! तेरे इस संसार में रहता हुआ मैं अपने स्थान से चाहे तो पूर्व की ओर कहीं दूर या समीप जाऊं और चाहे उत्तर की ओर, चाहे दक्षिण की ओर कहीं जाऊं और चाहे पश्चिम की ओर, तेरे ऊपर विचरण करता हुआ, चलता हुआ, मैं चाहे कहीं भी क्यों न जाऊं, तेरी प्रदिशायें—तेरे दूर-दूर तक फैले हुए

मार्ग मेरे लिये सुखदायी रहें। मुझे उन मार्गों पर चलते हुए कहीं भी किसी प्रकार का कोई कष्ट प्राप्त न हो। उन में रक्षा की ऐसी सुन्दर व्यवस्था हो। वे इतने साफ-सुथरे और अच्छे प्रकार बने हुए हों कि मैं उन पर कहीं भी ठोकर खा कर अथवा गढ़े में न गिर पड़ूं।

मातृभूमि से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र का राज्य-प्रबन्ध ऐसा उत्तम होना चाहिये कि उसमें एक दिशा से दूसरी दिशा में, एक भाग से दूसरे भाग में, जाते हुए प्रजा-जनों को किसी प्रकार का कष्ट और किसी प्रकार की विपत्ति प्राप्त न हो। राष्ट्र के विभिन्न मार्ग राज्य द्वारा पूर्ण सुरक्षित तथा सब प्रकार के आरामों से युक्त होने चाहियें। सब मार्ग साफ-सुथरे और भलीभांति बने हुए होने चाहियें।

३२

हमें किसी ओर से कोई शत्रु हिंसित नहीं कर सकता

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन्परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम्॥

अर्थ—(भूमे) हे मातृभूमि ! (नः) हमें (पश्चात्) पश्चिम की ओर से (मा) मत (नुदिष्ठाः) पीड़ा पहुंचा (पुरस्तात्) पूर्व की ओर से (मा) मत पीड़ा पहुंचा (उत्तरात्) उत्तर की ओर से (मा) मत पीड़ा पहुँचा (उत) और (अधरात्) दक्षिण की ओर से भी पीड़ा मत पहुँचा (नः) हमारे लिए (स्वस्ति) कल्याणकारिणी (भव) तू हो, (परिपन्थिनः[1]) मार्ग रोक कर प्रहार करने वाले शत्रु लोग हमें (मा) मत (विदन्[2]) प्राप्त करें (वधम्[3]) शस्त्रों और तज्जन्य हिंसा को (वरीयः[4]) अच्छी तरह अथवा दूर (यावय[5]) भगा दे।

हे मातृभूमि ! तेरे ऊपर चलते-फिरते हुए हमें पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण

---

१. परिपन्थिनः=पन्थानं मार्गमावृत्य स्थायिनः तस्करादयः अन्ये च शत्रवः। छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि (अष्टा० ५ । २ । ८९) इति साधुः।
२. विद्लृ लाभे धातो रूपम्। लभन्ताम्=प्राप्नुवन्तु।
३ वधम्=वधसाधनम् शस्त्रम्। वधो हिंसा शस्त्रं च।
४. वरीयः वरतरमुरुतरं वा। निरु० ८। ६॥ उरुतरं दूरतरम्।
५. यावय=वियोजय, दूरे कुरु। यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः।

कहीं से भी किसी प्रकार की पीड़ा प्राप्त न हो। हमें मार्गों में किसी प्रकार के परि-पन्थी—हमारा पथ रोक कर हम पर प्रहार करने वाले चोर, डाकू, लुटेरे आदि शत्रु—न पड़ें। उन के वधों से, शस्त्रों से, हमें किसी प्रकार का वध, किसी प्रकार की हिंसा, किसी प्रकार का कष्ट प्राप्त न हो। तू हमारे परिपन्थियों को और उन के शस्त्रों और उन से प्राप्त होने वाली हिंसा को हम से परे रख। उन से सदा हमारी रक्षा कर। और इस प्रकार तू सदा हमारे लिये कल्याण करने वाली बनी रह।

मातृभूमि से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र का राज्य-प्रबन्ध ऐसा उत्तम होना चाहिये कि उसके मार्गों पर चलते हुए प्रजा-जनों को कहीं भी रास्ते में पड़ने वाले चोर, डाकू और दूसरे शत्रुओं का भय प्राप्त न हो और उन की किसी प्रकार से भी हिंसा या घात न हो सके।

३३

आयु भर स्वस्थ रहने वाले चक्षु

यावत्तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम्॥

अर्थ—(भूमे) हे मातृभूमि! (यावत्) जब तक (मेदिना[१]) स्नेही (सूर्येण) सूर्य की सहायता से (ते) तुम्हें (अभिविपश्यामि) मैं चारों ओर देखता हूं (तावत्) तब तक (उत्तराम्-उत्तराम्) अगले-अगले (समाम्) वर्ष अर्थात् सदा (मे) मेरा (चक्षुः) चक्षु (मा) मत (मेष्ट[२]) नष्ट होवे।

हे मातृभूमि! तेरे ऊपर चमकने वाला सूर्य मेरा स्नेही मित्र है। वह अपने प्रकाश और गरमी से मेरा बड़ा हित करता है। उस अपने स्नेही सूर्य के प्रकाश की सहायता से हे मातृभूमि! मैं तेरे मनोहर रूपों को जीवन भर देखूंगा। और जब तक मैं तेरे रमणीय रूपों को देखता रहूं तब तक मेरा चक्षु, मेरी दर्शनशक्ति, क्षीण न होने पावे। मेरे जीवन के अगले-अगले सालों में भी, बुढ़ापे तक के सालों में भी, मेरी दर्शनशक्ति क्षीण न होने पावे। सारे जीवन-भर मेरी आँखें ठीक बनी रहें। ऐसी कृपा हे मां! तू मुझ पर करती रहना। आखें तो केवल उपलक्षण हैं। मेरी सारी इन्द्रियें ही बुढ़ापे तक स्वस्थ बनी रहें और अपना-अपना कार्य भले प्रकार

१ मेदिना=स्नेहिना। ञिमिदा स्नेहने।

२. मेष्ट—मीञ् हिंसायाम् धातोः लुङि प्रथमपुरुषस्यैकवचनम्। माङि अडभावः।

करती रहें, ऐसी कृपा हे मातृभूमि ! तू मुझ पर सदा करती रहना।

मातृभूमि से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र का राज्य-प्रबन्ध ऐसा उत्तम होना चाहिये कि उस में प्रत्येक प्रजा-जन सारी आयु-भर अपनी मातृभूमि के विविध रूपों को देख सके अर्थात् बुढ़ापे तक उस की दृष्टि ठीक बनी रहे। राष्ट्रवासियों के नेत्रों को ठीक रखने, नेत्रों के स्वास्थ्य की रक्षा करने और उन में विकार हो जाने पर उन की चिकित्सा करने की व्यवस्था राष्ट्र को करनी चाहिये।

३४

हम सुख की नींद सोते हैं

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत्पृष्टीभिरधिशेमहे।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि॥

अर्थ—(भूमे) हे मातृभूमि ! (यत्) जब (शयानः) सोता हुआ मैं (दक्षिणम्) दाहिने अथवा (सव्यम्) बायें (पार्श्वम्) करवट (अभि) की ओर (पर्यावर्ते) घूम कर लेटता हूं और (यत्) जब (प्रतीचीम्) पीछे की ओर पड़ी हुई (त्वा) तुझ पर हम (उत्तानाः) चित्त हो कर (पृष्टीभिः) अपनी पीठ की हड्डियों से (अधिशेमहे) सोते हैं (सर्वस्य) सब के (प्रतिशीवरि) सुलाने वाली (भूमे) हे मातृभूमि (तत्र) उस अवस्था में (नः) हमें (मा) मत (हिंसीः) हिंसित कर।

हे मातृभूमि ! तू राष्ट्र के हम सब लोगों की प्रतिशीवरी[1] है। तू हम सब को सुख की नींद में सुलाने वाली है। तेरे सब निवासी रात को निश्चिन्त हो कर आराम से सोते हैं। तेरा कोई निवासी ऐसा नहीं है जिसे किसी प्रकार की चिन्ता रहती हो और वह उस चिन्ता के कारण रात को सुख से न सो सकता हो। हमारे राष्ट्र में कोई गरीब नहीं है और गरीबी के कारण कोई भूखा-नंगा नहीं रहता है। सब

---

१. प्रतिशीवरी=सर्वस्य सुखं स्वापिका। शीङ् शयने। प्रतिपूर्वात् शेतेः शीङ्-क्रुशि-रुहि-जि-क्षि-सृ-धृभ्यः क्वनिप् (उणा० ४। ११४) इति औणादिकः क्वनिप् प्रत्ययः। ततः वनो र च (अष्टा० ४। १। ७) इति स्त्रियां ङीप् नकारस्य रकारश्च। सम्बोधने प्रतिशीवरि।

के पास पर्याप्त धन है और सब को यथेष्ट खाने-पहिनने को मिलता है। इस लिये हमारे राष्ट्र में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो निर्धनता की चिन्ता के कारण रात को सुख से न सो सकता हो। हमारे राष्ट्र में कोई बलवान् किसी निर्बल पर अत्याचार नहीं कर सकता। इस लिये हमारे राष्ट्र में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो अत्याचार से पीडित हो कर चिन्तावान् रहता हो और उस चिन्ता के कारण रात को बेफ़िक्र हो कर न सो सकता हो। सभी तेरे निवासी हे मां! रात को सर्वथा निश्चिन्त हो कर नींद की गोद में विश्राम करते हैं।

हे सब को सुख से सुलाने वाली हमारी मातृभूमि! जब हम रात को सोते हुए तेरे ऊपर दांई करवट से लेटे हों अथवा बांई से, अथवा चित्त हो कर पीठ के बल ही सो रहे हों, उस समय तेरे आश्रय में पड़े हुए हम को किसी प्रकार की हिंसा, किसी प्रकार का कष्ट प्राप्त न होने पावे। ऐसी कृपा हे मां! हम पर सदा करती रहना। ऐसी उत्तम व्यवस्था अपने राष्ट्र की सदा रखती रहना।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र का राज्य-प्रबन्ध ऐसा श्रेष्ठ होना चाहिये कि जब रात को राष्ट्रवासी अपने सोने के स्थानों में करवटें बदलते हुए आराम से सोते हैं तब उस अन्धकार के समय में उन्हें कहीं से किसी प्रकार का कष्ट प्राप्त न हो सके। मन्त्र में राष्ट्रभूमि को जो 'सर्वस्य प्रतिशीवरी'—सब को सुलाने वाली—कहा गया है उस का भाव यह है कि राष्ट्र में कोई भी निर्धनता, भूख, नगांपन और अत्याचार आदि द्वारा सताया हुआ दुखिया नहीं रहना चाहिये। दुखिया लोगों को रात में नींद नहीं आया करती। जिस राष्ट्र के सभी लोग रात को निश्चिन्त हो कर सो सकते हैं वही राष्ट्र आदर्श राष्ट्र कहा जा सकता है।

३५

हम अपनी भूमि की उपजाऊ-शक्ति नष्ट नहीं होने देते

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥

अर्थ-(भूमे) हे मातृभूमि! (ते) तेरे। (यत्) जिस स्थान को (विखनामि) मैं खोद डालूं (तत्) वह स्थान (अपि) भी (क्षिप्रं) शीघ्र ही (रोहतु) उग जाये अर्थात् रोहण शक्ति से, उपजाऊ-शक्ति से, युक्त हो जाये (विमृग्वरि) हे शुद्ध करने वाली अथवा अन्वेषण करने योग्य और अन्वेषण करने वाली (मा) न तो

(ते) तेरे (मर्म) मर्मस्थल को, और (मा) न ही (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (अर्पिपम्[१]) मैं हिंसित करूं।

हे मातृभूमि ! खेती करने के लिये हमें तेरी मट्टी को बहुत वार खोदना पड़ता है। परन्तु यह खोदने का कर्म हम ऐसी उत्तम रीति से करेंगे कि जब उस खोदे हुए स्थान में हम कुछ बोयेंगे तो वह शीघ्र ही उग आयेगा और बढ़ने लगेगा। अपने खोदने के कर्म द्वारा हम तेरी रोहण शक्ति को, उगने की शक्ति को, कभी नष्ट नहीं होने देंगे। तू सदा ही रोहण-शक्ति से युक्त बनी रहेगी। तेरे ऊपर निरन्तर एक के पश्चात् दूसरे वनस्पति उगते रहेंगे। तू सदा हरी चादर ओढ़े रहेगी। तू कभी ऊसर नहीं होने पायेगी। हमारे राष्ट्र के सभी कृषिकार इतने कुशल और विज्ञ हैं कि उन में से किसी का भी खनन-कर्म तेरी रोहण-शक्ति को, तेरे उर्वरापन को, नष्ट नहीं होने देता। प्रत्युत उसे और भी अधिक बढ़ा देता है।

हे मातृभूमि ! तेरे भीतर छिपे हुए सोना, चांदी,लोहा कोयला आदि पदार्थों के निकालने के लिये खानों के रूप में भी हमें तुझे खोदना पड़ता है। यह खोदने का कर्म भी हम ऐसी कुशलता से करेंगे कि तेरी रोहण-शक्ति, तेरा उपजाऊपन, कम से-कम खराब होने पावे। हमारे राष्ट्र के खानें खोदने वाले शिल्पी अपने विषय के इतने कुशल ज्ञाता हैं कि इन के इस खान खोदने के कर्म से तेरा कम-से-कम नुकसान होता है।

इस प्रकार हे मातृभूमि ! खेती और खानों के लिये हमें जो तुझे खोदना पड़ता है अपने उस खोदने के कर्म से हम तेरे मर्मस्थल को और हृदय को—तेरे प्राणयुक्त जीवनदायी स्थलों को, तेरे रोहण-शक्ति से, उपजाऊ-शक्ति से, भरे हुए कृषि-योग्य स्थानों को—हिंसित नहीं होने देते, नष्ट नहीं होने देते।

हे मातृभूमि ! तू विमृग्वरी है। शुद्ध करने वाली है। हमारे मनों में रहने वाली तेरे प्रति मातृत्व की भावना हमारे हृदयों को पवित्र बना डालती है। तू अन्वेषण करने योग्य और अन्वेषण करने वाली होने के कारण भी विमृग्वरी है। तेरे निवासी खेती करने के लिये कृषि योग्य भूमि का तुझ पर अन्वेषण करते हैं। और सोना, चांदी, लोहा, कोयला आदि प्राप्त करने के लिये इन पदार्थों की खानों का अन्वेषण करते हैं। खेती और खानों के लिये उन्हें जो खनन-कर्म करना पड़ता है उस से तेरी रोहण-शक्ति जिस से नष्ट न होने पावे, ऐसे उपायों का भी वे

१. अर्पिपम्=हिनसानि। ऋ गतौ हिंसायां च। णिचि पुकि लुङि रूपम्।

अन्वेषण करते रहते हैं—खोज और पता करते रहते हैं । हे मातृभूमि ! हम पर तेरी और भगवान् की सदा ऐसी कृपा हो कि हम तेरी रोहणशक्ति को, उपजाऊ-शक्ति को, कभी भी नष्ट न होने दें।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि कृषि के लिये अथवा खानों के लिये भूमि खोदने की आवश्यकता होने पर कृषि-विद्या और भूतल-विद्या तथा भूगर्भ-विद्या का ज्ञान प्राप्त करके राष्ट्र की भूमि को इस प्रकार खोदना चाहिये जिस से उस की उपजाऊ-शक्ति खराब न होने पावे। खानें खोदने के समय इस बात का भी ध्यान रखा जाये कि जितनी भूमि का खोदना नितान्त आवश्यक हो उतनी ही भूमि खोदी जाये, अधिक नहीं । नासमझ लोग खान आदि खोदते हुए आवश्यकता से कहीं अधिक भूमि को खोद कर खराब कर डालते हैं जिससे वह भूमि कृषि आदि के काम की नहीं रह जाती। ऐसा नहीं होने देना चाहिये।

३६

मातृभूमि की छः ऋतुयें

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥

अर्थ—(भूमे) हे मातृभूमि ! (ग्रीष्मः) ग्रीष्म (वर्षाणि) वर्षा (शरद्) शरद् (हेमन्तः) हेमन्त (शिशिरः) शिशिर, और (वसन्तः) वसन्त, ये (ते) तुम्हारी (ऋतवः) ऋतुवें हैं (ते), तुम्हारे (अहोरात्रे) दिन और रात (पृथिवि) हे मातृभूमि ! (विहिताः) व्यवस्थानुसार बने हुए (हायनीः[1]) अनेक वर्षों तक (नः) हमारे लिये (दुहाताम्) कामनाओं को पूर्ण करते रहें ।

१. विहिताः हायनीः—कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (अष्टा० २ । ३ । ५) इति द्वितीया। इस का अर्थ होगा—सुव्यवस्थित बने हुए अनेक वर्षों तक। 'ऋतवः' को स्त्रीलिंग का शब्द मान कर मन्त्र के 'विहिताः हायनीः' पदों को 'ऋतवः' का विशेषण भी माना जा सकता है। उस अवस्था में 'हायनीः' का अर्थ होगा 'साल-भर की' और 'विहिताः' का अर्थ होगा 'बनाई गई हैं'। भाव यह होगा कि हे मातृभूमि ! तेरी साल-भर की ग्रीष्म आदि छः ऋतुयें प्रभु द्वारा बनाई गई हैं, उन के दिन और रात हमारी कामनाओं को पूर्ण करते रहें।

हे हमारी मातृभूमि ! परमात्मा की व्यवस्थानुसार सूर्य के चारों ओर तेरे परिभ्रमण से बनने वाले प्रत्येक वर्ष में तेरे ऊपर क्रम से ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त ये छः ऋतुयें आती हैं । प्रत्येक ऋतु में अपने-अपने प्रकार के अनाज, फल, पुष्प तथा अन्य वनस्पतियें उत्पन्न होती हैं । जिन के कारण प्रत्येक ऋतु में हमारे राष्ट्र के नर-नारियों और दूसरे प्राणियों को नये-नये किस्म का सुख-आनन्द प्राप्त होता है । प्रत्येक ऋतु बारी-बारी से आ कर हे मातृभूमि ! तुम्हारी अद्भुत छटा-शोभा कर जाती है और तुम्हारे अधिवासियों को अद्भुत प्रकार के भोग्य पदार्थ दे जाती है । इन ऋतुओं में बारी-बारी से होने वाले तुम्हारे मनोमुग्धकारी चित्र-विचित्र रूप का क्या कोई वर्णन हो सकता है ? तुम्हारी उस समय की महिमा और विभूति का चित्र क्या शब्दों में खेंचा जा सकता है ?

हे मां ! हम पर ऐसी कृपा करती रहना जिस से तुझ पर आने वाली इन ऋतुओं से मिलने वाले सुखदायक, आह्लादकारी और मंगलप्रद विभिन्न पदार्थों से हमारे दिन-रात सदा निरन्तर प्रति वर्ष हमारी कामनाओं को पूर्ण करते रहें ।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र के निवासियों को यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये कि किस ऋतु में कौन-कौन वनस्पति उगते और बढ़ते हैं । यह ज्ञान प्राप्त कर के प्रत्येक ऋतु के अनुकूल खेती कर के अनाज और फल उत्पन्न करने चाहियें और पुष्प उत्पन्न कर के अपने घरों और उद्यानों को सुशोभित करना चाहिये । और इस प्रकार प्रति दिन इन ऋतुओं से लाभ उठाना चाहिये तथा अपने जीवन को समृद्ध, सुखी, प्रसन्न और आनन्दवान् बनाना चाहिये । वर्षों के 'विहिताः' विशेषण से यह भी ध्वनि निकलती है कि राष्ट्र के लोगों को अपनी साल-भर की जीवन-चर्या सुव्यवस्थित रीति से बना कर रखनी चाहिये ।

३७

इन्द्र का चुनाव

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः ।
परा दस्यून्ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् ।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥

अर्थ—(या) जो (विमृग्वरी) शुद्ध करने वाली और अन्वेषण करने योग्य तथा अन्वेषण करने वाली (पृथिवी) हमारी मातृभूमि (सर्पं) सांप की भांति

कुटिल चाल चलने वाले पुरुषों से (अप विजमाना) परे रहने वाली है (यस्याम्) जिस में (अग्नयः) वे अग्नियें हैं (ये) जो (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर (आसन्) रहती हैं, जो (देवपीयून्) देव-पुरुषों की हिंसा करने वाले (दस्यून्) दस्यु-पुरुषों को (परा ददती) परे करने वाली है, जो (इन्द्रं) ऐश्वर्यशाली सम्राट् और परमात्मा का (वृणाना) वरण करने वाली, आश्रय लेने वाली है (वृत्रम्) उन्नति के रोधक पाप अथवा पापी पुरुषों का वरण करने वाली (न) नहीं है, वह हमारी मातृभूमि (शक्राय) विभिन्न कार्य करने में समर्थ (वृषभाय) बलवान् (वृष्णे) अपने गुण और शक्तियों का औरों पर वर्षण करने वाले पुरुषों के लिये (दध्रे) धारण की गई है।

हमारी मातृभूम विमृग्वरी है, शुद्ध करने वाली है। राष्ट्र-निवासियों के मनों में रहने वाली उसके प्रति मातृत्व की भावना उन्हें पवित्र बना देती है। अपने राष्ट्र के प्रति यह मातृत्व की भावना और उस से उत्पन्न होने वाली स्वार्थ-त्याग आदि की भावनायें बड़े प्रयत्न से हृदयों में जागृत की जाती हैं, उन्हें एक प्रकार से प्रयत्नपूर्वक अन्वेषण कर के, खोज कर के, प्राप्त करना होता है, इस दृष्टि से भी मातृभूमि विमृग्वरी है। हमारे राष्ट्र में भांति-भांति के नये-नये आविष्कारों का अन्वेषण और अनुसन्धान होता रहता है, इसलिये भी हमारी मातृभूमि विमृग्वरी है।

यह हमारी विमृग्वरी मातृभूमि, हमें शुद्ध करने वाली और सत्य के नये-नये रूपों का अन्वेषण करते रहने वाली मातृभूमि, सर्पों से अपविजमान[1] रहती है। सर्प-प्रकृति के, जहरीली और कुटिल प्रकृति के, पुरुषों से परे हट कर रहती है। हमारे राष्ट्र में सर्प-प्रकृति के लोगों को नहीं रहने दिया जाता। हमारे राष्ट्र की राज्यव्यवस्था और उसकी शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार की आदर्श है कि पहले तो उस में सर्प-प्रकृति के कुटिल वृत्ति वाले लोग उत्पन्न ही नहीं होने पाते और यदि कभी उत्पन्न हो भी जाते हैं तो उन्हें दण्डित किया जाता है और कारागार आदि में रख कर उन्हें राष्ट्र की जनता से दूर रखा जाता है। हमारी विमृग्वरी—पवित्र भावना वाले प्रजाजनों से भरी हुई—मातृभूमि अपने अन्दर सर्प-प्रकृति के कुटिल पुरुषों को सहन नहीं कर सकती। उस की प्रकृति कुटिलता से घबराती है।

हमारे राष्ट्र में उन अग्नियों का निवास है जो कि जलों में रहा करती हैं। वर्षाकाल में आकाश के जलों में, बादलों में, जो अग्नि, जो विद्युत, चमका और

१. अपविजमाना । ओविजी भयचलनयोः । सर्पप्रकृतिकेभ्यः पुरुषेभ्यो दूरं चलन्ती ।

कड़कड़ाया करती है उस विद्युदग्नि को वश में कर के हमारे राष्ट्र ने उसे अपना निवासी बना रखा है। अन्य राष्ट्र-निवासियों की भांति वह विद्युत् भी दिन-रात हमारे राष्ट्र के हित-साधन और अभ्युदय-वृद्धि में लगी रहती है। वर्षा के जल को संचित कर के प्रपातों के रूप में उन की धारायें बहा कर, नदियों में बांध बांध कर प्रपात-रूप में उन के पानी को गिरा कर, और पर्वतों के स्वाभाविक प्रपातों को वश में कर के, इन सब के जलों के वेग से विशेष प्रकार के वैज्ञानिक यन्त्रों को चला कर हमारे राष्ट्र में उन से विद्युत् उत्पन्न की जाती है। अन्य साधनों से भी यन्त्र चला कर हमारे राष्ट्र में विद्युत् की उत्पत्ति की जाती है। फिर इस विद्युत् से उत्पन्न होने वाले प्रकाश से राष्ट्र-निवासियों के घरों को आलोकित किया जाता है। बिजली की गति देने की शक्ति से भांति-भांति के यन्त्र चला कर उन से राष्ट्र के लिये उपयोगी वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। इस की प्रसारण की शक्ति से दूर-दूर की बातों को सुनने और दूर-दूर के पदार्थों को देखने के यन्त्र बनाये जाते हैं। इस प्रकार इस विद्युदग्नि को वश में कर के उस से अनेक राष्ट्रोपयोगी कार्य लिये जाते हैं।

हमारी मातृभूमि देव-पीयु[1] लोगों को अपने से परे रखती है। जो लोग देव-प्रकृति के सज्जन पुरुषों की हिंसा करते हैं, उन्हें भांति-भांति के कष्ट देते और सताते हैं उन घातक, डाकू, चोर, लुटेरे, ठग, धोखेबाज आदि दस्यु लोगों को हमारे राष्ट्र में नहीं रहने दिया जाता। पहले तो ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि उत्तम शिक्षा-दीक्षा द्वारा राष्ट्र में ऐसे दस्यु पुरुष पैदा ही न होने पावें, पर फिर भी यदि कुछ ऐसे दुष्ट पुरुष पैदा हो जाते हैं तो उन्हें दण्डित किया जाता है। इस प्रकार उत्तम शिक्षा और दण्ड दोनों का सहारा ले कर हमारे राष्ट्र में से दस्यु पुरुषों को सदा हटाया जाता रहता है

हमारी मातृभूमि इन्द्र का, सम्राट् का, वरण करने वाली है। हमारे राष्ट्र में आनुवंशिक राज्य नहीं होता। हमारे राष्ट्र में राजा का वरण[2] होता है, उस का चुनाव होता है। हमारा यह चुना हुआ सम्राट् अपने उत्तम राज्य-प्रबन्ध द्वारा हमारे राष्ट्र को सर्प-प्रकृति के कुटिल पुरुषों और चोर, डाकू, लुटेरे आदि दस्यु

---

१. देवपीयुः = देव-प्रकृतिकानां साधुपुरुषाणां हिंसकः पीडयिता। पीयृ हिंसायाम्।

२. मन्त्र के मातृभूमि के "इन्द्रं वृणाना" विशेषण से स्पष्ट सूचित होता है कि राजा का वरण अर्थात् चुनाव होना चाहिये। वेद में राजा के चुनाव का वर्णन अन्य स्थलों में भी आता है। जैसे "त्वां विशो वृणतां राज्याय" (अथर्व ३ · ४। २) अर्थात् "हे राजन् ! प्रजायें राज्य करने के लिये तुम्हारा चुनाव करें।"

पुरुषों से रहित करने में प्रजाजनों की सहायता करता है। यह इन्द्र[1], यह सम्राट्, अपनी राज्य-व्यवस्था द्वारा पूर्वोक्त विद्युदग्नि को भी राष्ट्र में उत्पन्न करने और व्यापक बनाने के उपाय करता है और इस प्रकार राष्ट्र को समृद्ध बनाने के साधन जुटाता है।

हमारे राष्ट्र के सब अधिवासी परमात्मा के विश्वासी और भक्त हैं। उन के हृदय में हर समय परमात्मा का वास रहता है। प्रभु और उन की महिमा तथा उन के पवित्र गुण प्रति-क्षण उन के मन की आंखों के आगे रहते हैं। वे हर समय परमात्मा से अनुप्राणित रहते हैं। वे हर समय प्रभु के आश्रय में रहते हैं। उन की वृत्ति हर समय आध्यात्मिक रहती है। भला ऐसी आध्यात्मिक वृत्ति वाले पुरुषों से भरे हमारे राष्ट्र में सर्प-प्रकृति के कुटिल और दस्यु लोग कैसे टिके रह सकते हैं?

हमारे राष्ट्र में इन्द्र का ही वरण होता है। उस में राष्ट्र को भौतिक दृष्टि से ऐश्वर्यशाली बनाने वाले सम्राट् का और आध्यात्मिक दृष्टि से ऐश्वर्यशाली बनाने वाले परमात्मा का ही वरण होता है। हमारे राष्ट्र में वृत्र[2] का वरण नहीं होता। उस में उन्नति के रोधक पाप और पापी पुरुषों का वरण नहीं होता। पाप और पापी पुरुष हमारे राष्ट्र में पसन्द नहीं किये जाते। हमारे राष्ट्र में इन वृत्रों को सदा अपने से दूर रखा जाता है।

हमारी मातृभूमि बड़ी उत्तम रीति से धारित है। उस की सब व्यवस्थायें ठीक चल रही हैं, उस के सब कार्य भले प्रकार से हो रहे हैं। वह शक्र है, शक्ति-सम्पन्न है। उस के निवासी सुखी हैं, सुरक्षित हैं। हमारी मातृभूमि के इस प्रकार धारित होने का कारण यह है कि उसके सब निवासी शक्र[3] हैं—भिन्न-भिन्न

---

१. इन्द्र वेद में सम्राट् और परमात्मा का वाचक होता है। इस सम्बन्ध में कुछ प्रमाण ऊपर छठे मन्त्र की व्याख्या में २० पृष्ठ पर ३ संख्या की टिप्पणी में दिये गये हैं। वेद में इन्द्र शब्द विद्युत् का वाचक भी होता है। यदशनिरिन्द्रस्तेन। कौ० ६।६॥ स्तनयित्नुरेवेन्द्रः। श०११।६।३।६॥ इन ब्राह्मण-वाक्यों में इन्द्र का अर्थ बिजली किया गया है। प्रस्तुत मन्त्र के द्वितीय चरण में विद्युत् का वर्णन है। राष्ट्र में विद्युत् की व्यवस्था करने वाले सम्राट् के लिये इन्द्र शब्द का, जो कि विद्युत् का भी वाचक है, प्रयोग कितना भावपूर्ण है!

२. वृत्रम्=उन्नतेरावरकं पापं, पापिष्ठं पुरुषं वा। वृञ् आवरणे धातोः औणादिकः रक् प्रत्ययः।

३. शक्रः=शक्नोति विविधकर्माणि कर्तुम् इति शक्रः। शक्लृ शक्तौ धातोः औणादिकः (उणा० २।१३) रक् प्रत्ययः।

प्रकार के कार्य करने में समर्थ हैं। वृषभ[1] हैं—बलवान् हैं। और वृषा[2] हैं—अपनी शक्ति और गुणों का दूसरों के कल्याण के लिये वर्षण करने वाले परोपकारी हैं। इन गुणों के धनी हो कर हमारे राष्ट्र के लोगों ने अपने राष्ट्र को धारित कर रखा है।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि जो लोग अपने राष्ट्र की उन्नति चाहते हैं उन्हें अपने राष्ट्र में सर्प और दस्यु-प्रकृति के लोग नहीं रहने देने चाहियें। राष्ट्र में आनुवंशिक राजा नहीं होना चाहिये, राजा का चुनाव होना चाहिये। राष्ट्रवासियों को ईश्वरविश्वासी होना चाहिये। उन्हें सब प्रकार के पापों से बच कर रहना चाहिये और पापी पुरुष राष्ट्र में उत्पन्न न हो सकें इस का उपाय करना चाहिये। राष्ट्र के लोगों को विभिन्न प्रकार के काम करने में समर्थ, बलवान् और परोपकारी होना चाहिये[3]।

३८
अनेक कमरों वाले निवास-गृह

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस मातृभूमि पर (सदोहविर्धाने) रहने और अन्न

---

१. वृषभः=वृषभ इव बलवान्।

२. वृषा=वर्षति इति वृषा। वृषि धातोः औणादिकः (उणा० १। १५६) कनिन् प्रत्ययः। स्वशक्तीनाम् परोपकाराय वर्षणकर्ता। चतुर्थ्येकवचने वृष्णे इति रूपम्।

३. मन्त्र के "अप सर्पं विजमाना" शब्दों से एक ज्योतिषशास्त्र-सम्बन्धी भाव भी निकल सकता है। भौतिक अर्थ में पृथिवी के सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण के प्रकार पर इन शब्दों से प्रकाश पड़ता है। इन्द्र सूर्य को भी कहते हैं। यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः। श० ८। ५। ३। २॥ एष एवेन्द्रः य एष तपति। श० १। ६। ४। १८॥ इत्यादि ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन्द्र का अर्थ सूर्य भी किया गया है। पृथिवी इन्द्र का, सूर्य का वरण कर के उस की प्रदक्षिणा करती है। किस प्रकार वह सूर्य के चारों ओर फिरती है ? कहा—"अपसर्पम्" अर्थात् सूर्य से दूर रह कर, "विजमाना," अर्थात् अपने मार्ग पर कांपती हुई, थोड़ा-थोड़ा इधर-उधर होती हुई, वह सूर्य के चारों ओर चलती है।

रखने के हमारे स्थान हैं (यस्याम्) जिस पर (यूपः) यज्ञ-यूप (निमीयते) रचा जाता है (यस्याम्) जिस पर (यजुर्विदः) यजुर्वेद के रहस्य को जानने वाले (ब्रह्माणः) ब्राह्मण लोग (ऋग्भिः) ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा तथा (साम्ना) सामवेद के द्वारा (अर्चन्ति) परमात्मा की अर्चना करते हैं (यस्याम्) जिस में (ऋत्विजः) समय पर काम करने वाले प्रजाजन (इन्द्राय) इन्द्र को (सोमम्) सोम का (पातवे) पान कराने के लिये (युज्यन्ते) विविध कर्मों में नियुक्त होते हैं।

हमारी मातृभूमि की महिमा महान् है। उस के प्रत्येक अधिवासी के पास रहने के लिये अच्छा खुला और सुविभक्त मकान है। उन के मकानों में 'सदः' अर्थात् बैठने-रहने के लिये अलग कमरे बने हुए हैं और हविर्धान अर्थात् अन्न रखने के लिये अलग कमरे बने हुए हैं। अन्य प्रयोजनों के लिये भी उनमें पृथक्-पृथक् कक्ष अर्थात् कमरे बने हुए हैं। इन सुन्दर और खुले मकानों में हमारे सब राष्ट्रवासी आराम से रहते हैं।

हमारे राष्ट्र के लोग यज्ञ भी खूब करते हैं। सामुदायिक योग-क्षेम की भावना से प्रेरित हो कर वे अनेक प्रकार के लोकोपकार के यज्ञ-कर्म करते हैं। उन के विभिन्न प्रकार के व्यापार, उद्योग-धन्धे, शिक्षालय, औषधालय, अनुसन्धानशालायें और सभा-समितियें सब लोकोपकार की भावना से किये जाने वाले उन के यज्ञ हैं। उन के अपने वैयक्तिक हित के कार्य भी, परम्परया उन द्वारा संचालित यज्ञों में सहायक होने के कारण, यज्ञ का ही रूप धारण कर लेते हैं। उन के ये यज्ञ-कर्म जिन स्थानों में सम्पन्न होते हैं उन के मुख्य द्वार आदि उन्नत प्रदेश, जिन को देखने से दूर से ही पता लग जाये कि अमुक स्थान में अमुक कार्य हो रहा है, यूप कहलाते हैं। इन यूपों से सूचित होने वाले विविध प्रकार के उद्योग-धन्धे आदि रूप यज्ञ हमारी मातृभूमि पर खूब होते हैं और उस का प्रत्येक निवासी यज्ञ की लोकोपकारमयी भावना से ओत-प्रोत है।

यूप कर्मकाण्ड में किये जाने वाले बड़े-बड़े यज्ञों के स्थान में खड़े किये जाने वाले यज्ञ-स्तम्भों को भी कहते हैं जिन से यह सूचना मिलती है कि अमुक स्थान पर कर्मकाण्ड का अमुक यज्ञ सम्पन्न हुआ है। इसी आधार पर यूप शब्द, यज्ञ-स्तम्भ की तरह ऊंचे और उसी की भांति कारखानों के अन्दर भवनों में हो रहे कार्य की सूचना देने वाले होने के कारण, इन भवनों के मुख्य द्वार आदि का भी वाचक हो जाता है। यूप का कर्मकाण्ड का यज्ञ-स्तम्भ अर्थ लेने की अवस्था में इस शब्द का मन्त्रस्थ प्रयोग यह सूचना देगा कि राष्ट्र में कर्मकाण्ड के अग्निहोत्रादि छोटे-बड़े यज्ञ भी घर-घर में होते हैं और उन से राष्ट्र का जलवायु शुद्ध और स्वास्थ्यप्रद बनता है तथा राष्ट्र में समय पर वर्षा होती है और इस प्रकार

उन से राष्ट्र को महान लाभ पहुँचता है। इस कर्मकाण्ड की दृष्टि से भी हमारे राष्ट्र के लोग यज्ञ की भावना से ओत-प्रोत हैं।

हमारे राष्ट्र में चारों[1] वेदों के ज्ञाता वेदज्ञ ब्राह्मण निवास करते हैं। वे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और इन से उपलक्षित अथर्ववेद के मन्त्रों से परमात्मा की अर्चना करते हैं। वेद-मन्त्रों द्वारा परमात्मा के पवित्र और महान् गुणों का बखान करते हैं—उस की भक्ति और उपासना करते हैं। और इस प्रकार परमात्मा के गुणों का गहरा चिन्तन कर के उन गुणों को अपने अन्दर धारण करते हैं और परमात्मा जैसा पवित्र और महान् बनने का प्रयत्न करते हैं।

हमारे राष्ट्र के सब प्रजाजन ऋत्विज् हैं और वे अपने यज्ञों द्वारा इन्द्र को सोमपान कराते हैं। ऋत्विज्[2] का शब्दार्थ होता है ऋतु में यजन करने वाला—समय पर मिल कर किये जाने वाले संगतीकरण के कार्य करने वाला। हमारे

१. वेदों की संख्या चार ही है। छन्दोबद्ध वेदमन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहते हैं—"ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" (जैमिनिसूत्र २।१।३५)। वेद के जो मन्त्र संगीत में ढाल कर गीति के रूप में गाये जाते हैं उन्हें साम कहा जाता है—"गीतिषु सामाख्या" (जैमिनिसूत्र २।१।३६)। वेद के जिन मन्त्रों में पादव्यवस्था नहीं है, जो छन्दोबद्ध नहीं हैं, और जो इसीलिये संगीत में ढाल कर गीतिरूप में गाये नहीं जा सकते उन गद्यात्मक मन्त्रों को यजुः कहते हैं—"शेषे यजुः शब्दः" (जै० सूत्र २।१।३७)। ऋग्वेद में प्रायः सभी मन्त्र छन्दोबद्ध पद्यात्मक हैं इसीलिये उसे विशेष रूप से ऋग्वेद—ऋचाओं का वेद—कहा जाता है। सामवेद के सारे मन्त्र ऐसे हैं जिन्हें संगीत में ढाल कर गीतिरूप में गाया जाता है, इसलिये उस का नाम विशेष रूप से सामवेद—सामों का वेद—हो गया। यजुर्वेद में यजुःवाक्य, गद्य-वाक्य, और वेदों की अपेक्षा अधिक हैं इसलिये उस का नाम विशेष रूप से यजुर्वेद—यजुः वाक्यों का वेद—हो गया। अथर्ववेद में तीनों प्रकार के मन्त्र हैं। इस प्रकार रचना की दृष्टि से चारों वेदों के मन्त्रों के तीन विभाग हो जाते हैं इसीलिये वेद-चतुष्टयी को, चारों वेदों को, वेदत्रयी, तीन वेद, भी कह दिया जाता है। यों वेद चार ही हैं। प्रस्तुत मन्त्र के ऋगादि नाम चारों वेदों के ही वाचक हैं।

२. ऋतौ यजति इति ऋत्विक्। ऋतुपूर्वात् यजतेः क्विप् संप्रसारणञ्च। ऋतौ समये यजनकर्ता=संगत्य क्रियमाणानां कर्मणां निष्पादयिता। यज देवपूजा-संगतीकरण-दानेषु। ऋतुयाजी भवतीति वा। निरु० ३। १६॥

राष्ट्र के सब लोग ऋत्विज् हैं। वे अपने सब काम समय पर करते हैं। किसी काम में कालक्षेप नहीं होने देते—किसी काम के करने का समय बीतने नहीं देते। प्रत्येक काम समय पर कर के उस से पूरा लाभ उठाते हैं।

इन्द्र का अर्थ सम्राट् होता है और सोम[1] का अर्थ धनादि ऐश्वर्य भी होता है। हमारे राष्ट्र के लोग भांति-भांति के व्यवसाय-रूप यज्ञ कर के प्रचुर मात्रा में सोम अर्थात् धन-सम्पत्ति पैदा करते हैं। और अपने इस सोम में से—अपनी इस धन-सम्पत्ति में से—सम्राट् को कर आदि के रूप में उस का उचित हिस्सा देते हैं। जिस से राज्य के सब काम भली-भांति चलते हैं। कोई भी हमारा राष्ट्रवासी राज्य को दिया जाने वाला अपना भाग दबा कर नहीं रखता। वह अपना भाग खुशी-खुशी राज्य को देता है। और इस प्रकार सम्राट्-रूप इन्द्र को सदा कर द्वारा अपना सम्पत्तिदान-रूप सोम पिलाता रहता है।

इन्द्र का अर्थ परमात्मा भी होता है और सोम[2] का अर्थ भक्तिरस भी होता है। हमारे राष्ट्र के सब लोग प्रातः और सायंकाल दोनों समय ठीक समय पर सन्ध्योपासना करते हैं और उस समय भक्ति में भर कर अपने हृदय का सोमरस—अपने हृदय का भक्तिरस—परमात्मा को पिलाते हैं। हमारे राष्ट्र के सब अधिवासी परमात्मा के पूर्ण विश्वासी और भक्त हैं। उन में आध्यात्मिकता कूट-कूट कर भरी हुई है।

इन्द्र[3] का अर्थ वायु और सूर्य भी होता है। सोम का अर्थ सोम[4] नामक ओषधि भी होता है। और ऋत्विज् का अर्थ कर्मकाण्ड के अग्निहोत्रादि यज्ञ कराने

१. सोम=विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति। अन्नं सोमः। श० ३। ३।४। २८॥ पशवो हि सोमः। श० १२।७।२।२॥ सोमो वै दधि। कौ० ८। ६॥ रसः सोमः। श० ७।३।१। ३॥ सोमः पयः। श० १२।७।३। ३॥ श्रीर्वै सोमः। श० ४। १।३।६॥ रयिं सोमो रयिपतिर्दधातु। तै० २। ८।१।६॥

२. रसः सोमः। श० ७। ३।१।३॥ रस को सोम कहते हैं। परमात्मा को सोम पिलाने के अर्थ में सोम-रस का अर्थ भक्ति-रस ही हो सकता है।

३. यो वै वायुः स इन्द्रः य इन्द्रः स वायुः। श० ४। १। ३। १६॥ यः स इन्द्रः असौ स आदित्यः। श० ८ ५। ३। २॥

४. सोमाय वनस्पतये। श० ५। ३। ३। ४॥ सोम वीरुधां पते। तै० ३। ११। ४। १॥ सोम ओषधीनामधिराजः। गो० उ० १।७॥ सोमो वै राजौषधीनाम्। कौ० ४। १२॥ तै० ३। ६। १७। १॥

वाले पुरोहित लोग भी होता है। हमारे राष्ट्र में नगर-नगर और घर-घर में अग्निहोत्रादि छोटे-बड़े यज्ञ होते हैं। ऋत्विज् लोग उन यज्ञों में सोम आदि शुद्धि-कारक, रोगनिवारक और बलकारक ओषधियों से तैयार की हुई हवन-सामग्री की आहुतियें देते हैं। ये आहुतियें यज्ञ-वेदि की अग्नि द्वारा सूक्ष्म होकर वायुमण्डल में जाती हैं और वायु की लहरों तथा सूर्य-किरणों द्वारा राष्ट्र के वातावरण में फैल जाती हैं। उस से राष्ट्र का जल-वायु शुद्ध, नीरोग और बलदायक बनता है। राष्ट्र में समय पर यथेष्ट परिमाण में वर्षा होती है। जो वर्षा होती है उस का जल भी शुद्ध, नीरोग और पुष्टिकारक होता है। उस जल से जो कृषि होती है उस के अनाज में भी ये तीनों गुण आ जाते हैं। इस प्रकार कर्मकाण्ड के अग्निहोत्रादि यज्ञों द्वारा वायु और सूर्य-रूप इन्द्र को दिया हुआ यह ओषधि रूप सोम राष्ट्र के लिये महान् गुणकारी हो जाता है।

हमारे राष्ट्र के लोग इन तीनों प्रकार के इन्द्रों को तीन प्रकार का सोम पिलाते रहते हैं।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र की व्यवस्था ऐसी उत्तम होनी चाहिये कि प्रत्येक राष्ट्रवासी को रहने के लिये खुला मकान मिल सके जिस में रहने, बैठने, सोने, अन्नादि रखने और यज्ञ करने के कक्ष अलग-अलग बने हुए हों। राष्ट्र में भांति-भांति के उद्योग-धन्धे आदि रूप यज्ञ और अग्निहोत्रादि कर्म-काण्ड के यज्ञों के होते रहने की पूरी व्यवस्था होनी चाहिये। जिस से राष्ट्र को वेदों और उन से उपलक्षित अन्य विद्याओं के ज्ञाता ब्राह्मण-वृत्ति के लोग मिलते रह सकें इस की भी पूरी व्यवस्था उस में होनी चाहिये। राष्ट्र के लोगों को समय पर सब काम करने की आदत वाला होना चाहिये। प्रजाजनों को राज्य को कर आदि के रूप में दिया जाने वाला अपना भाग प्रसन्नता से देना चाहिये। सब प्रजाजनों को ईश्वरभक्त बन कर रहना चाहिये।

३६

राष्ट्र का निर्माण करने वाले महान् ऋषि

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस हमारी मातृभूमि में (भूतकृतः) भूतकाल का निर्माण करने वाले (सप्त) विविध व्यवहारों में लगे रहने वाले (वेधसः) नई-नई रचनाओं को करने वाले (पूर्वे) हमारे पूर्वज (ऋषयः) तत्त्वदर्शी

ऋषि लोग (सत्रेण[1]) सत्पुरुषों की पालना करने वाले (यज्ञेन) यज्ञ और (तपसा) तप के (सह) साथ अर्थात् यज्ञ और तप से युक्त हो कर। गाः) उत्तम वाणियें (उदानृचुः[2]) बोलते रहे हैं। अथवा जिस में हमारे पूर्वज ऋषि लोग (सप्तसत्रेण) पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन और आत्मा ये सात जिस में होता-रूप में बैठते हैं ऐसे (यज्ञेन) जीवन-यज्ञ के द्वारा, तप से युक्त हो कर, उत्तम वाणियें बोलते रहे हैं।

हमारी मातृभूमि में ऋषियों की परम्परा चलती रही हैं। हमारे पूर्वज बड़े-बड़े ऋषि[3], बड़े-बड़े तत्त्वदर्शी विद्वान्, हो चुके हैं। वे हमारे पूर्वज ऋषि सप्त[4] अर्थात् विविध व्यवहारों में लगे रहने वाले होते रहे हैं। वेधा[5] अर्थात् नई-नई रचनाओं को करने वाले होते रहे हैं। तप से युक्त होते रहे हैं—सदा

---

१. सत्रेण=सतां सत्पुरुषाणां त्रायकेण पालकेन। सत्+त्रैङ् पालने क प्रत्ययः। यद्वा सीदन्ति अत्र इति सत्रम्। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु। औणादिकः (उणादि० ४। १६७) त्रः प्रत्ययः। सप्तानां चक्षुरादीनां सत्रं सप्तसत्रम्। जीवन-यज्ञः। तेन। तथाहि श्रूयते अन्यत्र वेदे— येन यज्ञस्त्रायते सप्त-होता (यजु:० ३४।४)। चक्षुरादिपञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मन आत्मा चेति सप्त होतृरूपेण यत्र सीदन्ति स जीवनयज्ञः सप्तहोता।

२. उदानृचुः में ऋच स्तुतौ धातु है जिसका अर्थ स्तुति करना, गाना, गुण बखान करना होता है। यहां इस का प्रयोग सामान्य बोलने अर्थ में हुआ है। इस क्रियापद को पूजार्थक अर्च धातु से बना भी माना जा सकता है (अष्टा० ६। १। ३६) यहां अर्च धातु का सामान्य अर्थ बोलना लेना होगा। धातु के पूजा अर्थ की व्यंजना भी साथ रहेगी। भाव यह होगा कि अपनी वाणी को पूजित बना कर, उत्तम और आदरणीय बना कर, उस का उच्चारण करते हैं। उत्तम वाणी बोलते हैं। निकृष्ट वाणी नहीं बोलते हैं।

३ ऋषिः तत्त्वदर्शी सत्यवाक् विद्वान। ऋषिर्दर्शनात्। निरु० २। ११॥ ज्ञानार्थकात् ऋष धातो. औणादिक (उणा० ४। १२०) इन् प्रत्ययः स च कित्।

४. सप्त=षप समवाये सर्पन्ति समवयन्ति विविधव्यवहारेषु ये ते सप्त। विविध-व्यवहारकुशलाः। औणादिकः (उणा० १। १५७) कनिन् प्रत्ययः तुडागमश्च

५. विदधाति निर्मिमीत इति वेधाः। विविधरचना-चतुरो विद्वान्। विपूर्वाद् दधातेः औणादिकः (उणा० ४। २२५) असिप्रत्ययः धातोश्च वेध आदेशः।

और संयम का जीवन रख कर कर्तव्य-पालन के मार्ग में आने वाले सब प्रकार के कष्ट और विपत्तियों को प्रसन्नता से सह लेने की वृत्ति वाले होते रहे हैं। यज्ञ का, लोकोपकार का, जीवन बिता कर सत्पुरुषों की पालना करते रहे हैं। यज्ञ की भावना और तपस्या द्वारा अपने आपको श्रेष्ठ बनाकर अपनी वाणियों को उत्तम बनाते रहे हैं और उन उत्तम वाणियों को राष्ट्र-निवासियों के लिये बोलते रहे हैं—उनके द्वारा राष्ट्रवासियों को हितकारी सत्य का उपदेश करते रहे हैं।

इस प्रकार वे अपने जीवन को सप्तहोता यज्ञ बना लेते रहे हैं। अपने जीवन को ऐसा यज्ञ बना लेते रहे हैं जिस में चक्षु, कान, नासिका, जिह्वा, त्वचा, मन और आत्मा ये सातों यज्ञ करने वाले होता बन कर यज्ञ के ही, लोकोपकार के ही, कार्य करते हैं। दूसरे शब्दों में वे अपने जीवन को ऐसा यज्ञमय बना लेते रहे हैं जिस में उन के शरीर का एक-एक अङ्ग लोकोपकार में लगा रहता है।

अपने इन महान् गुणों वाले इस जीवन द्वारा वे हमारे पूर्वज ऋषि लोग हमारे राष्ट्र के भूतकाल का निर्माण करते रहे हैं। हमारा राष्ट्र अपने भूतकाल में बड़ा महान् और समुन्नत रहा है। वह बड़ा वैभवशाली और सुख-समृद्धि से परिपूर्ण रहा है। आध्यात्मिक और भौतिक ज्ञान-विज्ञान के गहरे तत्त्वों का अन्वेषण उस में होता रहा है। हमारे राष्ट्र का यह जो सब दृष्टियों से गौरवशाली इतिहास रहा है इस इतिहास वाले हमारे राष्ट्र के भूतकाल को हमारे ये पूर्वज ऋषि ही बनाते रहे हैं।

हमारे राष्ट्र में इन महान् गुणों वाले ऋषियों की परम्परा अब भी वैसी ही चल रही है। आज भी हमारे राष्ट्र में इन महान् गुणों वाले ऋषि विद्यमान हैं। उन के कारण हमारे राष्ट्र का वर्तमानकाल भी उतना ही गौरव से पूर्ण है जितना कि उस का भूतकाल रहा है। और हमें विश्वास है कि भविष्य में भी हमारे राष्ट्र में इन महान् गुणों वाले ऋषि उत्पन्न होते रहेंगे और उसके भविष्यकाल को भी उतना ही गौरवपूर्ण बनाते रहेंगे।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र के भूत, भविष्य और वर्तमान को समृद्ध, समुन्नत और गौरवशाली रखने के लिये उस में सदा मन्त्र में वर्णित गुणों वाले ऋषि-कोटि के महापुरुष उत्पन्न होते रहने चाहियें। जिस से ऐसे ऋषि-कोटि के महापुरुष राष्ट्र को निरन्तर मिलते रह सकें इस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध राष्ट्र की राज्य-व्यवस्था और जनता को करना चाहिये।

४०

धन-प्राप्ति का मार्गदर्शक सम्राट्

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः॥

अर्थ—(सा) वह पूर्वोक्त महिमा वाली (भूमिः) हमारी मातृभूमि (यत्) जिस (धनम्) धन की (कामयामहे) हम कामना करें, उसे (नः) हमारे लिये (आदिशतु) सब ओर से प्रदान करे (भगः) ऐश्वर्य अर्थात् ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा (अनुप्रयुङ्क्ताम्) हमें अनुप्रयुक्त करे अर्थात् ऐश्वर्यवर्धक कामों में लगावे, और (इन्द्रः) हमारा सम्राट् और परमात्मा (पुरोगवः[1]) अग्रगामी अर्थात् मार्गदर्शक बन कर (एतु) चले।

हे हमारी मातृभूमि ! हम तेरी महान् महिमा और गुणों का बखान करते चले आ रहे हैं। इन महान् गुणों वाली तू हमें सब कुछ देने की शक्ति रखती है। इसलिये हम प्रजाजन तुझ से जब-जब जिस-जिस धन की कामना करें तू वह धन हमें सदा देती रहना। हमें धन का अभाव कभी क्लेशित न करने पावे।

हम हाथ पर हाथ धर कर निकम्मे बैठने वाले न रहें। विविध प्रकार का धन प्राप्त करने की, ऐश्वर्य प्राप्त करने की, इच्छा हमें निरन्तर ऐश्वर्य की वृद्धि करने वाले विभिन्न कामों में प्रयुक्त करती रहे। हम धन-प्राप्ति के उपायों में सदा लगे रहें। हमारे द्वारा धन-प्राप्ति के साधन किये जाने के समय हमारा सम्राट्—हमारी राज्यव्यवस्था—सदा हमारे आगे चले, सदा हमारा मार्ग-प्रदर्शन करे और हमारी सहायता करे। सब के परम सहायक भगवान् भी ऐश्वर्य की प्राप्ति में हम पर कृपा करें, हमारी बुद्धि को धनप्राप्ति में समर्थ बना कर हमारी सहायता करें, तथा हमारी वृत्ति को सदा शुद्ध रखें जिस से हमें धन कमाने में लगे रहने पर भी प्रभु का स्मरण सदा रहे और हम शुद्ध उपायों से धन कमावें तथा अच्छे कामों में ही उस का उपयोग करें।

---

१. गच्छतीति गौः। गम्लृ गमने इति धातो गमेर्डोः (उणा० २। ६७) इति सूत्रेण डो प्रत्यये धातोष्टिलोपे गोशब्दो निष्पद्यते। पुरः अग्रगामी चासौ गौश्च पुरोगवः। गोरतद्धितलुकि (अष्टा० ५। ४। ९२) इति समासान्तष्टच्। पुरोगवः= अग्रगामी।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि प्रजा-जनों को अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिये विविध प्रकार का धन कमाना चाहिये। धन-प्राप्ति की इच्छा से उन्हें अनेक प्रकार के धन-वर्धक कामों में लगे रहना चाहिये। धन शुद्ध उपायों से कमाना चाहिये और अच्छे कामों में उसे लगाना चाहिये। इस के लिये परमात्मा का सदा स्मरण रखना चाहिये। प्रजाओं के धन-प्राप्ति के कामों में राज्य को प्रजाओं का मार्ग-प्रदर्शन और उन की सहायता करनी चाहिये।

४१

हर्ष से नाचते-गाते रहने वाले राष्ट्रवासी

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस (भूम्याम्) भूमि में (व्यैलबाः[1]) विविध वाणियों को बोलने वाले (मर्त्याः) मनुष्य (गायन्ति) गाते हैं, और (नृत्यन्ति) नाचते हैं (यस्याम्) जिस में, योद्धा लोग (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं, और जिस में युद्ध करते हुओं का (आक्रन्दः) कोलाहल, होता है (यस्याम्) जिस में (दुन्दुभिः) दुन्दुभि (वदति) बजता है (सा) वह (भूमिः) हमारी मातृभूमि (नः) हमारे (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्रणुदताम्) मार भगावे (पृथिवी) वह हमारी मातृभूमि (मा) मुझे (असपत्नम्) शत्रुरहित (कृणोतु) कर देवे।

हमारी मातृभूमि की राज्य-व्यवस्था ऐसी उत्तम है कि उस में रहने वाले सब प्रजा-जन सदा हर्ष-युक्त हो कर नाचते और गाते रहते हैं। किसी प्रकार का

---

१. इला वाक्। विविधानाम् इलानां समूहः व्यैलः। बण शब्दे + डः प्रत्ययः। बणति वदति इति बः। व्यैलस्य विविधानां वाचां बः वदिता व्यैलवः। व्यैलवः नानाप्रकारकाणां वाणीनां शब्दयिता। राष्ट्रवासिनां वाक्षु ध्वनि-वैविध्य-कृतं भावभेदकृतञ्च वैचित्र्यं भवत्येव। व्यैलव=विविध प्रकार की वाणी बोलने वाला। राष्ट्रवासियों की वाणियें ध्वनिभेद और भावभेद के कारण विभिन्न प्रकार की हुआ ही करती हैं।

शोक और किसी प्रकार की उदासी उन के पास नहीं फटकती। हर्ष-आह्लाद में, प्रसन्नता से हंसते-खेलते रहने में, ही उन का जीवन बीतता है।

परन्तु उन के इस नृत्य और गान के, इस आमोद-प्रमोद के, जीवन में संयम रहता है। उन का यह आमोद-प्रमोद शक्ति को क्षीण करने वाला निकृष्ट प्रकार का आमोद-प्रमोद नहीं होता। उन का आमोद-प्रमोद शक्ति को बढ़ाने वाला और संचित रखने वाला ऊंची किस्म का आमोद-प्रमोद होता है। इसलिये वे सदा शक्ति के पुञ्ज बने रहते हैं। और आवश्यकता पड़ने पर वे अपने रौद्र रूप का परिचय भी दे सकते हैं। आवश्यकता होने पर वे युद्ध-दुर्मद वीरों का बाना पहिन कर युद्ध-क्षेत्र में भी उतर आते हैं। उस समय उन के मुखों से निकलने वाला जय-घोषों और शत्रुओं को दी गई ललकारों का कोलाहल शत्रुओं के दिल दहला देता है। उस समय बजने वाले उन के युद्धवाद्य दिशाओं को कंपा देते और आकाश को फाड़ डालते हैं। उस समय का उन का पद-प्रहार धरती को हिला देता है। उस समय उन के शस्त्रास्त्र दुश्मनों का रुधिर पीने के लिये लप-लपा उठते हैं और उन के लहू को पी कर ही शान्त होते हैं। उस समय शत्रु उन के आगे नहीं टिक सकते। वे अपने शत्रुओं का पूर्ण पराजय कर के ही युद्धभूमि से वापिस लौटते हैं।

ऐसे सिंह के से पराक्रम वाले वीर प्रजाजनों से भरी हुई हे हमारी मातृभूमि! तू हमारे राष्ट्र के शत्रुओं को सदा पराजित करती और भगाती रहना। हमें सदा शत्रुरहित करके रखना। अपनी शक्ति सदा ऐसी बना कर रखना कि कोई भी हम से शत्रुता करने का साहस न कर सके।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राज्यप्रबन्ध ऐसा उत्तम होना चाहिये कि राष्ट्र के सब अधिवासी सदा हर्ष से नाचते-गाते और हंसते-खेलते रहें। उन के ये नाच और गान इस प्रकार के होने चाहियें जो प्रजाओं को विलासी और शक्तिहीन न बना कर उन की शक्ति की रक्षा और वृद्धि करने वाले हों। राज्य को चाहिये कि वह राष्ट्रवासियों को युद्ध की शिक्षा भी अनिवार्य रूप से दे। जिस से आवश्यकता के समय राष्ट्रवासी शत्रुओं से अपने देश की रक्षा कर सकें। उन में युद्ध की क्षमता सदा बनी रहनी चाहिये जिससे उस क्षमता के कारण कोई भी उन के राष्ट्र से शत्रुता करने का विचार अपने मन में न ला सकें।

वर्षा से हरी-भरी खेतियों वाली मातृभूमि

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमा· पञ्च कृष्टयः
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस में (अन्नम्) अनेक प्रकार का अन्न उत्पन्न होता है (व्रीहियवौ) चावल और जौ उत्पन्न होते हैं (यस्याः) जिस के (इमा.) ये (पञ्च) पांच प्रकार के (कृष्टयः) मनुष्य हैं (पर्जन्यपत्न्यै[1]) मेघ से पालन की जाने वाली (वर्षमेदसे[2]) वर्षा से स्निग्ध होने वाली (भूम्यै) उस मातृभूमि के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो।

हमारी मातृभूमि बड़ी सुख-समृद्ध है। उस में चावल और जौ तथा अन्य भांति-भांति के अन्न प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होते हैं। हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के तथा किसी विचार-भेद के कारण वर्ण-विभाग को न मानने वाले किन्तु राज्य के सर्व-हितकारी नियमों का पालन करने वाले दूसरे सज्जन लोग, ये पांच प्रकार के मनुष्य रहते हैं। ये अपनी-अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार विभिन्न प्रकार के राष्ट्रोपयोगी कार्य कर के राष्ट्र को समृद्ध बनाने में लगे रहते हैं। ये पाँचों प्रकार के मनुष्य कृष्टि[3] है। क्योंकि ये राष्ट्र की कृष्टि अर्थात् कृषि की उन्नति पर विशेष ध्यान देते हैं। इन के प्रयत्न से हमारे राष्ट्र में कृषि खूब होती है। राष्ट्रवासियों के सुचरित के कारण भगवान् हमारे राष्ट्र पर सदा प्रसन्न रहते हैं और समय पर बादल भेज कर उचित परिमाण में वर्षा कराते रहते

---

१. पर्जन्यः मेघः पतिः पालकः यस्याः सा पर्जन्यपत्नी तस्यै पर्जन्यपत्न्यै। विभाषा सपूर्वस्य (अष्टा० ४। १। ३४) इति नकारः। ऋन्नेभ्यो ङीप् (अष्टा० ४। १। ५) इति ङीप्।

२. वर्षेण वर्षया मेद्यति स्निह्यति इति वर्षमेदाः तस्यै वर्षमेदसे। सर्वधातुभ्यः असुन (उणा० ४। १८९) इति औणादिकः असुन् प्रत्यय।

३. कृष्टि शब्द वेद में मनुष्य का वाचक भी है और यह शब्द कृषि का वाचक भी है। मनुष्य के कृषिवाची इस कृष्टि नाम से यह ध्वनि निकलती है कि मनुष्यों को कृषि की विशेष रूप से उन्नति करनी चाहिये। कृष्टि शब्द खोदने, खेती करने, अर्थ वाली कृष विलेखने धातु से बनता है। जो कृषि करे वह और की जाने वाली कृषि दोनों ही कृष्टि कहे जाते हैं।

हैं। इस वर्षा से हमारे राष्ट्र की धरती रात-दिन स्निग्ध रहती है—हरी-भरी रहती है। समय पर होने वाली मेघों की इस वर्षा से हमारे राष्ट्र की खेती खूब फलती-फूलती है। राष्ट्र-निवासियों को यथेष्ट खाने-पीने को मिलता है। इस प्रकार हमारी मातृभूमि सदा पर्जन्य-पत्नी—मेघ से पालित-पोषित—बनी रहती है।

हे सब प्रकार की समृद्धि से पूर्ण हमारी मातृभूमि! हमारा नमस्कार स्वीकार कर।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र में खेती पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। खेती द्वारा राष्ट्रवासियों के खाने के लिये चावल, जौ आदि भांति-भांति के अन्न प्रचुर मात्रा में उत्पन्न किये जाने चाहियें। जिस से सब को यथेष्ट खाने-पीने को मिल सके। राष्ट्र के पांचों प्रकार के मनुष्यों को अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार नाना प्रकार के राष्ट्रोपयोगी कार्य कर के राष्ट्र की समृद्धि बढ़ाते रहना चाहिये। राष्ट्रवासियों को अपना आचरण पवित्र रखना चाहिये जिस से भगवान् की कृपा से समय पर उचित परिमाण में वर्षा होती रहे।

४३

देव निर्मित नगर

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥

अर्थ – (यस्याः) जिस के (पुरः) नगर (देवकृताः) व्यवहार-कुशल शिल्पियों के बनाये हुए हैं (यस्याः) जिस के (क्षेत्रे) खेतों में, मनुष्य (विकुर्वते) विविध प्रकार के कार्य करते हैं (विश्वगर्भाम्) सब कुछ जिस के गर्भ में है ऐसी (पृथिवीम्) हमारी मातभूमि को (प्रजापतिः) हमारा सम्राट् और परमात्मा (आशाम् आशाम्) प्रत्येक दिशा में (नः) हमारे लिये (रण्याम्) रमणीय (कृणोतु) बनाये।

हमारी मातृभूमि पर बड़े-बड़े नगर बसे हुए हैं। वे सभी नगर देवकृत[१]

१. देवकृताः—देवैः व्यवहार-कुशलैः शिल्पिभिः कृताः। दीव्यन्ति विविधं व्यवहरन्तीति देवाः। दिवु क्रीड़ा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु।

हैं—देवों के बनाये हुए हैं। व्यवहार-कुशल, नगर और भवन-निर्माण के काम में प्रवीण शिल्पियों ने उनकी रचना की है। देवों—चतुर शिल्पियों—द्वारा निर्मित होने के कारण हमारे राष्ट्र के नगर और ग्राम देव-पुरी बने हुए हैं। वे देखने में सुन्दर हैं, रहने में खुले और सुखप्रद हैं, उन की गलियें और बाजार चौड़े और साफ-सुथरे हैं, उन के घरों[१] के चारों ओर पुष्पोद्यान और दूब के मैदान हैं, सड़कों के दोनों ओर छायादार वृक्ष लगे हुए हैं, बीच-बीच में नागरिकों के खेलने और भ्रमण के लिये उद्यान और क्रीड़ा-क्षेत्र बने हुए हैं। ऐसी देव-पुरियों में हमारे राष्ट्र के अधिवासी रहते हैं।

हमारे राष्ट्र के खेतों में उस के अधिवासी भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं। कहीं किसी प्रकार की खेती हो रही है और कहीं किसी प्रकार की। कहीं खेत बोये जा रहे हैं और कहीं काटे जा रहे हैं। कहीं कटी खेतियों को गाह कर अनाज निकाला जा रहा है। कहीं खेतों में हल जोते जा रहे हैं। और कहीं खेतियों को निलाया जा रहा है तथा कहीं उन में पानी दिया जा रहा है। इस प्रकार हमारे राष्ट्र के लोग अपने खेतों में भाँति-भाँति के काम निरन्तर कर रहे हैं। और इस कृषि-कर्म द्वारा राष्ट्र की पालना कर रहे हैं।

हमारे राष्ट्र के क्षेत्रों[२] अर्थात् विभिन्न प्रदेशों में और भी अनेक प्रकार के राष्ट्रोपयोगी कार्य होते रहते हैं। कहीं किसी प्रकार के उद्योग-धन्धे चल रहे हैं

---

१. लोगों के रहने के घर किस प्रकार के सुन्दर, खुले और सुखप्रद होने चाहियें इस सम्बन्ध में वेद में स्थान-स्थान पर वर्णन आते हैं। उदाहरण के लिये इस सम्बन्ध में अथर्व० ३। १२, अथर्व० ९। ३ और अथर्व० ६। १०६ सूक्त देखे जा सकते हैं। अथर्व० ६। १०६ सूक्त में शाला का, रहने के मकान का, वर्णन करते हुए प्रथम मन्त्र में कहा गया है—"आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः, उत्सो वा तत्र जायन्तां ह्रदो वा पुण्डरीकवान्।" अर्थात् "हे शाला! तुम्हारे आने के और बाहर जाने के मार्गों के दोनों ओर दूब घास लगी हुई हो जिस में फूलों के पौदे भी लगे हों, घर में जल का झरना हो और कमलों से युक्त जलाशय हो।"

२. क्षेत्र=खेत अथवा कोई भूप्रदेश। A field, ground, soil, land, place, abode, region, an enclosed spot of ground, the sphere of action. (आप्टे कोश)

और कहीं किसी प्रकार के। कहीं कोई व्यापार हो रहा है और कहीं कोई। कहीं कुछ बन रहा है और कहीं कुछ। कहीं विद्यालय और महाविद्यालय चल रहे हैं और कहीं विश्वविद्यालय। इस प्रकार हमारे राष्ट्र के लोग अपनी मातृभूमि पर विभिन्न प्रकार के उन्नति और समृद्धि के कामों को करने में लगे रहते हैं।

यह हमारी मातृभूमि विश्व-गर्भा है। इस के गर्भ में, इस के अन्दर, सब कुछ भरा पड़ा है। इस में सोना है, चान्दी है, लोहा है, ताम्बा है, कोयला है, तेल है, संगमर्मर आदि मूल्यवान् पत्थर हैं, पानी है, हीरे हैं, मणियें हैं और न जाने क्या-क्या कुछ है। इस के गर्भ में अनन्त उपयोगी और मूल्यवान् पदार्थ भरे पड़े हैं। अपनी राष्ट्रभूमि के गर्भ से इन विभिन्न पदार्थों को निकालने के कार्य भी हमारे राष्ट्रवासी सदा करते रहते हैं और उन से अपने राष्ट्र को समृद्धिशाली बनाते रहते हैं।

हमारे राष्ट्र का प्रजापति, हमारे राष्ट्र का सम्राट्, अपनी उत्तम व्यवस्था द्वारा हमारी मातृभूमि की प्रत्येक दिशा को रण्या[1] अर्थात् रमणीय बनाता रहे। वह ऐसा सुन्दर राज्य-प्रबन्ध करे जिस से हमारे देश के सब भागों में सौंदर्य की छटा छाई रहे। और सब से बड़े प्रजापति परमात्मा की भी हमारी मातृभूमि पर सदा ऐसी कृपा-दृष्टि रहे कि उस का प्रत्येक प्रदेश सौन्दर्य से भरा रहे। इन दोनों प्रजापतियों की कृपा से हमारी मातृभूमि के खेत, उद्यान, मकान, नगर, ग्राम, सड़कें, नर-नारी और नर-नारियों के आचरण सब सुन्दर ही सुन्दर हों। हमारे राष्ट्र में भौतिक और आत्मिक दोनों प्रकार की रमणीयता की गङ्गा निरन्तर प्रवाहित होती रहे।

मातृभूमि के इस वर्णन और प्रजापति से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र-निवासियों को सुन्दर ग्राम और नगर बसा कर उन में रहना चाहिये। राष्ट्र में विविध प्रकार की खेतियें और व्यवसाय तथा उद्योग-धन्धे होते रहने चाहियें। राष्ट्र के राज्य-प्रबन्ध का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र को भौतिक और आत्मिक दृष्टि से सुन्दर बना कर रखे। राष्ट्र की इस सौन्दर्य-वृद्धि में राजा और प्रजा दोनों को अपनी सहायता के लिये परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये। सब सफलतायें अन्त में भगवान् की कृपा पर निर्भर करती हैं।

---

१. रण्याम्=रमणीयाम्। रण्यः रमणीयः। निरु० ६। ३३॥

४४

ऐश्वर्यों की खान

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥

अर्थ—(गुहा) अपनी गुफाओं में (बहुधा) अनेक प्रकार से (निधिं) खजानों को (बिभ्रती) धारण करती हुई (पृथिवी) हमारी मातृभूमि (मे) मेरे लिये (वसु) धन (मणिं) मणि और (हिरण्यम्) सुवर्ण (ददातु) प्रदान करे (वसुदा) धन देने वाली (देवी) दिव्य गुणों वाली (सुमनस्यमाना[1]) प्रसन्न चित्त वाली हो कर (वसूनि) धनों को (रासमाना[2]) देती हुई, हमारी मातृभूमि (नः) हमें (दधातु) धारण करे—सुखपूर्वक रखे।

हे हमारी मातृभूमि ! तेरी गुफाओं में खजाने भरे हुए हैं । तेरी खानों में अनेक प्रकार के धन-कोश संचित पड़े हुए हैं । तेरे भीतर कहीं किसी प्रकार का बहुमूल्य धन भरा हुआ है और कहीं किसी प्रकार का। अपने इस संचित धन-कोश में से हे मातृभूमि ! तू हमें भी यथेष्ट धन-सम्पत्ति प्रदान कर । तू हमें भांति-भांति का धन दे, मणियें दे, सुवर्ण दे तथा और भी सभी कुछ दे।

हे हमारी मातृभूमि ! तू वसुदा है—अनेक प्रकार का धन देने वाली है । तू हम से सदा प्रसन्न रह । और प्रसन्न रह कर हमें विविध प्रकार के धन सदा देती रह । इस प्रकार निरन्तर भांति-भांति का धन प्रदान करती रह कर हमें अपने ऊपर सदा सुख से रख । तेरे ऊपर बसते हुए हम राष्ट्रनिवासियों को कभी किसी प्रकार का धनाभाव क्लेशित न करने पावे।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र की सब प्रकार की खानों का भले प्रकार उपयोग लिया जाना चाहिये। उन में से भांति-भांति के पदार्थों को निकाल कर राष्ट्र को समृद्धि-शाली बनाया जाना चाहिये। राष्ट्र की राज्य-व्यवस्था ऐसी उत्तम होनी चाहिये कि राष्ट्र की खानों से प्राप्त होने वाला ऐश्वर्य राष्ट्र के सभी निवासियों में विभक्त हो

---

१. सुमनस्यमाना=प्रसन्नचित्ता । सुमनाः इव आचरति सुमनस्यते । शानच्। सुमनस्यमाना।

२. रासमाना=ददती। रासतिर्दानकर्मा । निघं० ३ । २० ॥

सकें। उन से प्राप्त होने वाले ऐश्वर्य से राष्ट्र के सभी निवासी प्रत्यक्ष रूप में अथवा परम्परया लाभान्वित हो सकें। प्रत्येक राष्ट्रवासी अपनी मातृभूमि से मन्त्र-गत प्रार्थना कर रहा है। प्रत्येक प्रजाजन अपने राष्ट्र से मन्त्रोक्त ऐश्वर्य की याचना कर रहा है। इस प्रार्थना की स्पष्ट ध्वनि है कि राज्य का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक प्रजाजन को धनवान् बनावे। राष्ट्र का कोई व्यक्ति निर्धन नहीं रहना चाहिये। राष्ट्रभूमि के पेट से निकलने वाला धन सब राष्ट्रवासियों का साझा है।

४५

विविध भाषाओं और नाना धर्मों वाले राष्ट्रवासी

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

अर्थ—(बहुधा) अनेक प्रकार से (विवाचसम्[1]) विविध प्रकार की वाणियों को बोलने वाले (नानाधर्माणं[2]) अनेक प्रकार के धर्मों का पालन करने वाले (जनम्[3]) लोगों को (यथौकसम्[4]) समान घर में रहने वालों की भांति (बिभ्रती) धारण करती हुई (पृथिवी) हमारी मातृभूमि (ध्रुवा) स्थिर खड़ी हुई (अनपस्फुरन्ती[5]) हिलना-डुलना न करती हुई (धेनुः) दुधारू गौ (इव) की तरह (मे) मेरे लिये (द्रविणस्य) धन की (सहस्रं) हजारों (धाराः) धाराओं

---

१. विवाचसम्=विविधानि वचांसि वचनानि वाण्यो यस्य स विवचाः। वकाराकारस्य छान्दसो दीर्घः विवाचाः। यद्वा वचसः स्वार्थे अण्—विवाचसः। वच-परिभाषणे—वचः वचनं वाणी। द्वितीयैकवचने विवाचसम्। जात्येकवचनान्तस्य जनमिति पदस्य विशेषणम्। विविधानां वाणीनां भाषितॄन् इत्यर्थः।

२. नाना विविधप्रकारका धर्माः कर्तव्यानि यस्य स तं नानाधर्माणम्। धर्मादनिच् केवलात् (अष्टा० ५।४।१२४) इति समासान्तः अनिच् प्रत्ययः। जनमित्यस्य विशेषणम्। नानाकर्तव्यपरान् नानाधर्मावलम्बिन इत्यर्थः।

३. जनम्=जातावेकवचनम्। जनान् इत्यर्थः।

४. यथौकसम्=यथा सदृश ओकः यस्य स यथौकसः तम्। यथौकसमिव यथौकसम्। इववाचक-लोपः। योग्यता-वीप्सा-पदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः। यथाऽसादृश्ये (अष्टा० २।१।७) इति समासनिषेधेपि छान्दसः समासः। अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः (अष्टा० ५।४।१०७) इति बाहुलकः समासान्तः टच्।

५. अनपस्फुरन्ती=अविसंचलन्ती। स्फुर संचलने।

को (दुहाम्[१]) दुहे—प्रदान करे।

हमारी मातृभूमि पर लाखों और करोड़ों मनुष्य रहते हैं। वे भिन्न-भिन्न प्रकार की वाणियें बोलते हैं। उन की तरह-तरह की बोलियें हैं। एक ही भाषा बोलते हुए भी उन के मुखों की ध्वनियों के भेद के कारण उन की वाणियें भिन्न-भिन्न प्रकार की हो जाती हैं। किसी की आवाज़ कैसी है और किसी की कैसी। उन की आवाज़ों के भेद के कारण, एक ही भाषा बोलते हुए भी, उन की वाणियें और बोलियें तरह-तरह की हो जाती हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि जल-वायु और अन्य परिस्थितियों के भेद और उन के भिन्न प्रकार के प्रभाव, अपनी पुरानी भाषा को शुद्ध रखने के प्रयत्न में शिथिलता और असावधानी आदि कारणों से कालक्रम में भेद पड़ते-पड़ते राष्ट्र के एक भाग या प्रान्त में रहने वाले लोगों की भाषा दूसरे भाग या प्रान्त में रहने वाले लोगों की भाषा से सर्वथा भिन्न प्रकार की हो जाती है। इस अवस्था में राष्ट्र-निवासियों की वाणियें और भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हो जाती हैं।

हमारे राष्ट्र के ये लाखों और करोड़ों निवासी नाना प्रकार के धर्मों का पालन करते हैं—नाना प्रकार के व्यवहारों का अनुष्ठान करते हैं। कोई किसी काम को कर रहा है और कोई किसी को। कोई किसी कर्तव्य का पालन कर रहा है और कोई किसी का। कोई राज्याधिकारी के कर्तव्यों का पालन कर रहा है और कोई प्रजाजन के। कोई गुरु के कर्तव्यों का पालन कर रहा है और कोई शिष्य के। कोई माता-पिता के कर्तव्यों का पालन कर रहा है और कोई सन्तान के। कोई पति के कर्तव्यों का पालन कर रहा है और कोई पत्नी के। कोई व्यापारी के कर्तव्यों का पालन कर रहा है और कोई ख़रीदार के। कोई ब्राह्मण के कर्तव्यों का पालन कर रहा है, कोई क्षत्रिय के, कोई वैश्य के और कोई शूद्र के। कोई ब्रह्मचर्याश्रम के कर्तव्यों का पालन कर रहा है, कोई गृहस्थाश्रम के, कोई वानप्रस्थाश्रम के और कोई संन्यासाश्रम के। कोई अध्यापक का काम कर रहा है, कोई सैनिक का, और कोई दुकानदारी का। कोई व्यापार कर रहा है, कोई कारख़ाने चला रहा है, कोई खेती कर रहा है और कोई अन्य ही कोई कार्य कर रहा है। इस प्रकार सब राष्ट्रवासी अनेक प्रकार के कार्य कर रहे हैं—नाना प्रकार के कर्तव्यों का, नाना प्रकार के धर्मों का, पालन कर रहे हैं।

कई बार ऐसा भी होता है कि राष्ट्र के कुछ लोगों के आत्मा, परमात्मा

---

१. दुहाम्=दुग्धाम् प्रपूरयतु। दुह प्रपूरणे।

और प्रकृति या जगद्विषयक मन्तव्य विचार-भेद के कारण दूसरे लोगों से भिन्न प्रकार के हो जाते हैं। उन का दर्शन-शास्त्र दूसरों से भिन्न प्रकार का हो जाता है। इस दर्शन-भेद या मन्तव्य-भेद के कारण उन के व्यावहारिक कर्तव्याकर्तव्य-सम्बन्धी विचार भी भिन्न प्रकार के हो जाते हैं और इस विचार-भेद पर आश्रित उन के पूजा-पाठ, खान-पान, विवाह-शादी आदि से सम्बन्धित निश्चय और आचरण भी दूसरों से भिन्न तरह के हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रचलित अर्थों में समझा जाने वाला धर्म भी उन का दूसरों के धर्म से पृथक् प्रकार का हो जाता है। इस दृष्टि से भी कई बार राष्ट्र में नाना धर्मों को मानने वाले लोग हो जाते हैं।

हमारी मातृभूमि पर रहने वाले ये विविध प्रकार की बोलियों को बोलने वाले तथा नाना प्रकार के कामों को करने वाले, नाना प्रकार के धर्मों का पालन करने वाले, लोग परस्पर मिल कर रहते हैं। इस प्रकार प्रेम से मिल कर रहते हैं जिस प्रकार एक घर में रहने वाले लोग प्रेम से मिल कर रहा करते हैं। घर का कोई व्यक्ति कोई काम कर रहा होता है और कोई व्यक्ति कोई। घर में पिता कुछ काम करता है, माता कुछ काम करती है, भाई कुछ काम करते हैं और बहिनें कुछ काम करती हैं। विभिन्न प्रकार के काम करते हुए और कुछ अंश में विभिन्न प्रकार की वाणियें बोलते हुए भी एक घर के सब सदस्य परस्पर प्रेम से मिल कर रहते हैं। उसी प्रकार हमारे राष्ट्र के विभिन्न प्रकार की बोलियों को बोलने वाले तथा विभिन्न प्रकार के धर्मों को मानने और पालने वाले निवासी भी सब परस्पर प्रेम से मिल कर रहते हैं। अपने वाणी-भेद, भाषा-भेद और धर्म-भेद के कारण वे आपस में लड़ते-झगड़ते नहीं हैं। अपने राष्ट्र को वे अपना घर समझते हैं और उस में घर के सदस्यों की भांति ही प्रेम से मिल कर रहते हैं।

राष्ट्रवासियों के परस्पर प्रेम से मिल कर रहने का परिणाम यह होता है कि हमारी मातृभूमि अपने निवासियों के लिये द्रविण[1] की, सब प्रकार के धन-ऐश्वर्य की, सहस्रों धाराओं को स्थिर और अविचल भाव से बहाती रहती है। जैसे एक दुधारु गाय स्थिर, चुपचाप, खड़ी हो कर बिना हिले-डुले अपने कृपापात्र दोग्धा के लिये, धार निकालने वाले के लिये, अमृत जैसे दूध की धारायें प्रवाहित कर देती है उसी प्रकार हमारी मातृभूमि-रूपी गौ[2] भी अपने निवासियों के लिये कृपामयी हो कर उन के कल्याण और सुख-समृद्धि के लिये सहस्रों प्रकार के ऐश्वर्य की धाराओं

१. द्रविणं धन-नाम। निघं० २। १०॥
२. संस्कृत में गाय और भूमि दोनों के लिये गौ शब्द भी प्रयुक्त होता है।

को स्थिर रूप से प्रवाहित करती रहती है। उस का ऐश्वर्यदान निरन्तर चलता रहता है।

हे हमारी मातृभूमि-रूपी गौ-माता! हम पुत्रों पर अपनी कृपादृष्टि निरन्तर रखना और अपने ऐश्वर्य की धाराओं को हमारे लिये सदा बहाती रहना।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि सब राष्ट्रवासियों को वाणी-भेद, भाषा-भेद, और धर्म-भेद रहने की अवस्था में भी प्रेम से मिल कर रहना चाहिये। उन्हें अपनी मातृभूमि को अपना घर समझना चाहिये। और एक घर के निवासी जैसे प्रेम से मिल कर रहते हैं वैसे ही राष्ट्रवासियों को अपने देश में प्रेम से मिल कर रहना चाहिये। जब वे इस प्रकार प्रेम से मिल कर रहेंगे तभी उन का राष्ट्र उन्नति कर सकेगा और उन के लिये ऐश्वर्य की धारायें प्रवाहित कर सकेगा। जिस राष्ट्र के निवासी लड़ते और झगड़ते रहते हैं वह राष्ट्र कभी उन्नत और समृद्ध नहीं हो सकता।

४६

विषैले जन्तुओं के भय से निरापद् राष्ट्र

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोपसृप-
द्यच्छिवं तेन नो मृड॥

अर्थ—(तृष्टदंश्मा[1]) डसने से तृषा उत्पन्न करने वाला (यः) जो (सर्पः) सांप अथवा (वृश्चिकः) बिच्छू (हेमन्तजब्धः[2]) ठण्ड से मारा हुआ (भृमलः[3]) भ्रमणशील, अस्थिर मन वाला अर्थात् घबराया हुआ (ते) तुम्हारे (गुहा) गुफाओं और छिद्रों में (शये) सोता है, और (पृथिवि) हे मातृभूमि! (यत्-यत्) जो-जो (क्रिमिः) क्रिमि (जिन्वत्[4]) तृप्त होता हुआ, प्रसन्न होता हुआ

१. तृष्टदंश्मा=तृष्टं यथा स्यात्तथा दशति इति तृष्टदंश्मा। तृष्टपूर्वाद् दशतेः मनिन् (अष्टा० ३।२।७५)।
२. हेमन्तजब्धः=हेमन्तेन जब्धः। जभ हिंसायाम्।
३. भृमलः=भ्रमणशीलमनाः अनवस्थितचित्तः। भ्रमतेः औणादिकः (उणा० १। १०६) कल प्रत्ययः संप्रसारणञ्च।
४. जिन्वत्=तृप्यन्। जिवि प्रीणने, शतृ।

(प्रावृषि) वर्षा-ऋतु में (एजति) चलता है (सर्पत्) रेंगता हुआ (तत्) वह (नः) हमारे (मा) मत (उपसृपत्) पास आवे (यत्) (शिवं) मंगल है (तेन) उस से (नः) हमें (मृड) सुखी कर।

हे मातृभूमि ! तेरे ऊपर जो विषैले सांप और बिच्छू फिरते रहते हैं जिन के काटने पर उन के विष के प्रभाव से मुंह सूख जाता है और प्यास लगने लगती है तथा मृत्यु भी हो जाती है, जो सरदी की ऋतु में सरदी से घबरा कर बिलों और छिद्रों में छिपे पड़े रहते हैं और गरमी और वर्षा में बिलों से बाहर निकल आते हैं तथा प्रसन्नता से इधर-उधर फिरने लगते हैं और राष्ट्र-निवासियों के लिये भय का कारण बन जाते हैं एवं अन्य भी अनेक प्रकार के क्रिमि जो वर्षा में निकल आते हैं और जिन के काटने से प्रजाजनों को हानि होने की संभावना रहती है, वे सब साँप, बिच्छू और क्रिमि हम तक न पहुंच सकें, हमें हानि न पहुंचा सकें, ऐसी कृपा हम पर तू सदा करती रहना। हे मातृभूमि ! इन प्राणियों से हमारी रक्षा करती रह कर सदा हमें सुख-मंगल प्रदान करती रहना।

मातृभूमि के इस वर्णन और उससे की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राज्य-प्रबन्ध ऐसा उत्तम होना चाहिये कि वर्षा आदि किसी ऋतु में भी सांप और बिच्छू आदि जन्तु प्रजाजनों को डस कर कष्ट न पहुंचा सकें। सफाई आदि का इतना अच्छा प्रबन्ध रहना चाहिये। और यदि कभी कोई सांप आदि किसी को डस भी ले तो उस की चिकित्सा की भी पूरी व्यवस्था होनी चाहिये।

४७

तीन प्रकार की सड़कें

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं
यच्छिवं तेन नो मृड ॥

अर्थ—हे मातृभूमि ! (ये) जो (ते) तुम्हारे (रथस्य) रथों के (वर्त्मा) मार्ग (च) और (अनसः) गड्डों के (यातवे) चलने के लिये, तथा (जनायनाः) मनुष्यों के चलने के (बहवः) बहुत सारे (पन्थानः) मार्ग हैं (यैः) जिन के द्वारा (भद्रपापाः) भले और पापी (उभये) दोनों ही

(संचरन्ति) चलते हैं (तं) उन (अनमित्रम्) शत्रुओंरहित, और (अतस्करम) चोरों से रहित (पन्थानम्[१]) मार्गों को (जयेम) हम विजय करें अर्थात् प्राप्त करें (यत्) जो (शिवं) मंगल है (तेन) उस से (नः) हमें, हे मातृभूमि! (मृड) तू सुखी कर।

हे मातृभूमि! तुम्हारे नगरों और जनपदों में यातायात के लिये अनेक मार्ग बने हुए हैं। राष्ट्र के सब नगर और गांव परस्पर उत्तम सड़कों से जुड़े हुए हैं। नगरों और गांवों के ये सब मार्ग, सब बाजार और नगरों तथा गांवों को परस्पर मिलाने वाली जनपद की सब सड़कें सुविभक्त हैं। उन में रथों अर्थात् सुन्दर घोड़ा-गाड़ी तथा मोटरकार आदि के चलने के लिये अलग मार्ग हैं और भार ढोने वाले गड्डों तथा ट्रक आदि के चलने के लिये अलग मार्ग हैं, एवं लोगों के पैदल चलने के लिये अलग मार्ग हैं। इन सुविभक्त पथों के कारण हे मातृभूमि! हमारे राष्ट्र की यातायात की सब व्यवस्था बड़ी सुन्दर चलती है, किसी को किसी प्रकार का टक्कर आदि लगने का कष्ट नहीं होता।

तुम्हारे इन मार्गों पर हे मातृभूमि! भले और बुरे सभी राष्ट्रवासी सुख-पूर्वक चलते हैं। बुरे लोगों को उन का अपराध पता लग जाने और सिद्ध हो जाने पर राज्य की ओर से दण्ड तो मिलेगा और उन्हें आवश्यक होने पर कारागार आदि में भी डाल दिया जायेगा परन्तु साधारण अवस्था में एक नागरिक के अधिकारों के रूप में उन्हें राष्ट्र के मार्गों के उपयोग से वंचित नहीं किया जा सकता। राष्ट्र के सब निवासी राष्ट्र के मार्गों पर सुख से चलते-फिरते हैं। किसी को पापी, अछूत या अस्पृश्य कह कर राष्ट्र के मार्गों पर चलने से नहीं रोका जा सकता। राष्ट्र के मार्गों पर सब राष्ट्रवासियों को चलने का समान अधिकार है।

हे हमारी मातृभूमि! तेरे मार्गों पर चलते हुए हमें कभी चोरों, डाकुओं या अन्य प्रकार के शत्रुओं का भय नहीं होता। तेरे सब मार्ग निरापद् हैं। तेरे राज्य-प्रबन्ध की ऐसी उत्तम व्यवस्था है और उस का ऐसा प्रचण्ड प्रताप है कि चोर, डाकू या अन्य प्रकार के दस्यु और शत्रु लोग तेरे मार्गों पर चलने वाले यात्रियों को सताने का साहस नहीं कर सकते।

हे मातृभूमि! अपने मार्गों पर चलते हुए हमें निरापद् रख कर तू हमें सदा सुख-मंगल प्रदान करती रहना।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र के नगरों, गांवों और जनपदों में यातायात के लिये भारी

---

१. पन्थानम्—जातावेकवचनम्। मार्गान्।

संख्या में सुन्दर और सुदृढ़ मार्ग बनाये जाने चाहियें जिस से व्यापार आदि में सुविधा हो सके । ये मार्ग सुविभक्त होने चाहियें । रथों के मार्ग पृथक्, भार-वाही गड्डों के मार्ग पृथक् और लोगों के पैदल चलने के मार्ग पृथक् होने चाहियें। जिस से यातायात जल्दी और आराम से हो सके तथा टक्कर आदि का भय न रहे। चोर आदि से राष्ट्र के मार्गों की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध होना चाहिये । राष्ट्र के मार्गों पर सब राष्ट्रवासियों को चलने का समान अधिकार होना चाहिये ।

४८

मातृभूमि के मङ्गल किसे मिलते हैं ?

मल्वंबिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥

अर्थ—(गुरुभृत्) भारी-भारी और बड़े-बड़े पदार्थों को अपने ऊपर धारण करने वाली (मल्वं[1]) धारण-सामर्थ्य को (बिभ्रती) अपने में रखती हुई (भद्र-पापस्य) भले और पापियों के (निधनं) मरण को (तितिक्षुः) सहन करने वाली (पृथिवी) हमारी मातृभूमि (वराहेण[2]) मेघ के साथ (संविदाना) मिली हुई (सूकराय[3]) उत्तम रीति से कर्म करने वाले और (मृगाय[4]) अपने आचरणों से अपने आप को और अन्यों को पवित्र करने वाले पुरुषों के लिये (विजिहीते[5]) प्राप्त होती है अर्थात् उन्हें अपने मंगल प्रदान करती है।

हे मातृभूमि ! तुम में धारण-सामर्थ्य बहुत है। तुम पर्वतों जैसे भारी-भारी और बड़े-बड़े पदार्थों को अपने ऊपर धारण करती हो । तुम मानसिक और आत्मिक योग्यता की दृष्टि से भी गुरु अर्थात् बड़े-बड़े महान् गुणशाली लोगों को

---

१. मल्वम्=धारण-सामर्थ्यम् । मल धारणे धातोः औणादिकः (उणा० १।१५५) वः प्रत्ययः ।

२. वराहः मेघः । निरु० ५ । ४ ॥

३. सूकराय=सुकराय । छान्दसः उकारदीर्घः ।

४. मृगाय=शुद्धाय शुद्धाचरणाय शुद्धिकर्त्रे च । मृगो मार्ष्टेः शुद्धिकर्मणः । मृजूष्-शुद्धौ । यद्वा गतिशीलाय चेष्टाशीलाय । मृगो मार्ष्टेः गतिकर्मणः । निरु० १३ । ३॥ जात्येकवचनम् ।

५. जिहीते=गच्छति, प्राप्नोति । ओहाङ् गतौ ।

अपने ऊपर धारण करती हो । जहां पहाड़ों जैसे बड़े-बड़े भौतिक पदार्थ तुम पर रहते हैं वहाँ उच्चकोटि की योग्यता वाले बड़े-बड़े महापुरुष भी तुम पर निवास करते हैं ।

तुम में हे मातृभूमि ! सहन-सामर्थ्य भी बड़ा है । सभी प्रकार की घटनाओं और सभी प्रकार के लोगों को तुम अपने ऊपर सहन करती हो । अच्छे लोगों के भी जन्म-मरण को तुम सहन करती हो और बुरे लोगों के भी । अच्छे लोगों द्वारा घटने वाली अच्छी घटनाओं को भी तुम सहन करती हो और बुरे आदमियों द्वारा घटने वाली बुरी घटनाओं को भी तुम सहन करती हो । अच्छी और अनुकूल घटनाओं को तुम इस प्रकार सहन करती हो कि उन से तुम फूल कर आपे से बाहर नहीं हो जाती, उन से तुम में अभिमान और घमण्ड नहीं पैदा होता, उन से उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता और हर्ष के अतिरेक के कारण तुम अपनी मानसिक समता और गम्भीरता को नहीं खो बैठती । बुरी और प्रतिकूल घटनाओं को तुम इस प्रकार सहन करती हो कि उन से तुम उदास, खिन्न, हतोत्साह और निराश नहीं होती, तुम बुरी घटनाओं का, कष्टों, विपत्तियों और विघ्न-बाधाओं का दृढ़ता और धैर्य से सामना करती हो । तुम असफलता और विपत्ति में भी शान्त-चित्त और धैर्ययुक्त रह कर असफलता को सफलता में और विपत्ति को सुख-सम्पत्ति में बदलने का प्रयत्न करती रहती हो । तुम्हारी तितिक्षा की, सहनशीलता की, जो कुछ होता है उसे मानसिक समता को बिना खोये सह लेने की, शक्ति की कोई सीमा नहीं है ।

हे मातृभूमि ! तुम मेघ से मिली रहती हो । तुम्हारे अधिवासियों के निर्मल जीवन और निर्दोष राज्य-प्रबन्ध के कारण भगवान् की तुम पर सदा कृपा रहती है और उस कृपा के कारण सदा ठीक समय पर आकर बादल उचित मात्रा में तुम पर बरसते हैं और उन की वर्षा से तुम पर यथेष्ट मात्रा में भांति-भांति की खेतियें होती हैं ।

जो लोग सूकर अर्थात् उत्तम रीति से कर्म करने वाले होते हैं, जिन के सब काम तरीके से व्यवस्था-पूर्वक होते हैं, जिन के सब कामों में निर्मलता रहती है तथा जो स्वयं पवित्र बन कर अन्य राष्ट्रवासियों को भी पवित्र बनाने का प्रयत्न करते रहते हैं उन लोगों को तुम प्राप्त होती हो—उन्हें तुम से मिलने वाली समृद्धि और सुख-मंगल प्राप्त होते हैं ।

हे मां ! तुम्हारी और भगवान् की हम पर सदा ऐसी कृपा बनी रहे कि तुम से मिलने वाली समृद्धि और सुख-मंगल हमें सदा प्राप्त होते रहें ।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र में पाये जाने वाले पर्वतादि गुरु पदार्थों से यथोचित उपयोग लिया जाना चाहिये। तथा राष्ट्र में मानसिक और आत्मिक गुणों की दृष्टि से गुरु अर्थात् बड़े, ऊँची कोटि के, पुरुषों को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। राष्ट्र के लोगों को शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार की होनी चाहिये जिस से उन में सहनशीलता का गुण उत्पन्न हो सके—जिस से वे सफलता-असफलता, सुख-दुःख और संपत्ति-विपत्ति को समचित्त हो कर सहन कर सकें। राष्ट्र के लोगों का चरित्र निर्दोष होना चाहिये जिस से भगवान् की कृपा से राष्ट्र में समय पर उचित परिमाण में वर्षा होती रहे। खेती के लिये वर्षा का पानी सब से अधिक हितकारी होता है। राष्ट्र के लोगों को सब काम उत्तम रीति से, व्यवस्थापूर्वक, करने वाला होना चाहिये। तथा उन्हें अपना आचरण पवित्र रखना चाहिये। ऐसे लोगों का राष्ट्र ही सब प्रकार की उन्नति करता है और उस से राष्ट्रवासियों को सब प्रकार के सुख-मंगल प्राप्त होते हैं[1]।

४६

सिंह आदि हिंस्र पशुओं के भय से विमुक्त राष्ट्र

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥

अर्थ—(पृथिवि) हे मातृभूमि ! (ये) जो (ते) तेरे (आरण्याः) जंगल में रहने वाले (पशवः) पशु और (मृगाः) मृग हैं, जो (वने) वन में (हिताः) रहने वाले (पुरुषादः) मनुष्यों को खा जाने वाले (सिंहाः) सिंह और (व्याघ्राः) व्याघ्र (संचरन्ति) फिरते हैं, उन को तथा (उलं[2]) तीक्ष्ण स्वभाव वाले (वृकं)

१. मन्त्र के उत्तरार्द्ध से ज्योतिष-शास्त्र-विषयक ध्वनि भी निकलती है। तब उत्तरार्द्ध का शब्दार्थ इस प्रकार होगा—(पृथिवी) पृथिवी (वराहेण) मेघ के साथ (संविदाना) मिली हुई अर्थात् मेघ और वायुमण्डल को लिये हुए (सूकराय) उत्तम किरणों वाले (मृगाय) अपने प्रकाश और ताप से सब को शुद्ध करने वाले सूर्य के लिये (विजिहीते) गति करती है अर्थात् सूर्य के चारों ओर भ्रमण करती है।

२. उलम्=तीक्ष्णस्वभावम्। उल दाहे। मार्जारं वा।

भेड़िये को और (दुच्छुनां¹) दुष्ट चाल वाली (ऋक्षीकाम्²) रीछनी को तथा (रक्षः³) छिप कर प्रहार करने वाले अन्य प्राणियों को (इतः) यहां से (अस्मत्) हम से (अप बाधय) दूर हटा दे।

हे मातृभूमि! तेरे जंगलों में अनेक प्रकार के पशु और मृग विचरण करते हैं। उन में से सिंह, व्याघ्र, भेड़िया और रीछ आदि इस प्रकार के हिंसक, तीक्ष्ण तथा दुष्ट स्वभाव के पशु भी होते हैं जो अवसर पाते ही मनुष्यों को मार कर खा जाते हैं। इन हिंसक पशुओं को तथा और भी जो छिप कर प्रहार करने वाले हिंसक वृत्ति के प्राणी हैं उन सब को हे हमारी मातृभूमि! तू सदा हम से दूर रखना। उन सब से तू हमारी सदा रक्षा करते रहना।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राज्य-प्रबन्ध को राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये जिस से सिंह आदि जंगलों में रहने वाले हिंसक प्राणी जंगलों से गांवों और नगरों में आ कर प्रजाजनों को किसी प्रकार का कष्ट न पहुंचा सकें।

५०

राष्ट्र के लोग न निर्धन रहें और न विलासी बनें

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय॥

अर्थ—(ये) जो (गन्धर्वाः⁴) विलासी पुरुष, और (अप्सरसः⁴)

---

१. दुच्छुनाम्=दुष्टगतिं दुष्टस्वभावाम्। टुदु उपतापे। क्विप् तुक् च। दुनोति इति दुत् उपतापिका। शुन गतौ। कः। टाप्। शुना गतिः। दुत् उपतापिका दुष्ट-स्वभावा शुना गतिर्यस्या स्ता ताम्।
२. ऋक्षीकाम्=हिंसिकां भल्लूकीम्।
३ रक्षः=रहसि क्षिणोति। निरु० ४। १८॥
४. गन्धर्वाः अप्सरसः=गन्ध आदि विषयों का सेवन करने वाले और आमोद-प्रमोद में हर समय पड़े रहने वाले पुरुष और स्त्री। अथो गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति। श० ६। ४। १। ४॥ गन्धो मे मोदो मे प्रमोदो मे। तन्मे युष्मासु (गन्धर्वेषु)। जै० उ० ३। २५। ४॥ रूपमिति गन्धर्वाः (उपासते) श० १०। ५। २। २०॥ योषित्कामा वै गन्धर्वाः। श० ३। २। ४। ३॥ स्त्रीकामा गन्धर्वाः। ऐ० १।२७॥

विलासिनी स्त्रियें हैं (च) और (ये) जो (अरायाः) निर्धन (किमीदिनः[1]) दूसरों की चीजों की ओर कामनापूर्ण दृष्टि डालने वाले अथवा पिशुन लोग हैं उन को (पिशाचान्[2]) मांसाहारियों को (सर्वा) सब प्रकार के (रक्षांसि[3]) राक्षस-वृत्ति के पुरुषों को (तान्) उन सब को (भूमे) हे हमारी मातृभूमि! (अस्मद्) हम से (यावय) परे कर दे।

हे मातृभूमि! तू गन्धर्व-प्रवृत्ति के लोगों को हम से दूर रख। जो लोग हर समय अपने बालों और वस्त्रों में भांति-भांति के इतर-फुलेल आदि गन्ध-द्रव्यों को लगाने में रत रहते हैं और सदा आमोद-प्रमोद में ही पड़े रहते हैं ऐसे विलासी स्वभाव के गन्धर्व-प्रकृति के पुरुषों को हमारे राष्ट्र में मत रहने दे। अप्सराओं को अर्थात् विलासी स्वभाव की स्त्रियों को भी हम से दूर रख। उन्हें भी हमारे राष्ट्र में मत रहने दे। हमारे राष्ट्र में कोई किमीदी अर्थात् दूसरों की चीजों की ओर लालचभरी दृष्टि से देखने वाला निर्धन व्यक्ति भी न रहने पावे। तेरे राष्ट्र में ऐसी उत्तम राज्य-व्यवस्था रहे जिस से सब को उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यथेष्ट धन प्राप्त हो सके। दूसरों की निन्दा-चुगली करने वाले पिशुन लोगों को भी हम से दूर रख। पिशाच अर्थात् मांसाहारी लोगों को भी हम से दूर रख। हमारे राष्ट्र में कोई भी मांसाहारी न हो, सब सात्त्विक निरामिष भोजन करने वाले ही हों। राक्षसों को भी हम से दूर रख। जो अवसर पा कर छिप कर दूसरों पर प्रहार करते हैं और इसीलिये जिन से राष्ट्र के लोगों की रक्षा की जानी चाहिये ऐसे राक्षस-प्रकृति के लोगों को भी हमारे राष्ट्र में मत रहने दे। इन सब अवाञ्छनीय लोगों को हे मातृभूमि! तू हम से दूर रख। हमारे राष्ट्र में ऐसे लोगों को मत रहने दे।

हमारे राष्ट्र में कोई निर्धन न रहे जिस से कि उसे दूसरों के पदार्थों की ओर लालच की आंखों से देखने को विवश होना पड़े। सब के पास पर्याप्त धन-सम्पत्ति हो जिस से उन की सब आवश्यकतायें सुखपूर्वक पूरी हो सकें। परन्तु राष्ट्र का कोई भी नर-नारी धन-ऐश्वर्य में लिप्त हो कर विलासी न होने पाये।

---

१. किमिदं किमिदं चरन्ति इति किमीदिनो गर्ह्वाशीलाः पिशुनाश्च।
२. पिशाचान्=पिशिताशिनः। ये प्राणिनां पिशितं मांसं आचामन्ति भक्षयन्ति ते पिशाचाः। पृषोदरादित्वात् साधुः। मांसाहारी लोग।
३. रक्षांसि=छिप कर हानि पहुँचाने वाले दुष्ट लोग। रक्षः रक्षितव्यमस्मात्, रहसि क्षिणोतीति वा, रात्रौ नक्षते इति वा। निरु० ४। १८॥

शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक चैतन्य और आत्मिक पवित्रता की रक्षा करते हुए तप और सादगीपूर्वक रह कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जितना आवश्यक हो उतना ही धन-सम्पत्ति का संग्रह किया जाना चाहिये। उस से अधिक नहीं। जहां निर्धनता से बचना आवश्यक है वहां विलासिता से बचना भी आवश्यक है। राष्ट्रवासियों की विलासिता राष्ट्र को दुर्बल बना देती है। हे मां! हमारे राष्ट्र में किसी को निर्धन भी मत रहने देना और किसी को विलासी भी मत बनने देना।

मातृभूमि से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र का प्रबन्ध ऐसा उत्तम होना चाहिये कि उस में कोई भी व्यक्ति निर्धन न रहे। राष्ट्र के नर-नारियों की शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार की होनी चाहिये कि उन में विलासी बनने की प्रवृत्ति उत्पन्न न हो, कोई निन्दा-चुगली करने वाला न बन सके, कोई मांसाहारी न हो—सब सात्त्विक निरामिष भोजन करने वाले हों, और किसी में छिप कर आघात करने की कुटिल राक्षसी-वृत्ति पैदा न हो सके। और यदि विलासी, पैशाची तथा राक्षसी वृत्ति के लोग कभी उत्पन्न हो जायें तो उन्हें दण्डित किया जाये।

५१

मातृभूमि के सुन्दर पक्षी

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः॥

अर्थ—(यां) जिस पर (द्विपादः) दो पैरों वाले (पक्षिणः) पक्षी, जैसे (हंसाः) हंस (सुपर्णाः) गरुड़ (शकुनाः) शक्तिशाली गिद्ध आदि पक्षी तथा (वयांसि) अन्य पक्षी-गण (संपतन्ति) उड़ते रहते हैं (यस्याम्) जिस पर (मातरिश्वा) वायु (रजांसि) धूल (कृण्वन्) करता हुआ अर्थात् उड़ाता हुआ अथवा (रजांसि[1]) जलों को (कृण्वन्) करता हुआ अर्थात् वर्षा बरसाता हुआ (च) और (वृक्षान्) वृक्षों को (च्यावयन्) गिराता हुआ (ईयते) चलता रहता है,

१. रजांसि=जलानि। उदकं रज उच्यते। निरु० ४। १६॥

जिस पर (वातस्य) वायु के (प्रवाम्[1]) फैलाव, और (उपवाम्[2]) संकोच के (अनु) अनुसार (अर्चिः[3]) प्रकाश (वाति) दौड़ता है, चलता है।

हमारी मातृभूमि पर हंस आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के पक्षी आनन्द से उड़ते फिरते रहते हैं। कोई उन्हें सताता नहीं है। प्रत्युत सब कोई उन के उड़ने की लीला को देख कर आनन्दित होते हैं, पक्षियों की आनन्दपूर्ण उड्डयन-लीला को भी अपनी मातृभूमि की मनोमोहिनी विभूति का एक अंश समझ कर पुलकित होते हैं।

हमारी मातृभूमि पर सब को प्राण देने वाला वायु दिन-रात चलता रहता है। वह चलता-चलता क्रीडा-रस में भर कर कभी धूल उड़ाने लगता है और कभी वृक्षों को उखाड़ कर फैंकने लगता है। और फिर कभी वर्षा बरसाने लगता है। हमारी मातृभूमि पर खेलते रहने वाले वायु की ये लीलायें भी परम मनोहर होती हैं। ये भी हमारी मातृभूमि की अनेकविध विभूति का ही एक चित्र हैं।

हमारी मातृभूमि पर सूर्य आदि का प्रकाश वायु के फैलाव और संकोच के अनुसार, वायु की विरलता और घनता के अनुसार, भिन्न-भिन्न प्रकार की गतियें ग्रहण करता हुआ सब ओर दौड़ता रहता है—परम वेग से चलता रहता है। वायु की घनता[4] और विरलता के कारण बनते रहने वाले प्रकाश के ये गति-

---

१. प्रवाम्=प्रकृष्टगतिम् अग्रगतिं दूरगतिं प्रसृतिम्। विरलभावमित्यर्थः। वा गतौ। वा गमनं गतिः। प्र प्रकर्षे, अग्रे, दूरे। प्रवा=विरलता।

२. उपवाम्=समीपगतिं संकोचम्। घनीभावमित्यर्थः। उप समीपे। उपवा=घनता।

३. अर्चिः=प्रकाशः (दयानन्दः ऋग्० १। ४८। १३ भाष्ये)। किरणः (दयानन्दः ऋग्० ५। २५। ८ भाष्ये)। Ray, flame. (आप्टेकोश)।

४. मन्त्र के "वातस्य प्रवाम् उपवाम् अनुवाति अर्चिः—अर्थात्, जिस पर वायु के फैलाव और संकोच के अनुसार प्रकाश दौड़ता है", इस वाक्य में भौतिक-विज्ञान (Physics) के एक सिद्धान्त की ओर संकेत किया गया है। प्रकाश की किरणों के चलने का यह नियम है कि जब तक वे किसी एक ही घनता (Density) के माध्यम (Medium) में से हो कर चलती हैं तब तक वे निरन्तर सीधी रेखा में चलती रहती हैं। परन्तु जब वे एक घनता के माध्यम से दूसरी घनता के माध्यम में हो कर चलने लगती हैं तो उन के चलने की दिशा बदल जाती है। जब प्रकाश की किरणें विरल माध्यम में चलने के पश्चात् घन माध्यम में हो कर चलने लगती हैं तो उन के चलने की दिशा एक विशेष प्रकार से बदलती है और जब वे घन माध्यम में

वैविध्य भी हमारी मातृभूमि की अद्भुत महिमा बनाते हैं।

हमारी मातृभूमि की महिमा का बखान नहीं हो सकता।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र के नभ में उड़ने वाले पक्षियों को मारा या सताया नहीं जाना चाहिये। राष्ट्र के लोगों

चलने के पश्चात् विरल माध्यम में हो कर चलने लगती हैं तो उन के चलने की दिशा एक दूसरे प्रकार से बदलती है। यह दिशा बदलने का नियम इस प्रकार है:—विरल माध्यम और घन माध्यम जिस धरातल (Plane) या रेखा पर परस्पर मिलते हैं उस धरातल या रेखा पर, किरण के संस्पर्श-बिन्दु में से गुजर कर समकोण बनाती हुई किसी रेखा, जिस का पारिभाषिक नाम लम्ब (Normal) होता है, की कल्पना की जाये तो प्रकाश की किरणें विरल माध्यम से निकल कर घन माध्यम में चलते हुए उस रेखा या लम्ब की ओर झुक कर चलने लगेंगी और फिर इसी दिशा में सीधी चलती रहेंगी, और, जब वे घन माध्यम से निकल कर विरल माध्यम में चलने लगती हैं तो वे लम्ब से परे हट कर चलने लगेंगी और फिर इसी दिशा में सीधी चलती रहेंगी।

वायु में चलने के अनन्तर कांच में चलने और कांच में चलने के अनन्तर वायु में चलने की अवस्था में प्रकाश की किरणें इसी नियम के अनुसार लम्ब की ओर क्रमशः झुक कर और परे हट कर चलेंगी। वायु में चलने के अनन्तर जल में चलने और जल में चलने के अनन्तर वायु में चलने की अवस्था में भी वे इसी नियम से क्रमशः लम्ब की ओर झुक कर और परे हट कर चलेंगी। माध्यम जितना अधिक घना होगा किरणों का लम्ब की ओर झुकाव भी उतना ही अधिक होगा और माध्यम जितना विरल होगा किरणों का लम्ब से परे की ओर हटाव भी उतना ही अधिक होगा। माध्यमों की घनता और विरलता यदि जल्दी-जल्दी बदलती जायेगी तो किरणों की गति की दिशा भी जल्दी-जल्दी बदलती जायेगी। विरल वायु से घन वायु में और घन वायु से विरल वायु में चलने के समय भी प्रकाश की किरण की गति की दिशा इसी नियम के अनुसार बदलेगी।

हमें कोई वस्तु उस दिशा में दिखाई दिया करती है जिस दिशा से उस वस्तु से आने वाली प्रकाश की किरणें हमारी आंखों पर आ कर पड़ती हैं। माध्यम की घनता के आधार पर किरणों की गति की दिशा बदल जाने के इस नियम के कारण कोई वस्तु हमें अपने वास्तविक स्थान से भिन्न स्थान में भी दिखाई दे सकती है। जल में पड़ी हुई वस्तु हमें इसी कारण वास्तविक गहराई की अपेक्षा कई बार कम गहराई पर दिखाई दिया करती है।

को खुली वायु में फिर कर उस का सेवन करना चाहिये और उस द्वारा होने वाली प्राकृतिक छटाओं का आनन्द उठाना चाहिये। वायु की घनता और विरलता के अनुसार प्रकाश की गति में किस प्रकार के फर्क पड़ते हैं इस बात का अध्ययन कर के उस से लाभ उठाना चाहिये।

हमारी पृथ्वी के चारों ओर लगभग दो सौ मील की ऊंचाई तक वायुमण्डल है। सूर्य से हमारी पृथ्वी की ओर आने वाली किरणें पहले खाली आकाश में और फिर इस वायुमण्डल में से हो कर हमारे पास तक पहुँचती हैं। यह वायुमण्डल ऊपर विरल है और नीचे की ओर क्रमशः सघन अर्थात् ऊपर की अपेक्षा अधिक घना होता गया है। इस प्रकार सूर्य से पृथ्वी की ओर आने वाली किरणों को निरन्तर वायुमण्डल के विरल भाग से हो कर सघन भाग में गुजरना पड़ता है। इस लिये ये लगातार लम्ब की ओर झुकती जाती हैं। इस प्रकार सूर्य की किरणें हमारे वायुमण्डल में बिल्कुल सीधी न आ कर कुछ घूमती हुई सी आती हैं। सूर्य की ये किरणें जब हमारी आंखों में पहुँचती हैं तो किरणें जिस ओर से हमारी आंख में घुसती हैं बिल्कुल उसी की सीध में हमें सूर्य दिखाई पड़ता है। किरणें तो घूमती हुई आती हैं पर देखते हम बिल्कुल सीधा हैं, इसलिये सूर्य अपने वास्तविक स्थान से कुछ ऊपर दिखाई पड़ता है। इस का मनोरञ्जक उदाहरण यह है कि सूर्य जब निकलने ही वाला होता है, पर अभी जब तक क्षितिज से नीचे ही होता है, तब तक यद्यपि दिखाई तो नहीं देना चाहिये, पर वायुमण्डल में फैलती हुई सूर्य की किरणें क्योंकि कुछ घूम कर आया करती हैं इस लिये क्षितिज से नीचे होते हुए भी सूर्य की किरणें घूम कर हमारी आंखों में आ जाती हैं, और इसलिये सूर्य अभी नीचे ही होने पर भी अपने स्थान से कुछ ऊपर आकाश में स्पष्ट रूप से हमें दिखाई देने लगता है। इस प्रकार प्रातःकाल सूर्य अपने निकलने से कुछ पहले ही दिखाई देने लगता है और सायंकाल अपने छिप जाने के कुछ समय बाद तक भी वह दिखाई देता रहता है।

इस मन्त्र में घन और विरल माध्यमों में लम्ब की ओर क्रमशः सिकुड़ कर और उस से फैल कर—हट कर—चलती हुई सूर्य-किरणों का वर्णन कर के भौतिक शास्त्र के मनोरञ्जक उपर्युक्त सिद्धान्त का भी संकेत कर दिया गया है। आजकल इस सिद्धान्त का ऐनक, अणुवीक्षण यन्त्र (माइक्रोस्कोप), तथा दूरबीन (टेलिस्कोप) आदि छोटा-बड़ा, उल्टा-सीधा और समीप-दूर कर के दिखाने वाले यन्त्रों के बनाने में बहुत उपयोग किया जाता है।

५२
मातृभूमि के सुन्दर दिन और रात

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया
प्रिये धामनिधामनि ॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस (भूम्याम् अधि) भूमि के ऊपर (अरुणं[1]) चमकीला (च) और (कृष्णम्) काला, इस प्रकार (संहिते) मिले हुए (अहोरात्रे) दिन-रात (विहिते) बनाये गये हैं (वर्षेण) वर्षा से (वृतावृता[2]) ढकी हुई, अथवा (वर्षेण[3]) साल भर में (वृतावृता[4]) सूर्य के चारों ओर आवृत्त होती हुई, घूमती हुई (सा) वह (भूमिः) सब का आश्रय-स्थान (पृथिवी) विस्तार और ख्याति देने वाली हमारी मातृभूमि (नः) हमें (भद्रया) उत्तम रीति से (प्रिये) प्यारे, रमणीय (धामनि-धामनि) प्रत्येक स्थान में (दधातु) धारण करे—रखे ।

हमारी मातृभूमि में उज्ज्वल, चमकीले, वर्ण का दिन और कृष्ण वर्ण की रात मिल कर आते रहते हैं। यह दिन-रात का चक्र निरन्तर चलता रहता है । दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन निरन्तर आता रहता है। दिन में हमारे राष्ट्र के लोग भांति-भांति के कार्य करते हैं और रात्रि में विश्राम करते हैं । इस प्रकार अहोरात्र का, दिन-रात का, निर्माण करती हुई हमारी यह मातृभूमि एक वर्ष में सूर्य के चारों ओर चक्कर लगा आती है । इस वर्ष भर के सूर्य के चारों ओर के उस के परिभ्रमण में जहां वह तीन-सौ-पैंसठ अहोरात्रों का निर्माण करती है वहां वसन्त आदि छैः ऋतुओं की रचना भी वह करती है । इन छैः ऋतुओं में प्रत्येक में उस-उस समय के अनुकूल विभिन्न प्रकार के अन्न, फल और वनस्पतियें

१. अरुणम्=आरोचनम् । अरुणः आरोचनः । निरु० ५ । २० ॥
२. वृतावृता=वृता च आवृता च, भृशमाच्छादिता ।
३. वर्षेण=वर्षपरिमितकालेन । अपवर्गे तृतीया (अष्टा० २ । ३ । ६) इति अत्यन्तसंयोगे तृतीया ।
४. वृतावृता=वर्तनं परिवर्तनं परिभ्रमणं वृत् । वृता वर्तनेन परिभ्रमणेन आवृता सूर्यमभितः आवृत्ता परिभ्रमणं कुर्वती ।

उत्पन्न होती हैं जिन से राष्ट्र के नर-नारियों और दूसरे प्राणियों का जीवन-यापन होता है तथा उन्हें सुख की उपलब्धि होती है।

हमारी मातृभूमि वर्षा से भी ढकी रहती है। उस में खूब वर्षा होती है। खेती के लिये जब-जब वर्षा की आवश्यकता होती है तब-तब समय पर वर्षा होती है और उचित परिमाण में होती है। इस दिशा में देव की हमारे राष्ट्र पर सदा कृपा रहती है।

हे वर्ष-भर में सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण कर के अहोरात्रों और ऋतुओं को बनाने वाली तथा वर्षा से आच्छादित रहने वाली हमारी मातृभूमि! हमारे प्रत्येक धाम को, प्रत्येक स्थान को, हमारे लिये प्यारा और रमणीय बना कर रखना। हमारा कोई भी स्थान अरमणीय न रहने पावे, ऐसा न रहने पावे जिस के प्रति हम में प्रेम और प्रीति उत्पन्न न हो। हमारे सब स्थान सुन्दर, रमणीय और प्यारे लगने वाले हों। हम अपने इन सुन्दर स्थानों में सदा उत्तम रीति से जीवन व्यतीत करने वाले बन कर रहें। तुम्हारी और भगवान् की ऐसी कृपा हम पर सदा बनी रहे।

मातृभूमि के इस वर्णन और उस से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्रवासियों को दिन में कार्य करना चाहिये और रात में विश्राम करना चाहिये। वर्ष-भर की ऋतुओं में प्रत्येक ऋतु में उस के अनुकूल अन्न और फल उपजा कर उन से लाभ उठाना चाहिये। जीवन की पवित्रता द्वारा भगवान् की कृपा प्राप्त करनी चाहिये जिस से सदा समय पर उचित परिमाण में वर्षा होती रहे। वर्षा के लिये यज्ञादि का अनुष्ठान भी करना चाहिये। अपने रहने आदि के सब स्थानों को प्रिय और सुन्दर बना कर रखना चाहिये। और अपना जीवन उत्तम रीति से व्यतीत करना चाहिये। जीवन में किसी प्रकार की निकृष्टता नहीं आने देनी चाहिये।

५३

देव मुझे विस्तार और बुद्धि देते हैं

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः॥

अर्थ—(द्यौः) द्युलोक (च) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष-लोक (च)

और (पृथिवी) पृथिवी-लोक ने (मे) मुझे (इदं) यह (व्यचः[१]) विस्तार (संददुः) दिया है (अग्निः) अग्नि (सूर्यः) सूर्य (आपः) जल (च) और (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य गुणों वाले पदार्थों ने (मे) मुझे (मेधाम्) धारणा-वती बुद्धि को (संददुः) दिया है।

हमारी मातृभूमि ने, उस के अन्तरिक्ष ने और उस से भी ऊपर के द्युलोक ने मुझे और हमारे अन्य राष्ट्रवासियों को विस्तार दिया है। हम अपने राष्ट्र की भूमि, उस के आकाश और उस से भी ऊपर के दूरस्थित द्युलोक को निहारते हैं और इन के विस्तार का चिन्तन करते हैं। उस चिन्तन से हमारे अन्दर भी इन जैसा ही अपना विस्तार करने की भावना उत्पन्न होती है। उस भावना से हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विस्तार करने का प्रयत्न करने लगते हैं। हम अपने हृदय का विस्तार कर के उसे विशाल और महान् बना लेते हैं। अपने मन और मस्तिष्क का विस्तार कर के उसे भांति-भांति के ज्ञान का आगार बना लेते हैं। अपने शरीर की शक्ति का विस्तार कर के उसे महाबलिष्ठ बना लेते हैं। आत्मिक गुणों का विकास कर के अपने आत्मा को पूर्ण आध्यात्मिकता से भर लेते हैं। और अपनी इन शक्तियों के विस्तार द्वारा उस की सहायता से अपनी सुख-समृद्धि का भी खूब विस्तार कर लेते हैं।

हम अपने राष्ट्र में प्रदीप्त होने वाली अग्नि, उस के आकाश में चमकने वाले सूर्य और उस पर बहने वाले जलों के गुणों का तथा इन जैसे दिव्य गुणों वाले वायु आदि अन्य अनेक पदार्थों के गुणों का चिन्तन कर के अपनी बुद्धि का विकास करते हैं और उसे अनेक प्रकार से उन्नत करते हैं। सूर्य और अग्नि जिस प्रकार चमकते हैं उसी प्रकार हम अपनी बुद्धियों को भी प्रकाशवती, ज्ञान से भरी हुई, खरे-खोटे का विवेचन करने वाली बना लेते हैं। जल जिस प्रकार संताप को हर कर शान्ति देने वाले हैं उसी प्रकार हम अपनी बुद्धियों को भी संसार में शान्ति सरसाने वाली बना लेते हैं। अन्य पदार्थों से भी हम इसी प्रकार शिक्षा ग्रहण करते हैं। हम अग्नि, सूर्य, जल और वायु आदि देवों का, दिव्य गुण वाले पदार्थों का, अपने शरीर द्वारा भौतिक रूप में भी सेवन करते हैं। उस सेवन से हमारा स्वास्थ्य बढ़ता है और फिर उस से हमारी बुद्धि बढ़ती और तीव्र होती है। इन देवों-सम्बन्धी विद्याओं का हम अध्ययन करते हैं और इस प्रकार भी हम अपनी

---

१. व्यचः=विस्तारः। वि पूर्वाद् अञ्चु गतौ धातोः औणादिकः असुन् नकार-लोपश्च। व्यचस्वतीः व्यञ्चनवत्यः। निरु० ८। १०॥

बुद्धियों को बढ़ाते हैं।

इस प्रकार हमारे राष्ट्र के ये प्राकृतिक देव हमें विस्तार भी प्रदान करते हैं और मेधा भी—बुद्धि भी। हमारी मातृभूमि इस विधि से भी हमारा मंगल करती है।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्रवासियों को अपने राष्ट्र की भूमि, जल, वायु, अग्नि और सूर्य आदि प्राकृतिक देवों के गुणों का चिन्तन कर के उन से भांति-भांति की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। भौतिक रूप में उन का सेवन कर के उस से अपने स्वास्थ्य की उन्नति करनी चाहिये। इस प्रकार इन के चिन्तन और साहचर्य से अपनी सब प्रकार की शक्तियों का विस्तार और बुद्धि की वृद्धि करनी चाहिये।

५४

विघ्न-बाधाओं का पराभव करने वाले राष्ट्रवासी

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥

अर्थ—(भूम्याम्) अपनी इस मातृभूमि पर (अहम्) मैं (सहमानः) विरोधी शक्तियों का पराभव करने वाला (अस्मि) हूँ (उत्तरः नाम) उत्कृष्ट नाम वाला अर्थात् प्रशंसनीय कीर्ति वाला हूँ (अभीषाड्) सब ओर से विरोधी शक्तियों का पराभव करने वाला (अस्मि) हूँ (विश्वाषाड्) सब विरोधी शक्तियों का पराभव करने वाला हूँ (आशाम् आशाम्) प्रत्येक दिशा में (विषासहिः) विशेष रूप से विरोधी शक्तियों का पराभव करने वाला हूँ।

मेरी मातृभूमि ने मुझे सहमान बना दिया है। विरोधी शक्तियों का पराभव करने वाला बना दिया है। मुझे इतना शक्तिशाली, इतना निर्भय, इतना उत्साही और इतना दृढ बना दिया है कि मै किसी भी प्रकार के विरोध से घबराता नहीं हूँ। मैं सब रुकावटों का, सब विघ्न-बाधाओं का, सब प्रकार के शत्रुओं का डट कर मुकाबला करता हूँ। और उन्हें अपने रास्ते से हटा कर, हरा कर, ही चैन लेता हूँ। मैं अभीषाड् बन गया हूँ। सब ओर से रुकावटों और विघ्न-बाधाओं का पराभव करने वाला बन गया हूँ। कहीं से भी कोई विघ्न-बाधा आ कर उपस्थित हो जाये मैं उस का पराभव कर के, उसे हरा कर, ही दम लेता हूँ। मैं विश्वाषाड् बन गया हूं। मैं सभी प्रकार की रुकावटों, सभी प्रकार के विघ्नों और सभी प्रकार की बाधाओं का

सामना कर के उन का पराभव करने वाला बन गया हूँ। कोई ऐसी विरोधी शक्ति और बाधा नहीं हो सकती जिसे मैं उस का सामना कर के पराजित न कर सकूं। संसार की सारी विरोधी शक्तियें एक साथ मिल कर भी यदि मेरे आगे आ कर खड़ी हो जायें तो मैं उन को भी पराजित करने की शक्ति रखता हूँ। मैं प्रत्येक दिशा में विरोधी शक्तियों का विशेष रूप से पराभव करने वाला बन गया हूँ। मैं जिस दिशा में निकल पड़ता हूँ उस में ही विघ्नबाधाओं का संहार करता चलता हूँ। मेरी आंख जिधर उठ जाती है उधर ही विरोधी शक्तियें भस्म होती चली जाती हैं। इतना शक्तिशाली मेरी मातृभूमि ने मुझे बना दिया है।

मेरी मातृभूमि ने मुझे उत्कृष्ट नाम वाला भी बना दिया है। सब कहीं मेरे नाम की प्रशंसा होती है। सब कहीं मेरी कीर्ति गाई जाती है। मेरे उत्तम गुणों की सब कहीं गाथा गाई जाती है। इतना श्रेष्ठ मेरी मातृभूमि ने मुझे बना दिया है। मैं इतना श्रेष्ठ, इतना गुणवान्, बन गया हूँ तभी तो मैं सहमान हो कर संसार की समग्र विरोधी शक्तियों का सामना कर के उन्हें पराजित करने का सामर्थ्य रखता हूँ।

हे मां! सदा मुझ पर ऐसी कृपा रखना जिस से विरोधी शक्तियों को पराजित करने वाला यह मेरा सामर्थ्य मुझ में निरन्तर बना रहे।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र के लोगों की शिक्षा-दीक्षा, उन का रहन-सहन, खान-पान, और आचार-व्यवहार इस प्रकार का होना चाहिये जो उन्हें शक्तिशाली बना कर उन में विरोधी शक्तियों के पराभव की मन्त्रगत उत्साहमयी भावना को जागृत कर सके। राष्ट्र के लोगों का चरित्र इतना श्रेष्ठ होना चाहिये कि सर्वत्र उन का यश गाया जाये। श्रेष्ठ चरित्र वाले व्यक्ति ही वास्तव में सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं को पराजित कर सकते हैं। चरित्रहीन लोग नहीं।

५४

देवों ने हमारी मातृभूमि को महत्त्व की ओर बढ़ाया है

अदो यद्देवि प्रथमाना पुरस्ताद्देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत्तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः॥

अर्थ—(देवि) हे दिव्य गुणों वाली हमारी मातृभूमि! (देवैः) विविध व्यवहारों में कुशल विद्वान पुरुषों द्वारा (उक्ता) प्रशंसित, और (प्रथमाना) विस्तृत होने

वाली तुम (यत्) जब (पुरस्तात्) पहले (महित्वम्) महत्व की ओर (व्यसर्पः) बढ़ती हो, तब (त्वा) तुम में (सुभृतम्) सुन्दर ऐश्वर्य (आ-अविशत्) प्रवेश करता है और तब तुम (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) विस्तीर्ण दिशाओं को अर्थात् उन में रहने वाली प्रजाओं को (अकल्पयथाः) समर्थ बनाती हो।

हे मातृभूमि! तुम्हारे जिस महान ऐश्वर्य की हम महिमा गा रहे हैं वह तुम्हारा ऐश्वर्य यों ही अकस्मात् नहीं आ गया है। हमारे राष्ट्र के देव-पुरुषों ने, विविध प्रकार के व्यवहारों में कुशल. विद्वान् राष्ट्र निवासियों ने, पहले तुम्हारी प्रशंसा के गीत गाये हैं, तुम्हारे मातृत्व को अनुभव किया है. तुम्हें माता समझ कर अपने भीतर तुम्हारे प्रति आदर-बुद्धि जागृत की है और तुम्हारे प्रति अपने कर्तव्यों को पहिचाना है, तुम्हारे प्रति श्रद्धावान हो कर तुम्हारे गौरव, मान और प्रतिष्ठा के गीत गाते हुए तुम्हारे प्रति अपने कर्तव्यों को पूरी निष्ठा के साथ पालन करने का निश्चय किया है। इस निश्चय के पश्चात् वे देव-पुरुष अपने देव-कार्यों में लग गये हैं, राष्ट्र को सब प्रकार से उन्नत बनाने वाले विविध प्रकार के व्यवहारों में. व्यवसायों और उद्योग-धन्धों में लग गये हैं। और इस प्रकार वे तुम्हारा विस्तार करने में, सब दृष्टियों से तुम्हें बड़ी बनाने में, महिमाशालिनी बनाने में लग गये हैं। अपने देव-गुणों से तुम्हें भी देवी बनाने में, देव-गुणों वाली बनाने में लग गये हैं।

राष्ट्र के इन देव-पुरुषों के प्रयत्न से जब तुम महत्त्व की ओर बढ़ने लग पड़ी हो तभी तुम में भांति-भांति का सुभृत, नाना प्रकार का सुन्दर ऐश्वर्य, आ पाया है। और तभी तुम्हारी फैली हुई बड़ी-बड़ी दिशाओं में रहने वाले प्रजाजन समर्थ बन सके हैं—उन में सब प्रकार का सामर्थ्य, सब प्रकार की शक्ति आ सकी है। ऐश्वर्य और सामर्थ्य को प्राप्त करने की तुम्हारी यह कहानी है।

हे हमारी मातृभूमि! तुम्हें देवी और महिमाशालिनी बनाने वाले देव-पुरुषों की यह परम्परा हमारे राष्ट्र में सदा चलती रहे और उस से प्राप्त होने वाला ऐश्वर्य और सामर्थ्य हम प्रजाजनों को निरन्तर मिलता रहे। यह कृपा हम पर सदा ही रखना।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र को ऐश्वर्यशाली और सामर्थ्यवान् बनाने के लिये मातृभूमि को देवी बनाया जाना आवश्यक है. राष्ट्र में दिव्य गुणों का आना आवश्यक है। राष्ट्र को देव अर्थात् दिव्य गुणों वाला बनाने के लिये उस में देव-पुरुषों का होना, नाना प्रकार के व्यवहारों में चतुर, विद्वान् और योग्य पुरुषों का होना आवश्यक है। जब ये

देव-पुरुष महत्त्व और विस्तार की ओर अग्रगामी होंगे तभी उन के राष्ट्र में ऐश्वर्य और सामर्थ्य उत्पन्न होगा। अयोग्य, चेष्टाहीन और निरुद्यमी लोगों का राष्ट्र कभी ऐश्वर्यवान् और समर्थ नहीं बन सकता।

५६

हम सदा राष्ट्र के हित की ही बात कहेंगे और करेंगे

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥

अर्थ—(अधि भूम्याम्) तुम भूमि पर (ये) जो (ग्रामाः) गांव हैं (यत्) जो (अरण्यम्) जंगल हैं (याः) जो (सभाः) सभायें होती हैं (ये) जो (संग्रामाः) संग्राम होते हैं, और जो (समितयः) समितियें होती हैं (तेषु) उन सब में, हे मातृभूमि ! हम (ते) तुम्हारे लिये (चारु) सुन्दर बात, हित की बात (वदेम) बोलें।

हे मातृभूमि ! तेरे गांवों और नगरों में रहने वाले हम प्रजाजन जब गांवों और नगरों में एकत्र हो कर, ग्राम-पंचायतों और नगर-सभाओं में एकत्र हो कर, बातचीत करेंगे तो तेरे लिये सुन्दर बात,तेरे लिये हित की बात,ही करेंगे। हम अपनी ग्राम-पंचायतों और नगर-पंचायतों में बैठ कर कोई ऐसी बात नहीं कहेंगे और करेंगे जो हमारे राष्ट्र का अहित करने वाली होगी। तेरे जंगलों में फिरते हुए भी हम तेरे हित की ही बात कहेंगे और करेंगे। वहां भी हम तेरे अहित की कोई बात नहीं कहेंगे और करेंगे।

जब हम राष्ट्र का राज्य-प्रबन्ध करने वाली सभा[१] और समिति नामक राज-सभाओं में बैठ कर विचार-विनिमय और कर्तव्य-निश्चय करेंगे तो वहां भी हम तेरे लिये सुन्दर, तेरे हित की, ही बात कहेंगे और करेंगे। तेरे अहित की

१. वेद में सभा और समिति ये दोनों शब्द अपने विशेष अर्थ में राज्य का प्रबन्ध करने वाली राष्ट्र-सभा (पार्लियामैण्ट) की दो सभाओं के वाचक हैं। राष्ट्र-सभा की निचली सभा 'सभा' शब्द से और ऊपर की सभा 'समिति' शब्द से कही जाती है। इस सम्बन्ध में हम विस्तृत विचार अपने 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में करेंगे। अपने सामान्य अर्थ में ये दोनों शब्द किसी भी सभा और समिति के लिये प्रयुक्त होते हैं।

कोई बात वहां बैठ कर हम नहीं कहेंगे और करेंगे । हम वहां बैठ कर जो निश्चय करेंगे, जो धर्म[१] बनायेंगे, जो नियम, व्यवस्था और कानून बनायेंगे, उन में हमारा प्रेरक भाव तुम्हारा हित करना ही होगा—सारे राष्ट्र का भला करना ही होगा । किसी प्रकार के वैयक्तिक या वर्ग-विशेष के स्वार्थ की तुच्छ भावना से प्रेरित हो कर राष्ट्र की बहुसंख्यक प्रजाओं का अहित करने वाले धर्म या कानून हम उन सभाओं में बैठ कर बनाने में प्रवृत्त नहीं होंगे ।

भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये राष्ट्र में जो और भी छोटी-बड़ी सभा-समितियें बनेंगी उन में भी हम हे मातृभूमि ! तेरे हित की ही बात कहेंगे और करेंगे । तेरे अहित की बात हमारे मुख से किसी भी सभा-समिति में नहीं निकलेगी ।

और हे मातृभूमि ! यदि कभी कोई आक्रान्ता हमारे राष्ट्र पर आक्रमण कर बैठा और हमें उस से संग्राम करने के लिये प्रवृत्त होना पड़ा या किसी अन्य कारण से हमें किसी युद्ध में प्रवृत्त होना पड़ा तो उन युद्धों में भी हे मां ! हम तेरे हित की ही बात कहेंगे और करेंगे । हम राष्ट्रवासियों में से कोई भी कोई ऐसी बात उन युद्धों में नहीं कहेगा और करेगा जो तेरा अहित करने वाली होगी । तेरे हित में हम उन युद्धों में मर जाना तो स्वीकार कर लेंगे पर कोई ऐसी बात कहना और करना पसन्द नहीं करेंगे जिस से तेरी हानि होती होगी ।

मातृभूमि के प्रति देश-भक्त के इस उद्गार द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्रनिवासियों को ग्राम और नगरों की पञ्चायतों में, राज्य का प्रबन्ध करने वाली सभा और समिति नामक राज-सभाओं में, अन्य भी सभी प्रकार की सभा और समितियों में, संग्रामों में, बस्तियों और जङ्गलों में, जहां कहीं भी वे हों, जब समय आये तो राष्ट्र के हित की बातें ही कहनी और करनी चाहियें ।

५७

सदा से दुष्टों को झाड़ कर परे फेंकते रहने वाली मातृभूमि

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान्य आक्षियन्पृथिवीं यादजायत ।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥

---

१. संस्कृत-साहित्य में कानून के लिये धर्म शब्द का ही प्रयोग होता है ।

अर्थ—(अश्वः) घोड़ा (इव) जिस प्रकार (रजः) धूल को (विदुधुवे[1]) झाड़ कर फैंक देता है, उसी प्रकार (ये) जो लोग (पृथिवीम्) हमारी इस मातृभूमि को (आक्षियन[2]) क्षीण करते हैं, हानि पहुंचाते हैं (तान्) उन (जनान्) लोगों को (यात्[3]) जब से (अजायत) बनी है, तभी से यह हमारी मातृभूमि (विदुधुवे) झाड़ कर परे कर देती रही है—उन्हें सुधारती और दण्डित करती रही है, यह हमारी मातृभूमि (मन्द्रा) हर्षित रहने और हर्ष देने वाली है (अग्रेत्वरी) आगे की ओर, उन्नति की ओर, शीघ्रता से बढ़ने वाली है (भुवनस्य) समस्त उत्पन्न होने वाले पदार्थों की (गोपाः) रक्षा करने वाली है (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों का और (ओषधीनाम्) ओषधि-अनाजों का (गृभिः) ग्रहण करने वाली—धारण करने वाली है ।

जिस प्रकार घोड़ा अपने शरीर पर लगी हुई धूल को झाड़ कर परे फैंक देता है उसी प्रकार हमारी यह मातृभूमि अपने ऊपर रहने वाले उन लोगों को झाड़ कर परे कर देती रही है जो लोग इसे क्षीण करते रहे हैं, इस को हानि पहुंचाते रहे हैं । इस का यह क्रम तभी से चला आ रहा है जब से यह बनी है । जब से इस पर हमारे पूर्वजों ने रहना आरम्भ किया था और इसे माता समझ कर इस के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना आरम्भ किया था तभी से यह राष्ट्र को क्षीण करने वाले, राष्ट्र की हानि करने वाले, दस्यु-प्रकृति के लोगों को अपने ऊपर से झाड़ कर परे करती रही है । या तो यह उन्हें सुधारने का प्रयत्न कर के उन की दुष्ट प्रकृति को ठीक करने द्वारा उन्हें अपने पर से हटाती रही है, और या जो सुधर नहीं सके हैं उन्हें दण्डित कर के कारागार आदि में डाल कर उन्हें प्रजा में से हटाने द्वारा अपने से परे करती रही है । इस ने राष्ट्र की किसी प्रकार की भी हानि करने वाले लोगों को कभी अपने ऊपर सहन नहीं किया है ।

इस प्रकार यह हमारी मातृभूमि राष्ट्र को क्षीण करने वाले लोगों को अपने से अलग कर के 'मन्द्रा' बन कर रही है । स्वयं हर्ष-आनन्द में रही है और अपने

---

१. विदुधुवे=शरीरमुत्कम्प्य दूरं प्रक्षिपति । धूञ् कम्पने । लिटि रूपम् । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अष्टा० ३ ४ । ६) इति भूतकालवाचिनो लिट्-लकारस्य सामान्यकाले प्रयोगः ।

२. आक्षियन=क्षयं कुर्वन्ति । क्षि क्षये भ्वादिः । क्षि हिंसायाम् स्वादिः । लङि रूपम् । तुदादित्वं छान्दसम् । भूतकालवाचिनो लङ्लकारस्य छान्दसः (अष्टा० ३ । ४ । ६) सामान्यकालप्रयोगः ।

३. यात्=यस्मात् कालात् । छान्दसः स्मादादेशाभावः ।

सम्पर्क में आने वालों को हर्ष-आनन्द से युक्त करने वाली रही है। यह सदा अग्रेत्वरी रही है। सदा आगे बढ़ने में, सब दिशाओं में उन्नति करने में, त्वरा करने वाली, शीघ्रता करने वाली, रही है। उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ने में इस ने कभी आलस्य नहीं किया है। यह सदा अपने ऊपर वनस्पतियों को, भांति-भांति के वृक्षों को, और ओषधि-अनाजों को उत्पन्न करती रही है। और इस प्रकार अपने ऊपर उत्पन्न होने वाले प्राणियों का सदा पालन करती रही है। सब को हर्ष-आनन्द में रखने और सब का पालन-पोषण करने का यह क्रम भी इस का सदा से रहा है।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि जो लोग राष्ट्र को क्षीण करते हैं, उसे हानि पहुंचाते हैं, उन्हें सुधार कर अथवा दण्डित कर के राष्ट्र की हानि के कर्म से पृथक् रखना चाहिये। दुष्ट प्रकृति के लोगों को राष्ट्र की हानि करने वाले कर्मों से अलग रखने का यह कार्य सदा होता रहना चाहिये। इस में कभी ढील नहीं होनी चाहिये। राष्ट्रनिवासियों को उन्नति के मार्ग पर आलस्य छोड़ कर शीघ्रता से आगे बढ़ने वाला बनना चाहिये। राष्ट्र में सब प्रकार के वृक्षों और ओषधि-अनाजों की उपज बढ़ानी चाहिये। और इस प्रकार सब प्रजाओं को सुरक्षित, हर्षित और आनन्दित रखना चाहिये।

५८

राष्ट्रवासियों के पांच गुण

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः॥

अर्थ—(यत्) जो कुछ (वदामि) मैं बोलता हूँ (तत्) वह (मधुमत्) मधु से भरा हुआ (वदामि) बोलता हूँ (यत्) जो कुछ (ईक्षे) मैं देखता हूं (तत्) वह (मा) मुझ को (वनन्ति) सेवन करता है अर्थात् मैं उस से लाभ उठाता हूँ, शिक्षा लेता हूँ, मैं (त्विषीमान्) तेजस्वी (अस्मि) हूँ (जूतिमान्) वेगवान, गतिशील अर्थात् आगे बढ़ने वाला हूँ (दोधतः[१]) हम पर क्रोध करने वाले (अन्यान्) शत्रुओं को (अवहन्मि) मैं मार गिराता हूँ।

हे हमारी मातृभूमि ! तेरी कृपा और प्रबन्ध-व्यवस्था द्वारा मैं तेरा भक्त

१. दोधतः=क्रुध्यतः। दोधतिः क्रुध्यतिकर्मा। निघं० २। १२॥

ऐसा बन गया हूँ कि जब मैं कुछ बोलता हूँ तो मधु से भरा हुआ बोलता हूँ। मेरे मुख से जो भी शब्द निकलते हैं उन से शहद टपक रहा होता है, माधुर्य बरस रहा होता है, रस झर रहा होता है, मिठास बरस रहा होता है। मेरे मुख से कभी कड़वा, दूसरे को चुभने वाला, जहर से भरा कोई शब्द नहीं निकलता। मेरे हृदय में मिठास भरा होता है, प्रेम भरा होता है। उसी प्रेम और मिठास का प्रकाश मेरे शब्दों से हो रहा होता है। मैं अपने मिठास और प्रेम-भरे शब्दों और व्यवहार से जिस के साथ भी मेरा सम्पर्क होता है उसे ही अपना बना लेता हूं, उसे ही अपने साथ एक ऐसे बन्धन से बांध लेता हूँ जो कभी टूटेगा नहीं।

हे मातृभूमि! तुम्हारी कृपा से मैं ऐसा बन गया हूँ कि अपनी आंखों से जो कुछ मैं देखता हूँ और कानों से जो कुछ सुनता हूँ वह मेरी सेवा करता है, वह मुझे लाभ पहुंचाता है, उस से मैं कोई-न-कोई शिक्षा ग्रहण करता हूँ। मैं अपने चारों ओर के जगत में आंखों और कानों को खोल कर चलता हूँ। मेरी पर्यवेक्षण-शक्ति सदा सतर्क और जागरूक रहती है। मैं चौकन्ना हो कर चलता हूँ। मेरी आंखों के आगे जो कुछ आता है और कानों में जो कुछ पड़ता है मैं उसे ध्यान से देखता और सुनता हूँ। जो घटनाओं का प्रवाह प्रतिक्षण मेरे चारों ओर बह रहा होता है मैं उस का बारीकी से अध्ययन करता हूँ। मैं अपने विचार द्वारा प्रत्येक घटना की तह में जाने का प्रयत्न करता हूँ। उस के स्वरूप और कारणों को पूरी तरह समझने की चेष्टा करता हूँ। और इस प्रकार सूक्ष्मता से उस का अध्ययन कर के उस से अपने लिये जो शिक्षा और लाभ मिल सकता हो उसे लेने में प्रयत्नशील रहता हूँ। मेरे कानों में जो शब्द निरन्तर पड़ रहे होते हैं मैं उन के भी मर्म को समझने का पूरा प्रयत्न करता हूँ। और उसे समझ कर उस से अपने लिये कोई-न-कोई शिक्षा निकाल लेता हूँ।

मैं त्विषीमान्[१] बन गया हूँ। तेजस्वी और प्रतापी बन गया हूँ। मैं जिन लोगों के बीच में रहता हूँ वे मेरी उपेक्षा नहीं कर सकते, मुझे नगण्य नहीं समझ सकते। उन्हें मेरी उपस्थिति और सत्ता अनुभव करनी पड़ती है। और मुझे भी अपने जैसा ही आदर और सन्मान के योग्य व्यक्ति समझ कर उन्हें मेरे साथ सन्मानपूर्ण यथायोग्य बरताव करना पड़ता है। मैं तेजस्वी[२] हूँ। मुझ में चुभ जाने

१. त्विषीमान= प्रदीप्ततेजोयुक्तः। त्विषी प्रदीप्तं तेजः। त्विष दीप्तौ।

२. तेजस्वी=तेजोयुक्तः। तेजस् शब्द 'तिज निशाने' धातु से बनता है जिस का अर्थ तेज करना, तीक्ष्ण करना, पैना करना होता है। तीक्ष्णता के, पैनेपन के, चुभने के, काटने के, गुण को भी तेजस् कहेंगे।

की, काट सकने की, शक्ति है। मैं प्रतापी[1] हूँ। मुझ में तपा डालने की, जला डालने की, शक्ति है। मैं राख का ढेर नहीं, आग का पुञ्ज हूँ। मैं आवश्यकता पड़ने पर चुभ भी सकता हूँ और जला भी सकता हूँ। कोई मेरा खामखाह अपमान और निरादर कर के, मुझे यों ही हानि पहुंचा कर, चैन और आराम से नहीं बैठा रह सकता है। मैं उसे बता दूंगा कि उसका किसके साथ पाला पड़ा है। तब वह मेरी चुभ जाने की, काट डालने की, शक्ति को अनुभव करेगा। तब वह मेरे प्रताप को, मेरी तपा डालने और जला डालने की शक्ति को, देखेगा। मुझ तेजस्वी और प्रतापशाली को कोई अपमानित और निरादृत नहीं कर सकता। हे मां! तुम ने मुझे ऐसा बना दिया है।

मैं जूतिमान्[2] हूँ। वेगवान् हूँ, गतिशील हूँ। मुझ में आगे बढ़ते रहने का गुण है। मैं सदा उन्नति करता रहता हूँ। मैं स्थिर नहीं खड़ा रहता। मैंने जो कुछ प्राप्त कर लिया है उसी पर मैं सन्तुष्ट नहीं रहता। मेरा जितना उत्कर्ष हो चुका है उतने पर ही मेरा सन्तोष नहीं रहता। मैं आगे बढ़ता रहता हूँ। जो कुछ मुझे प्राप्त है उस से अधिक प्राप्त करने की मेरी चेष्टा रहती है। मेरा जितना उत्कर्ष हो चुका है उस से अधिक उत्कर्ष प्राप्त करने का मेरा उद्योग रहता है। इस गतिशीलता के कारण मुझ में बहती हुई नदी का जीवन रहता है—शुद्ध और निर्मल तथा शक्ति से सम्पन्न। इस के कारण मुझ में चारों ओर से बन्द पड़े हुए तालाब के जल की सी सड़ांद, गन्दगी, दुर्गन्ध और शक्ति-हीनता नहीं आ पाती। इस के कारण मैं सदा ताज़ा, निर्मल और जीवन-शक्ति से युक्त बना रहता हूँ।

और हे मां! जो लोग मेरे शत्रु बन कर मेरे प्रति क्रोध करते हैं और मुझे हानि पहुंचाना चाहते हैं तथा मेरे अधिकारों को हड़पना चाहते हैं मैं उन्हें भी बता देता हूँ कि उन का वास्ता किस के साथ पड़ा है। वे मेरे मुकाबले में आ कर टिके नहीं रह सकते। उन्हें पराजित होना पड़ता है, मुंहकी खानी पड़ती है। मैं उन्हें मार गिराता हूँ, पटक कर मिट्टी में मिला डालता हूँ। मुझ पर कोई आक्रमण कर दे और फिर बचा रहे यह नहीं हो सकता। मैं स्वयं अपनी ओर से पहले किसी को छेड़ता नहीं हूँ और छेड़े जाने पर किसी को छोड़ता नहीं हूँ। मैं स्वयं तो अपनी ओर से हर किसी के साथ मधुरता का, प्रेम का, ही व्यवहार

---

१. प्रतापी शब्द 'तप उपतापे' धातु से बनता है जिस का अर्थ तपना, तपाना, जलना, जलाना होता है। तपाने के, जलाने, के गुण को भी प्रताप कहेंगे। वह गुण जिस में हो वह प्रतापी कहा जायेगा।

२. जूतिमान्=वेगवान्, प्रगतिमान्, उन्नतिशीलः। जु रंहसि। जुङ् गतौ।

करता हूँ। पर यदि कोई मधुरता और प्रेम के मेरे आचरण को मेरी दुर्बलता का परिचायक समझ कर मुझ से शत्रुता करने लगे और मुझे दबाना चाहे तो मैं उस के दांत खट्टे करने की शक्ति भी रखता हूँ। ऐसा उद्दाम और प्रचण्ड शक्तिसम्पन्न हे मातृभूमि ! तुम ने मुझे बना दिया है।

इस प्रकार ये पांच महान् गुण हे मातृभूमि ! तुम्हारी कृपा से मुझ में उत्पन्न हो गये हैं।

मातृभूमि के भक्त के इन उद्गारों द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र के लोगों की शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार की होनी चाहिये कि प्रत्येक राष्ट्रवासी जो कुछ बोले वह शहद सा मीठा बोले। प्रत्येक राष्ट्रवासी में पर्यवेक्षण की शक्ति खूब उन्नत होनी चाहिये जिस से संसार के प्रत्येक पदार्थ और घटना को देख कर वह उस से यथोचित शिक्षा ग्रहण कर सके। प्रत्येक राष्ट्रवासी को तेजस्वी तथा प्रतापी होना चाहिये। आगे बढ़ने वाला, उन्नति करते रहने वाला, होना चाहिये। शत्रुओं को पूरी तरह पराजित कर सकने की शक्ति वाला होना चाहिये। जिस से सब राष्ट्रवासी ऐसे बन सके ऐसा प्रबन्ध राज्य को करना चाहिये।

५६
गौ की उपमा वाली मातृभूमि

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती ।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥

अर्थ—(शन्तिवा) शान्ति वाली (सुरभिः) गौ जैसी अथवा सुगन्ध वाली और सब प्रकार के ऐश्वर्य वाली (स्योना) सुखदायक (कीलालोध्नी) अमृत से भरे हुए स्तनों वाली (पयस्वती) दुग्धादि पदार्थों वाली (भूमिः) सब का आश्रय-स्थान (पृथिवी) विस्तार और ख्याति देने वाली हमारी मातृभूमि (मे) मेरे लिये (पयसा) अन्न और जल के (सह) साथ (अधिब्रवीतु) बोले।

हे मातृभूमि ! मैं तेरा भक्त तेरी महिमा के गीत कहां तक गाऊं ? ऊपर कही गई सब महिमायें तो तुझ में हैं ही, पर जब मैं तेरी महिमा और विभूतियों पर विचार करने लगता हूँ तो तू मुझे एक सुरभि[1] अर्थात् गौ जैसी दीखने लगती

१. संस्कृत में गौ और सुरभि ये नाम गौ के भी होते हैं और पृथिवी के भी। सुरभि सुगन्ध वाली वस्तु को भी कहते हैं तथा मनोहर और रमणीय वस्तु को

है। गौ जैसे सुरभि अर्थात् रमणीय, मनोहर, सुन्दर, प्यारी, लगने वाली होती है वैसे ही तू भी सुरभि है। तेरा रूप भी मुझे बड़ा मनोहर, बड़ा रमणीय, सुन्दर और प्यारा लगता है। तू सुन्दर गन्ध वाली होने के कारण भी सुरभि है। अनेक प्रकार के ऐश्वर्य देने के कारण भी तू सुरभि है। गौ जैसे शन्तिवा अर्थात् शान्त स्वभाव वाली होती है वैसे ही तू भी शन्तिवा है, शान्त स्वभाव वाली है। तू सब के साथ शान्तिपूर्वक ही रहना चाहती है। तू किसी के साथ व्यर्थ लड़ाई-झगड़ा नहीं करना चाहती। गौ जैसे स्योना अर्थात् सुख देने वाली होती है वैसे ही तुम भी स्योना हो। तुम भी सब को सुख पहुँचाती हो। गौ जैसे कीलालोध्नी होती है वैसे ही तुम भी कीलालोध्नी हो। गौ के स्तनों में कीलाल अर्थात् अमृत जैसा गुण-कारी दुग्ध भरा रहने के कारण वह कीलालोध्नी होती है। तुम्हारे देह से भी अनेक प्रकार के अमृत जैसे गुणकारी पदार्थ निकलते हैं इस लिये तुम भी कीला-लोध्नी हो। गौ पयस्वती होती है। वह दूध देती है इसलिये पयस्वती है। तुम भी पय-स्वती हो। तुम पय अर्थात् अन्न और जल देती हो इसलिये पयस्वती हो। गौ जैसे अपने बछड़े को पय अर्थात् दूध पिलाने के लिये बुलाती है, रंभाती है, वैसे ही हे हमारी मातृभूमि! तू भी अपना पय अर्थात् अन्न, जल, रस आदि पौष्टिक पदार्थ देने के लिये प्रत्येक प्रजाजन को पुकारती रहती है। तू सब प्रजाओं के खान-पान की चिन्ता और व्यवस्था करती है।

हे मां! अपना यह पय, यह दूध, पिलाने के लिये तू मुझे सदा बुलाती रहना।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्रवासियों को अपनी मातृभूमि की गौ के साथ उपमा को ध्यान में रखते हुए गौ के शान्त-स्वभावता आदि गुणों को अपने अन्दर धारण करना चाहिये। जैसे हम अपनी गौ से प्यार करते हैं वैसे ही हमें अपनी मातृभूमि से भी प्यार करना चाहिये। गौ की जैसे हम रक्षा करते हैं वैसे ही हमें अपनी मातृभूमि की रक्षा करनी चाहिये। जैसे हम गौ के दुग्ध आदि से उपयोग लेते हैं वैसे ही हमें अपनी मातृभूमि में पाये जाने वाले पदार्थों से लाभ उठाना चाहिये। मातृभूमि की गौ के साथ उपमा से यह भी ध्वनि निकलती है कि जैसे मातृभूमि सब प्रकार से रक्षा करने के योग्य है वैसे ही गौ भी सब प्रकार से रक्षा करने के योग्य है।

भी कहते हैं। 'सुर ऐश्वर्यदीप्त्योः' धातु से औणादिक अभिच् प्रत्यय करने पर भी सुरभि शब्द बन सकता है। उस अवस्था में सुरभि का अर्थ ऐश्वर्य वाली भी हो सकेगा।

६०

मातृभूमि का मातृभूमित्व

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम् ।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥

अर्थ—(अर्णवे) समुद्र में और (रजसि अन्तः) धूल में, मट्टी में, (प्रविष्टाम्) प्रविष्ट (याम्) जिस भूमि को (विश्वकर्मा[1]) भांति-भांति के कर्म करने में निपुण प्रजाजन (हविषा) आत्मत्याग के द्वारा (अन्वैच्छद्) चाहते हैं (मातृमद्भ्यः) उस भूमि को माता समझने वालों के लिये (यत्) जो (भुजिष्यं[2]) खाने योग्य, और (पात्रम्[3]) पीने योग्य पदार्थ (गुहा) गुफा में (निहितम्) रखे होते हैं, वे भी (भोगे) भोग के लिये (आविः) प्रकट (अभवत्) हो जाते हैं

इस हमारी मातृभूमि को यदि हम ऊपर-ऊपर से, स्थूल दृष्टि से, देखें तो इस का स्वरूप क्या रह जाता है ? तब हमें इस का रूप समुद्र में और मट्टी में प्रविष्ट दिखाई देता है। तब हमें यह समुद्र के पानी से निकल कर बाहर आई हुई मट्टी का ढेर मात्र केवल दिखाई देती है। तब इस जड़ पदार्थ में मातृत्व कुछ भी नहीं होता। परन्तु जब इस पर रहने वाले प्रजाजन इस के साथ अपनी मानसिक भावना जोड़ लेते हैं और इसे अपनी माता समझने लगते हैं तथा इस के निवासियों को अपना भाई समझने लगते हैं तब यह उन की माता बन जाती है और वे इस माता को प्राप्त कर के मातृमान्—माता वाले—हो जाते हैं। इस प्रकार मातृभूमि का मातृत्व राष्ट्रवासियों के मन से उत्पन्न होने वाली वस्तु है। यह मानसिक और आत्मिक चीज़ है भौतिक नहीं। जब किसी भूखण्ड को अपनी मातृभूमि समझ कर उस पर रहने वाले प्रजाजन उस के लिये आत्मत्याग करने लगते हैं, सब राष्ट्रवासियों के सामूहिक हित के लिये अपने वैयक्तिक स्वार्थों को छोड़ने लगते हैं और विश्वकर्मा बन कर, भांति-भांति के कर्म करने में निपुण हो कर, राष्ट्रोन्नति के लिये

१. विश्वकर्मा=विश्वकर्माणः। जातावेकवचनम्।
२. भुजिष्यम्=भोजनोपयोगिपदार्थजातम्। भुज्यते इति भुजिः भोजनम्। भुज पालनाभ्यवहारयोः धातोः औणादिकः इसिन् प्रत्ययः। भुजिषे भोजनाय हितं भुजिष्यम्।
३. पात्रम्=पेयपदार्थजातम्। पीयते इति पात्रम्।

विविध प्रकार के कार्य करने लगते हैं, तब इस मातृभूमि में जो भोज्य और पेय पदार्थ छिपे पड़े होते हैं वे राष्ट्रवासियों के उपभोग के लिये प्रकट होने लगते हैं। तब राष्ट्रवासियों को खाने-पीने की और अन्य सब प्रकार के सुख-साधनों की कोई कमी नहीं रहती।

हमारे राष्ट्र के सब लोग अपनी राष्ट्र-भूमि को अपनी माता समझते हैं। उस के लिये सब प्रकार के आत्म-त्याग करने के लिये उद्यत रहते हैं। विभिन्न प्रकार के कर्मों में कुशल हो कर अनेक प्रकार के राष्ट्रोन्नति के कार्य करते हैं। इसलिये उन्हें अपनी इस माता की कोख से अनेक प्रकार के भोज्य और पेय पदार्थ तथा नाना प्रकार की सुख-सामग्री प्राप्त होती है।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि मातृभूमि का मातृत्व राष्ट्रवासियों के मन पर अवलम्बित रहता है। सब राष्ट्रवासियों को अपने भू-खण्ड को अपनी माता समझना चाहिये और उस पर रहने वालों को अपना भाई समझना चाहिये। सब की भलाई और अभ्युदय के लिये सब को अपने वैयक्तिक स्वार्थ छोड़ कर आत्मत्याग करने के लिये उद्यत रहना चाहिये। विविध प्रकार के कर्मों में कौशल प्राप्त कर के राष्ट्रोन्नति के लिये अनेक प्रकार के कार्य करने चाहियें। तभी राष्ट्र उत्कर्ष प्राप्त कर सकेगा। जिस राष्ट्र के लोग इस प्रकार रहते और करते हैं उस के निवासियों के लिये भोज्य और पेय पदार्थों तथा अन्य सब मंगलों की कोई कमी नहीं रहती।

६१

राष्ट्र का सत्यनिष्ठ राजा

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।
यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य॥

अर्थ—हे मातृभूमि! (त्वं) तुम (जनानाम्) मनुष्यों की (आवपनी) बीज बोने की जगह (असि) हो (अदितिः) अविनश्वर रूप वाली हो (कामदुघा) सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली हो (पप्रथाना) विस्तृत परिमाण वाली हो और विस्तृत ख्याति देने वाली हो (ते) तुम्हारी (यत्) जो कुछ (ऊनम्) न्यूनता होती है (ते) तुम्हारी (तत्) उस न्यूनता को (ऋतस्य) सत्य का (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न करने वाला (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक हमारा सम्राट् अथवा परमात्मा (आ पूरयाति) पूरा करता रहे।

हे हमारी मातृभूमि! तेरे ऊपर रहने वाले हम सब मनुष्यों की तू आवपनी है—बीज बोने का स्थान है। तेरे खेतों में हम भांति-भांति के बीज बो कर नाना प्रकार की खेतियें तैयार करते हैं। तेरे ऊपर होने वाली इन खेतियों के द्वारा तुझ पर रहने वाले नर-नारियों और अन्य प्राणियों की जीवन-यात्रा चलती है।

तू अदिति[1] है तू अखण्डित रहने वाली है—अविनश्वर रहने वाली है। तू इस लिये भी अदिति है, अखण्डनीय और अविनश्वर है, कि कोई शत्रु तुझ पर आक्रमण करके तुझे खण्डित नहीं कर सकता, तेरा अंग-भंग नहीं कर सकता, तुझे पराजित नहीं कर सकता और इस प्रकार तेरा विनाश नहीं कर सकता। तू इतनी सुसंगठित है, तेरी शक्ति इतनी प्रचण्ड है, कि कोई शत्रु तुझे आंख उठा कर भी नहीं देख सकता, तुझ पर आक्रमण कर के तुझे खण्डित करने की तो बात ही क्या है। तू इस लिये भी अदिति है, अखण्डनीय और अविनश्वर है, कि तुझ पर रहने वाले हम प्रजाजन तो सब-के-सब काल के वश में हो कर बारी-बारी से मरते रहेंगे और नष्ट होते रहेंगे पर राष्ट्र के रूप में तू प्रलय-काल तक स्थिर बनी रहेगी। प्रजाओं की एक पीढी के पश्चात् दूसरी पीढी आती रहेगी और तेरे राष्ट्र-रूप को स्थिर, अक्षुण्ण रखती रहेगी। इस प्रकार तेरा कभी खण्डन नहीं होगा, कभी नाश नहीं होगा।

तू कामदुघा है। हमारी कामनाओं को पूर्ण करने वाली है। तेरे भौतिक देह से भी हमारी कामनाओं को पूरा करने वाले अनेक प्रकार के पदार्थ हमें प्राप्त होते हैं और तेरे राष्ट्र-रूप में संगठित राजनीतिक शरीर द्वारा भी हमारी अनेक प्रकार की कामनायें पूरी होती हैं। तेरे इन दोनों प्रकार के स्वरूपों द्वारा हमारी जो कामनायें पूरी होती हैं उन की गणना नहीं हो सकती।

तू पप्रथाना है तू बड़ी विस्तृत है और बड़ी विस्तृत ख्याति देने वाली है। तेरा भौतिक रूप भी बड़ा विस्तृत है और तेरे ऊपर हो रहे विभिन्न प्रकार के कार्यों के रूप में भी तू बड़ी विस्तृत है। राष्ट्र के हितार्थ तेरे ऊपर बड़े-बड़े महान् कार्य हो रहे हैं। इन महान् कार्यों के द्वारा तेरे निवासियों का वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, भौतिक, और आध्यात्मिक, सभी दृष्टियों से खूब विस्तार हो रहा है और इस सर्वाङ्गीण विस्तार के कारण उन्हें खूब यश और ख्याति प्राप्त हो रही है।

---

१. अदितिः=अखण्डनीया, अविनाशिनी। अविद्यमाना दितिः खण्डनं नाशो यस्याः सा अदितिः। दितिः खण्डनं नाशः। दो अवखण्डने। अदितिः अदीना। निरु० ४। २२॥ अदीना अखण्डनीया। दो अवखण्डने।

प्रजाओं द्वारा चुना हुआ प्रजापति अर्थात् सम्राट् तुझ पर राज्य करता है। वह सम्राट् प्रजापति है—प्रजाओं की पालना करने वाला है। वह केवलमात्र शासक नहीं है, खाली हुकूमत करने वाला नहीं है। वह तो प्रजापति है—प्रजापालक है। प्रजाओं पर शासन करने की गरज से नहीं, प्रत्युत प्रजाओं की पालना करने के प्रयोजन से वह राजा बना है। राजा या शासक बनने का उस का एकमात्र उद्देश्य यही है।

हमारा वह प्रजापति राजा ऋत का प्रथमजा है—राष्ट्र में सत्य को सब से प्रथम उत्पन्न करने वाला है, राष्ट्र में सत्य का सब से प्रधान प्रवर्तक है। वह सत्य का पूर्णरूप से पालन करता है। उस से असत्य का व्यवहार हो ही नहीं सकता। उस के पूर्णरूप से सत्यनिष्ठ होने का परिणाम यह होता है कि उस के उदाहरण से राष्ट्र में सत्य का प्रवाह चलने लगता है। उस के सत्यनिष्ठ होने के कारण उस के राजकर्मचारी भी सत्यनिष्ठ रहते हैं और राजा और राजकर्मचारियों के सत्य-निष्ठ रहने पर प्रजा भी सत्यनिष्ठ रहने लगती है। क्योंकि—"*यथा राजा तथा प्रजा।*"

हमारा यह प्रजापालक और सत्यनिष्ठ सम्राट् राष्ट्र में जो भी कमी होती है उसे पूरा करता रहता है। वह और उस के राजकर्मचारी राष्ट्रिय जीवन के प्रत्येक पहलू पर सतर्क दृष्टि रखते हैं। राष्ट्रिय जीवन के जिस पहलू में भी कहीं त्रुटि या न्यूनता आने लगती है उस न्यूनता को सम्राट् और उस के राजकर्मचारी झट दूर करने का प्रयत्न करते हैं। राजकर्मचारियों की सत्यनिष्ठा, सत्य के प्रति उन का गहरा प्रेम, उन्हें राष्ट्रिय जीवन की त्रुटियों और न्यूनताओं को ठीक करने में सब से अधिक सहायक होता है। राजकर्मचारियों और प्रजाजनों के असत्य व्यवहार के कारण ही राष्ट्रिय जीवन के विभिन्न अंगों में न्यूनतायें आने लगा करती हैं। राजकर्मचारियों के सत्यनिष्ठ और सतर्क रहने पर राष्ट्रिय जीवन के अंगों में त्रुटि नहीं आ पाती और यदि कहीं कोई त्रुटि कभी आ भी गई तो वह झट दूर कर दी जाती है।

सब संसार की प्रजाओं के पालक प्रजापति परमात्मा भी हे मातृभूमि! तुझ पर कृपा रखते हैं। वे प्रजापति परमात्मा संसार में सब से प्रथम सत्य को उत्पन्न करने वाले हैं। संसार में सब सत्यनियमों के प्रवर्तक वही हैं। उन्हीं से संसार में सत्य की धारा प्रवाहित होती है। वे स्वयं सत्यस्वरूप हैं और संसार में सत्यनियमों को चलाते हैं। उन सत्यस्वरूप प्रभु को सत्य का जीवन बड़ा प्यारा है। हमारे सम्राट् और उस के राजकर्मचारियों के जीवन की, और उन के उदाहरण से प्रजाजनों के जीवन की, सत्यनिष्ठा को देख कर भगवान् उन पर बड़े कृपालु हो

जाते हैं। इस प्रकार कृपालु हो कर वे राजकर्मचारियों और प्रजाओं की असत्य से लड़ने की शक्ति को बढ़ा देते हैं। भगवान् की कृपा से यह शक्ति प्राप्त कर के राजकर्मचारी और प्रजाजन अपने राष्ट्रिय जीवन की न्यूनताओं को शीघ्र और सुगमता से दूर कर लेते हैं। इस प्रकार प्रजापति परमात्मा भी हे मातृभूमि! तेरी न्यूनताओं को पूरा करते रहते हैं।

सम्राट् और परमात्मा दोनों ही प्रजापतियों की कृपा हम पर सदा बनी रहे और हमारे राष्ट्रिय जीवन में उत्पन्न हो जाने वाली न्यूनताओं को वे निरन्तर दूर करते रहें।

मातृभूमि के इस वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र के खेतों में भांति-भांति के बीज बो कर नाना प्रकार की खेतियें उत्पन्न की जानी चाहियें। अपने राष्ट्र को अदिति बना कर रखना चाहिये—ऐसा प्रचण्ड शक्तिशाली बना कर रखना चाहिये कि कोई भी शत्रु उस पर आक्रमण कर के उसे खण्डित करने का साहस न कर सके। अपनी नाना प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के लिये राष्ट्रभूमि में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के पदार्थों का उपयोग लिया जाना चाहिये। राष्ट्र में भांति-भांति के महान् कार्य कर के उसे सब दृष्टियों से विस्तृत और बड़ा बनाना चाहिये। राष्ट्रवासियों को महान् कार्य कर के यशस्वी बनना चाहिये। राजा और राजकर्मचारियों को प्रजापालक और सत्यनिष्ठ बनना चाहिये। सत्यनिष्ठ जीवन बिता कर सत्यस्वरूप भगवान् की कृपा प्राप्त करनी चाहिये और उस से असत्य से लड़ने की शक्ति की याचना करनी चाहिये। इस प्रकार सत्यनिष्ठ और शक्तिसम्पन्न हो कर अपने राष्ट्र की त्रुटियों को दूर करना चाहिये।

६२

हम राज्य को अपना भाग कर रूप में देते रहेंगे

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम॥

अर्थ—(पृथिवि) हे मातृभमि! (ते) तुम्हारे (उपस्थाः[1]) ऊपर रहने वाले लोग (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अनमीवाः) रोग-रहित (अयक्ष्माः) यक्ष्म-रोग-रहित (प्रसूताः) उत्पन्न (सन्तु) होते रहें (नः) हमारी (आयुः) आयु (दीर्घम्) लम्बी हो (प्रतिबुध्यमानाः) ज्ञानवान् बनते हुए (वयम्) हम

१. उपस्थाः=उपस्थायिनः। ऊपर रहने वाले लोग।

(तुभ्यम्) तुम्हारे लिये (बलिहृतः[१]) बलि अर्थात् कर लाने वाले (स्याम) हों।

हे मातृभूमि ! हमारे लिये, हमारे राष्ट्र की जन-संख्या की वृद्धि के लिये, जो लोग उत्पन्न हों और तेरे ऊपर रहने लगें वे सब रोग-रहित रहें। उन्हें यक्ष्मा जैसे, क्षय रोग जैसे, भयङ्कर राजरोग भी कभी न हों और अमीव अर्थात् अन्य प्रकार के छोटे-बड़े रोग भी कभी न हों। तेरे ऊपर रहने वाले सब लोग सदा सब प्रकार से नीरोग और स्वस्थ रहें। और इस प्रकार नीरोग और स्वस्थ रह कर हम सब-के-सब राष्ट्रनिवासी लम्बी आयु प्राप्त करें। हम सब सौ[२] साल की लम्बी आयु तक जीने वाले बनें। ऐसी कृपा हम पर सदा रखना।

उस लम्बे जीवन में हम सदा ज्ञानवान् बनते रहें। सदा कुछ-न-कुछ नये ज्ञान का संग्रह करते रहें। इस प्रकार अपने आप को ज्ञानवान् बनाते हुए ही हम अपना लम्बा जीवन व्यतीत करें।

अपने इस जीवन में हमें केवल-मात्र अपने वैयक्तिक स्वार्थ की चिन्ता न रहे। हमें सामूहिक राष्ट्रिय जीवन के हित-साधन की भी चिन्ता रहे। हम जो कुछ कमायें उस में से कुछ अंश सामूहिक राष्ट्रिय जीवन के हित-साधन के लिये अपने राज्य को कर के रूप में भी देते रहें। हमारे राष्ट्र की राज्य-व्यवस्था समय-समय पर राष्ट्र-हित की दृष्टि से हमारी आय पर जो कर निश्चित करे उसे हम प्रसन्नता-पूर्वक और पूर्णरूप में हे मातृभूमि ! तुम्हारे लिये लाते रहें—तुम्हारे राज्य-प्रबन्ध को प्रदान करते रहें। इस में हम कभी शिथिलता और त्रुटि न करें।

मातृभूमि से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राज्य की व्यवस्था ऐसी सुन्दर होनी चाहिये कि उस के निवासियों में कभी किसी प्रकार का रोग न हो, वे पूर्ण स्वस्थ रहें और सौ साल की लम्बी आयु प्राप्त कर सकें। प्रत्येक प्रजाजन को सारी आयु-भर प्रति दिन कुछ-न-कुछ नया ज्ञान सीखते रहना चाहिये। सब राष्ट्रवासियों को अपनी आय का राज्य द्वारा निर्धारित अंश कर-रूप में नियमित रूप से राज्य को देते रहना चाहिये।

१. बलिः=करः। प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। रघुवंशे कालिदासः। A tax, tribute, import. (आप्टेकोश])।

२. वेद में और वैदिक साहित्य में अन्यत्र आयु की मर्यादा सौ साल की ही बांधी गई है। कम-से-कम सौ साल तो हर किसी को जीना ही चाहिये। यदि हम सौ साल से पहले मर जाते हैं तो वह हमारे वैयक्तिक, सामाजिक और राज-नीतिक जीवन के पापों और अपराधों के कारण ही होता है।

६३

ज्ञान के प्रकाश में रहने वाले शोभाशाली राष्ट्रवासी

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥

अर्थ—(मातः) हे माता (भूमे) भूमि ! (भद्रया) मङ्गलकारक रीति से (सुप्रतिष्ठितम्) सुप्रतिष्ठित बना कर (मा) मुझ को (निधेहि) तू रख (दिवा[1]) प्रकाश के साथ (संविदाना) मिली हुई (कवे[2]) हे गतिशीले अथवा ज्ञानवति ! तू (मा) मुझ को (श्रियाम्) शोभा में और (भूत्याम्) ऐश्वर्य में (धेहि) धारण कर अर्थात् रख ।

हे मेरी मातृभूमि ! तू मुझे अपने ऊपर सुप्रतिष्ठित बना कर रखना । मैं सब दृष्टियों से दृढ़ और पक्के आधार वाला हो कर तेरे ऊपर रहूं । सब प्रकार से मेरी स्थिति दृढ़ और मजबूत रहे । किसी प्रकार के अभाव के कारण मेरी स्थिति कमजोर और विचलित न होने पावे । अपनी स्थिति को दृढ़ रखने के लिये मेरा आचरण सदा भद्र रहे—उत्तम, श्रेष्ठ, रहे । अपने उत्तम आचरण के कारण मेरी स्थिति भी सब तरह से मजबूत रहे और मैं प्रतिष्ठावान् अर्थात् यशस्वी भी बना रहूं ।

हे मेरी मातृभूमि ! तू सदा प्रकाश से संयुक्त रहना । अपने निवासियों को सदा ज्ञान के प्रकाश से युक्त रखना । अज्ञानान्धकार हम राष्ट्रवासियों के जीवन में मत आने देना । इस प्रकाश के साथ मिल कर तू ज्ञानवती तो बनी ही रहना, साथ ही तू गतिशील भी रहना—चेष्टाशील और उद्योगशील भी रहना । अपने सब निवासियों को ज्ञानवान् बनाने के साथ-साथ उन्हें परिश्रमी और उद्यमी भी बना कर रखना । और इस ज्ञान के प्रकाश और उद्यमशीलता के गुण के द्वारा हमें सब सब प्रकार की शोभा में और सब प्रकार के ऐश्वर्य में रखना । हमारे जीवन में सब प्रकार की सुन्दरता और हमें सब कार का धन-वैभव प्रदान करती रहना ।

---

१. दिवा=प्रकाशेन, ज्ञानप्रकाशेन । द्यौः=सूर्यः, प्रकाशः, दिनम्, ज्ञानम् ।

२. कविः=ज्ञानवान् । कविः क्रान्तदर्शनो भवति । निरु० १२ । १३ ॥ कविः गतिशीलः, चेष्टाशीलः, परिश्रमी, उद्यमी । कु गतौ । कवतिः गतिकर्मा । निघं०२।१४॥ राष्ट्रनिवासियों के साथ अभेद-बुद्धि से मातृभूमि को कवि कह दिया गया है । असल में तो कवि राष्ट्र-निवासी प्रजाजन ही होंगे ।

यह कृपा मुझ पर और मेरे साथी राष्ट्रवासियों पर सदा करती रहना।

मातृभूमि से की गई इस प्रार्थना द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र-निवासियों को अपना आचरण भद्र रखना चाहिये--निर्दोष और पवित्र रखना चाहिये। तभी उन्हें प्रतिष्ठा अर्थात स्थिति की दृढ़ता और कीर्ति प्राप्त हो सकेगी। राष्ट्रवासियों की स्थिति को सब प्रकार से दृढ़ बनाने के लिये राज्य को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। राष्ट्रवासियों को भांति-भांति के ज्ञान के प्रकाश से युक्त रहना चाहिये। साथ ही उन्हें गतिशील, परिश्रमी और उद्यमी भी बनना चाहिये। तभी उन्हें सब प्रकार के ऐश्वर्य और शोभायें प्राप्त हो सकेंगी। जिस राष्ट्र के लोगों में ज्ञान का दिन का सा प्रकाश और परिश्रम का गुण रहता है वही राष्ट्र उन्नति कर सकता है। अज्ञानान्धकार में पड़ा रहने वाला और उद्यमहीन राष्ट्र नहीं[१]।

---

१. इस मन्त्र के 'संविदाना दिवा कवे' इस वाक्य से ज्योतिष-शास्त्र-विषयक अर्थ की प्रतीति भी होती है। उस अर्थ में इस वाक्य का शब्दार्थ इस प्रकार होगा—(कवे) हे गतिशील भूमि ! तुम (दिवा) सूर्य के साथ (संविदाना) मिलने की इच्छा वाली हो। अर्थात् तुम सूर्य से मिलने की इच्छा से उसके चारों ओर चक्कर काटती हो। तात्पर्य यह है कि पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण करती है।

★

मन्त्रानुक्रमणिका

(अथर्ववेद, काण्ड १२, सूक्त १)

★

वैदिक-साहित्य के प्रेमियों के लिये

श्री आचार्य प्रियव्रत जी द्वारा लिखित दो अनूठी पुस्तकें

वेदोद्यान के चुने हुए फूल

लेखक—आचार्य श्री प्रियव्रत वेदवाचस्पति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार। मूल्य सजिल्द ५) रुपये। प्रकाशक—प्रकाशन मन्दिर, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय। पृष्ठ-संख्या २५३।

चुनी हुई सम्मतियां

गुरुकुल-स्वाध्याय-मंजरी का यह २३ वां पुष्प है। जैसा कि विद्वान् लेखक ने पुस्तक के प्रारम्भ में ही श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के सदस्यों की सेवा में निवेदन किया है: 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' में भिन्न-भिन्न विषयों से सम्बन्ध रखने वाले कुछ महत्वपूर्ण वेद-मन्त्रों और सूक्तों का संग्रह किया गया है। इन में से एक-एक मन्त्र निराला उपदेश देने वाला है। एक-एक मन्त्र और उस के एक-एक शब्द में हमारे जीवन को महान् बना देने की शक्ति है।

इस के बाद आचार्य प्रियव्रत ने जो २२ पृष्ठों की विचारोत्तेजक भूमिका लिखी है उस में यह स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है कि स्वतन्त्र भारत के विकास की दो दिशायें हो सकती हैं और उसे पाश्चात्य जगत् की आधुनिक भौतिकवादी, मशीन-प्रधान सभ्यता का अनुकरण न कर अपनी अध्यात्मवादी भारतीय संस्कृति के आधार पर ही अपने को विकसित करना चाहिये। और अपने इस विचार को उन्होंने वैदिक संस्कृति की महानता को सिद्ध करते हुए बल प्रदान किया है। मन्त्रों के स्वाध्याय की रीति भी उन्होंने दी है। फिर पुस्तक वेद-खण्ड, ईश्वर-खण्ड, सृष्टि-खण्ड, उपासना-खण्ड, स्वास्थ्य और जीवन-शक्ति-खण्ड, ब्रह्मचर्य-खण्ड, गृहस्थ-खण्ड, राष्ट्रनिर्माण-खण्ड, विविध-खण्ड, इत्यादि, ६ खण्डों में विभक्त है और प्रत्येक खण्ड में विद्वान लेखक ने वेदों के मूल उद्धरण को दे कर उन का अर्थ दिया है और उन के तात्पर्य को बड़े भावपूर्ण ढंग से समझाया है। उदाहरणार्थ, राष्ट्र-निर्माण-खण्ड में उन्होंने मातृभूमि का मातृभूमित्व, राष्ट्र के निर्माता ऋषि, राष्ट्र की गाड़ी में कैसे बैल जोड़ेंगे, एक हृदय, एक मन और एक भोजन, ऐश्वर्य और अभ्युदय का मूलमन्त्र, राज्य व्यापार-व्यवसाय को प्रोत्साहन दे, हमारे समाज में कोई किसी का शत्रु न रहे, अभ्युदय की राष्ट्रिय प्रार्थना, इत्यादि, ८ विचारों को वैदिक उद्धरणों के आधार पर सुन्दर रूप से समझाया है।

स्वास्थ्य और जीवन-शक्ति-खण्ड भी स्वास्थ्य को ठीक रखने के सुन्दरतम

उद्धरणों से भरा पड़ा है। इस खण्ड में एक मन्त्र निम्न प्रकार है—

स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ अथर्व० २। ११। २

अर्थात्, मनुष्य में नई रचनायें करने की शक्ति है, आगे बढ़ने का बल है, आक्रमण को रोकने की शक्ति है। उसे अपने आप को किसी बात में हीन नहीं समझना चाहिये।

मानव को निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा देने वाले यह वेदोद्यान के चुने हुए फूल आज आगे को अग्रसर होने के लिये प्रयत्नशील भारत के वास्ते कितने प्रेरणावान् हैं, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

संक्षेप में, संपूर्ण पुस्तक ऐसे चुने हुए फूलों से ओत-प्रोत है और कहा जा सकता है कि इस पुस्तक का शीर्षक "वेदोद्यान के चुने हुए फूल" से अधिक सुन्दर शायद नहीं हो सकता था। पुस्तक में आचार्य प्रियव्रत के गम्भीर अध्ययन और वेदों के उन के गहरे पांडित्य की स्पष्ट झलक मिलती है और निश्चय ही ऐसी रचना प्रकाशित कर उन्होंने नव-निर्माण में रत भारत की गहरी सेवा की है। वास्तव में यह एक ऐसी रचना है जो अधिक से अधिक पढ़ी जानी चाहिये और हम को यह देख कर थोड़ा सा दुःख ही हुआ कि इस सुन्दर पुस्तक का प्रथम आवर्तन केवल १००० ही हुआ। स्पष्ट है कि अभी हिन्दी के पाठक पुस्तकों को खरीद कर पढ़ने से गुरेज करते हैं, और जितनी जल्दी यह प्रवृत्ति समाप्त हो और हिन्दी के प्रकाशनों को खरीद कर लोग पढ़ने लगें, उतना ही राष्ट्र-भाषा हिन्दी के हित में अच्छा है। एक बात और। बहुधा यह कहा जाता है कि हिन्दी में ऐसी मूल रचनायें अब लिखी जानी चाहियें ताकि जिज्ञासु लोग अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिये मूल हिन्दी रचनाओं को पढ़ने पर बाध्य हों और उस के लिये हिन्दी सीखें। कहा जा सकता है कि आचार्य प्रियव्रत जी की यह पुस्तक ऐसी ही उच्च कोटि की है। अतः हम पुनः विद्वान् लेखक को उन के घोर परिश्रम के लिये हृदय से बधाई देना चाहेंगे। —आर्थिक समीक्षा,

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, दिल्ली।

❀

मन्त्रों के अर्थ एक उच्च नैतिक स्तर से किये गये हैं। इन का पाठ और मनन नैतिक भावनाओं को जागृत करने में सहायक होगा।

—साहित्य सन्देश, आगरा।

इस ग्रन्थ की बड़ी विस्तृत भूमिका विशेष मनन के साथ पढ़ने योग्य है। इस भूमिका में स्वतन्त्र भारत और उस के विकास के सम्बन्ध में लिख कर इस विकास के लिये वेद ही सहायक हो सकता है ऐसा बताया है। क्या भारत पाश्चात्यों का अनुकरण करेगा इस पर लिखे विचार बड़े मननीय हैं। यूरोप की भौतिक संस्कृति से जो भय होता है वह बता कर भारत की आध्यात्मिक संस्कृति कैसी उत्तम है यह सप्रमाण सिद्ध किया है।

भारतीय संस्कृति का स्रोत वेद है, वेद की प्रतिष्ठा भारतीय परंपरा में है, यह बता कर मानवमात्र का धर्म वेद ही है यह उत्तम रीति से सिद्ध किया है।

आगे वेद-उद्यान के चुने हुए फूल हैं। इन की अनेक मालायें बना कर पाठकों के सामने रखी हैं। नौ मालाओं में यह सब फूल बंटे हैं। मन्त्र, मन्त्र का पदार्थ और विवरण इस तरह यह सुबोध पद्धति से मन्त्रों का भाव समझाने वाली अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है। जो पाठक वेद के मंत्रों का मर्म समझने की इच्छा करते हैं, वे इस पुस्तक का अवश्य संग्रह करें। हर एक वेदप्रेमी श्री आचार्य प्रियव्रत जी की इस पुस्तक का निर्माण करने के लिये हार्दिक प्रशंसा ही करेगा।

—वैदिकधर्म, सूरत।

❀

लेखक ने अपनी इस पुस्तक में बहुत से संगीतमय और महत्वपूर्ण वेदमन्त्रों का संग्रह किया है जिन की भाषा जितनी सरल और स्पष्ट है उन का अर्थ भी उतना ही सरल और स्पष्ट है। ... वेदोद्यान के चुने हुए फूल पुस्तक में वेदमन्त्रों का जो संग्रह किया गया है उन से भारतीय विचार और भावनाओं की महानता का एक स्पष्ट आभास प्राप्त होता है।

—अजन्ता, हैदराबाद।

❀

संकलित सूक्तों और मंत्रों के संकलन और व्याख्यान में मनीषी लेखक की परिचयचारुता और वैदिक साहित्य पर उन की विद्वत्ता का परिचय मिलता है। जीवन-निर्माण, राष्ट्र-निर्माण और परलोक-साधन सभी उपयोगी विषयों की कृतकार्यता इस संकलन में है। निःसंदेह इन चुने हुए वेद-मंत्रों का अनुशीलन करने, तदनुसार जीवन को ढालने की कोशिश करने पर जिज्ञासु पाठक वैदिक साहित्य और जीवन का अभिप्राय समझ कर तत्त्वदर्शन कर सकेगा ऐसा हमारा विश्वास है।

—सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग।

❀

संदेह नहीं कि इन मन्त्रों और सूक्तों के दिये हुए अर्थों को समझते हुए

यदि हम अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करें तो यह संसार हमारे लिये स्वर्गोपम हो सकता है। —सरस्वती, प्रयाग।

❀

ग्रन्थ वेद-स्वाध्यायशील व्यक्तियों के लिये तो ऐसा सुन्दर उपहार है ही जो उन्हें आत्मिक प्रेरणा प्रदान करेगा तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उचित दिशा-निर्देशन करेगा, साथ ही यह भारतीय संस्कृति के प्रत्येक उपासक व अध्येता के लिये वेदों के वास्तविक, सात्विक तथा निर्मल स्वरूप की झांकी भी प्रदान करेगा। मन्त्रों की व्याख्या निःसन्देह अत्यन्त मनोरम, प्रौढ़, प्रांजल एवं मननीय है। वेदों के रमणीय उद्यान के ये चुने हुए पुष्प निश्चय ही जीवन को सुवासित करेंगे।

—सविता, अजमेर।

❀

संग्रह अच्छा है और मन्त्रों का भाव भी प्रायः बहुत अच्छे ढंग से समझाया गया है। —सम्पूर्णानन्द, मुख्यमन्त्री, उत्तरप्रदेश।

❀

"वेदोद्यान के चुने हुए फूल" देख कर जी बाग-बाग हो गया। पुस्तक बहुत सुन्दर है। —गंगाप्रसाद उपाध्याय, प्रयाग।

❀

मन्त्रों के चुनाव में मानवीय कल्याण और वैदिक अध्यात्म-चेतना का बराबर ध्यान रखा गया है। संग्रह बहुत उपादेय बन पड़ा है।

—वासुदेवशरण अग्रवाल, बनारस।

❀

ईश्वर-भक्ति और वैदिक उदात्त भावनाओं से परिप्लुत इस महत्व के ग्रन्थ को प्रस्तुत करने के लिये हम आचार्य जी को हृदय से बधाई देते हैं।

—मंगलदेव शास्त्री, वैदिक स्वाध्याय मन्दिर, बनारस कैंण्ट।

❀

दैनिक स्वाध्याय की दृष्टि से आप के लिखे ग्रन्थ का बहुत ऊंचा स्थान है। भूमिका ने ग्रन्थ की उपयोगिता को और भी अधिक बढ़ा दिया है।...प्रत्येक आर्य घराने में ऐसे ग्रन्थों का रहना अत्यन्त आवश्यक है।

—इन्द्र विद्यावाचस्पति, सदस्य भारतीय विधान-परिषद्।

❀

भूमिका सारगर्भित है। पुस्तक की आत्मा भूमिका में प्रतिबिम्बित हुई है। लेखशैली ओजभरी, सरल तथा हृदयग्राहिणी है। —विश्वनाथ विद्यालङ्कार

देहरादून।

वरुण की नौका

कर्मफल, पुण्य, पाप, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की इस पुस्तक में मीमांसा है। राजा वरुण-प्रभु की आंखे सब जगह पर हैं। कर्मफल-विज्ञान के जिज्ञासुओं के लिये यह पुस्तक एक वरदान है। लेखक ने अत्यन्त सरल भाषा मे सच्चे सुख का सच्चा उपाय इस में बताया है। प्रभु की कृपा किस पर होती है और कैसे कर्म कर के हम प्रभु के प्यारे हो सकते हैं इत्यादि विषय पुस्तक में दार्शनिक गहराइयों के साथ सरल रूप में वर्णित हैं। मूल्य प्रथम भाग ३), द्वितीय भाग ३)।

चुनी हुई सम्मतियां

यह पुस्तक अत्यन्त खोजपूर्ण है, कई नई महत्त्वपूर्ण बातें इस में हैं। अतः यह पुस्तक वेदान्वेषण के कार्य की अपने क्षेत्र में पूर्ति करने वाली है। गुरुकुल विश्वविद्यालय ने इसे प्रकाशित कर के बड़ा अच्छा कार्य किया है। मुझे पूर्ण आशा है कि इसी तरह के खोजपूर्ण वैदिक ग्रन्थ गुरुकुल से प्रकाशित होते रहेंगे और वैदिक ज्ञान के गम्भीर सन्देश जनता तक पहुँचाते रहेंगे।

—श्रीपाद. दा. सातवलेकर

सञ्चालक, स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, सूरत।

वरुण-सूक्तों पर एक नये दृष्टिकोण से लेखक ने विचार किया है। लेखक का दृष्टिकोण आध्यात्मिक है। वरुण के सम्बन्ध में अब तक के उलझे हुए विचारों से ऊपर उठ कर आध्यात्मिक दृष्टि से वरुण देवता के स्वरूप पर विचार करने के लिये लेखक बधाई के पात्र हैं। —वासुदेवशरण अग्रवाल

हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस।

पुस्तक बहुत सुन्दर है। वैदिक साहित्य के जिज्ञासुओं को इस से लाभ होगा। इस सुन्दर पुस्तक के प्रकाशन के लिये आप को बधाई देता हूँ।

—क्षितिमोहन सेन

आचार्य, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

"वरुण की नौका" को मैंने बहुत प्रेम से आदि से अन्त तक पढ़ा है। एक तो वैदिक साहित्य से प्रेम है, दूसरे वैदिक मन्त्रों में जो भक्ति का ईश्वर के प्रति अपूर्व प्रदर्शन-प्रकार है उस पर चित्त मुग्ध है, इस कारण मैंने इस पुस्तक को बहुत उत्सुकता से देखा है और नित्य स्वाध्याय में भी इस के स्थल पढ़ा करता हूँ। मित्रों को भी सुनाता हूँ। वेदवाचस्पति श्री पं० प्रियव्रत जी की विद्वान् लेखनी से वेदमन्त्र का कोई रहस्य छूट नहीं पाया है। यह अपने ढङ्ग का एक अनुकरणीय मनन है। वेद के प्रेमी ईश्वर-भक्तों को इस "वरुण-नौका" की भक्तिरस-धारा का अवगाहन करना चाहिये। —जयदेव विद्यालङ्कार
चतुर्वेद-भाष्यकार, अजमेर।

❀

गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति की लिखी "वरुण की नौका" नामक पुस्तक को देख कर मुझे आनन्द हुआ। इस पुस्तक में ऋग्वेद के छः वरुण सूक्तों की उत्तम व्याख्या है। श्री पं० प्रियव्रत जी वेदों के विद्वान् हैं, गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक हैं, वे बहुत वर्षों से वरुण के सूक्तों का विशेषतया मनन करते रहे हैं। मुझे आशा है कि उन की लिखी यह पुस्तक स्वाध्यायशील आर्य-पुरुषों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगी, विशेषतः उन में प्रभु-भक्ति उत्पन्न करने में बहुत सहायक होगी। —अभय विद्यालङ्कार
भू० पू० आचार्य, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय।

❀

I have gone through the book and I am glad to say that you have brought out the significance of "Varun" very well. —A. B. Purani
-- श्री अरविन्द आश्रम, पांडीचेरी।

❀

आप का यह व्याख्यान सुसंगत तथा भावपूर्ण है। ऐसी सुन्दर आध्यात्मिक व्याख्या के लिये मैं आप को बधाई देता हूँ। प्रत्येक भगवद्भक्त के पास प्रात:काल के स्वाध्याय के लिये यह पुस्तक होनी चाहिये। —आत्मानन्द सरस्वती
आचार्य, दयानन्द उपदेशक विद्यालय, यमुनानगर, अम्बाला।

❀

वैदिक संहिताओं में वरुण देवता के सूक्त उत्कृष्टता, उच्च भक्ति-भावना, नैतिकता तथा विचारगाम्भीर्य के लिये प्रसिद्ध हैं। ग्रन्थकार ने उन्हीं सूक्तों को

एकत्र कर के उन पर जो सुन्दर व्याख्या की है वह विद्वत्ता से पूर्ण होने के साथ-साथ साधारण जनता के लिये भी सुगम और रोचक सिद्ध होगी। जनता में वैदिक स्वाध्याय के द्वारा वैदिक उदात्त भावनाओं के प्रचार में पुस्तक अवश्य सहायक होगी। —मङ्गलदेव शास्त्री, एम. ए., डी. फिल्.
प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस।

❀

"वरुण की नौका" नामक पुस्तक मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ी है। वेद के कतिपय वरुण-सूक्तों की व्याख्या इस पुस्तक में बहुत सुन्दर रूप में हुई है। दृष्टि यह रखी गई है कि मन्त्रों में गम्भीरतम भाव भी सर्वसाधारण को समझ में आ सकें। मन्त्रों के प्रतिपद के भावों को भी खोल कर दर्शा दिया गया है। मन्त्रों की परस्पर संगति के दर्शाने में भी लेखक बहुत सफल हुए हैं। वेद-भक्तों को इस पुस्तक का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। यह पुस्तक आर्य-साहित्य में ऊंचा स्थान रखती है। —विश्वनाथ विद्यालङ्कार
भू० पू० वेदोपाध्याय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय।

❀

"वरुण की नौका" में बैठ कर मैंने ऋग्-उदधि के कई स्थानों का विहार किया और मुझे बड़ा आनन्द मिला। वेद-भक्तों के लिये "वरुण की नौका" बड़े काम की वस्तु है। स्वाध्याय के लिये ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता है जिस से साधारण से साधारण व्यक्ति सरल भाषार्थ द्वारा वेदों के तत्व को बिना विशेष प्रयास के ही जान सके। इस में कई प्रकरण तो इतने भावपूर्ण हैं कि भक्तिप्रवण व्यक्ति तल्लीन हो कर एक बार तो संसार की चिन्ताओं को भूल जाता है, चाहे स्वल्प समय के लिये ही क्यों न हो। प्रत्येक वेदाध्यायी स्वाध्यायी को दृढाध्यवसायी रह कर प्रतिदिन नियमपूर्वक ऐसे सूक्तों का स्वाध्याय करते रहना चाहिये। वेद-विषय में इस परिश्रम के निमित्त श्री प्रियव्रत जी के लिये अनेक साधुवाद।
—नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ, महाविद्यालय, ज्वालापुर।

❀

इस उत्तम पुस्तक में ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के वरुण सूक्तों की सरल, रोचक, शिक्षाप्रद तथा भक्ति-भाव-वर्धक व्याख्या की गई है। इस को पढ़ कर शुष्क-हृदय भी ईश्वर-प्रेम की उच्च भावना के मधुर रस का आस्वादन कर के द्रवीभूत हो सकते हैं। वेद-मन्त्र कितनी रसीली चीज़ हैं इस बात का प्रतिपादन इस पुस्तक से होता है। संसार-सागर को तैर कर परम-धाम तक पहुंचने के उत्सुक जीवों को

लिये "वरुण की नौका" एक उत्तम साधन है। आचार्य प्रियव्रत जी की लेखन-शैली बड़ी चित्ताकर्षक है। ईश्वर-प्रेमियों के लिये श्री आचार्य जी ने जो सामग्री सम्पादित की है उस के लिये वह हम सब के धन्यवाद के पात्र हैं। —गङ्गाप्रसाद उपाध्याय।

❀

विद्वान् लेखक ने वरुण-सम्बन्धी अनेक सूक्तों का समन्वय करते हुए युक्ति-संगत भाष्य किया है, "वरुण की नौका" पुस्तक आर्यसाहित्य में अभिरुचि रखने वाले व्यक्तियों के लिये विशेष काम की है। —सत्यप्रकाश डी. एस-सी.
रसायन विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग।

❀

पं० प्रियव्रत जी आर्यसमाज के उन थोड़े से विद्वानों में से हैं, जिन्होंने वेदों का बहुत गहन अध्ययन किया है। "वरुण की नौका" में व्याख्या विस्तृत और विशद है। यह स्वाध्याय के लिये अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है
—इन्द्र विद्यावाचस्पति।

❀

प्रत्येक ईश्वर-भक्त स्वाध्यायप्रेमी को इस की एक प्रति मंगवा कर और उस का प्रतिदिन स्वाध्याय कर के आध्यात्मिक लाभ उठाना चाहिये। भाषा इतनी सरल और शैली इतनी उत्तम है कि उस का चित्त पर विशेष प्रभाव हुए विना नहीं रह सकता। —सार्वदेशिक, दिल्ली।

❀

आचार्य प्रियव्रत जी ने इस पुस्तक को लिख कर स्वाध्यायशील वैदिक साहित्य-प्रेमियों का वस्तुतः विशेष हित-साधन किया है। हम आशा करते हैं कि वैदिक-साहित्य के प्रेमीजन इसे अपनायेंगे। —आर्यमित्र, लखनऊ।

❀

पुस्तक इतनी सरल और सरस भाषा में लिखी गई है कि पढ़ने वाला चमत्कारित होने के साथ-साथ भक्ति-रस में परिप्लावित हो आनन्द-विभोर हो जाता है। आचार्य जी वैदिक सागर के जहां सफल गोताखोर हैं, वहां वैदिकी [illegible] के प्रबल प्रवाह में से चुन-चुन कर काम की चीज़ निकालने वाले सफल तैराक भी हैं। इतना ही नहीं वे समय पड़ने पर अपने परिश्रम के फलों को नौका पर लाद कर तीर पर खड़ी श्रद्धालु जनता को धर्मधन के रूप में खड़े लुटा देने वाले भी हैं। —आर्यमार्तण्ड, अजमेर।

★